एम.ए. पूर्वार्द्ध
राजनीति विज्ञान, द्वितीय प्रश्नपत्र

भारतीय सरकार और राजनीति

(INDIAN GOVERNMENT AND POLITICS)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

4. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College,
   Bhopal (M.P.)

6. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr. Arun Kumar Gupta, Associate Professor, Deptt. of Political Science, K.G.K. College, Moradabad
Units: (1.0-1.1, 1.2, 1.4-1.8, 2.0-2.2, 2.3, 2.4, 2.5-2.9, 3.0-3.1, 3.2-3.3, 3.7-3.11, 4.0-4.1, 4.2-4.4, 4.5-4.9, 5.0-5.1, 5.2, 5.3, 5.4-5.8)

Dr. Nutan Singh, Associate Professor, Department of Political Science, GDM Girls PG Degree College, Modinagar
Units: (1.3, 3.4-3.6)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारतीय सरकार और राजनीति

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 संविधान सभा की रचना और कार्य; भारतीय संविधान का वैचारिक आधार – प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक तत्व	**इकाई 1** : संविधान सभा की पृष्ठभूमि और वैचारिक आधार **(पृष्ठ 3–53)**
इकाई–2 सामाजिक परिवर्तन के रूप में संविधान : संशोधन प्रक्रिया; संघवाद और केन्द्र–राज्य संबंध के संदर्भ में इसके कार्य – संघवाद का सैद्धांतिक स्वरूप : संघात्मक लक्षण, संघवाद का व्यावहारिक स्वरूप : एकात्मक लक्षण, केंद्र–राज्य संबंध और उसके कार्य; राज्य स्वायत्तता की मांग	**इकाई 2** : संविधान संशोधन प्रक्रिया एवं संघवाद : केंद्र–राज्य संबंध एवं राज्य स्वायत्तता **(पृष्ठ 55–76)**
इकाई–3 राष्ट्रपति; प्रधानमंत्री; मंत्रिपरिषद तथा संसद; सर्वोच्च न्यायालय और संवैधानिक प्रक्रिया; न्यायिक सक्रियता	**इकाई 3** : संघीय सरकार और सर्वोच्च न्यायालय **(पृष्ठ 77–168)**
इकाई–4 राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों की प्रकृति; दबाव समूह; जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाषा का प्रभाव – जाति, धर्म, क्षेत्रवाद, भाषा	**इकाई 4** : दलीय प्रणाली, राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दल, दबाव समूह एवं जाति, धर्म तथा भाषा का प्रभाव **(पृष्ठ 169–212)**
इकाई–5 राज्य की राजनीति के अध्ययन हेतु सैद्धांतिक ढांचा; पंचायती राज्य व्यवस्था और राज्य की राजनीति पर इसका प्रभाव	**इकाई 5** : राज्य की राजनीति का सैद्धांतिक ढांचा एवं पंचायती राज्य व्यवस्था **(पृष्ठ 213–256)**

विषय–सूची

परिचय 1–2

इकाई 1 संविधान सभा की पृष्ठभूमि और वैचारिक आधार 3–53

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 संविधान सभा की रचना और कार्य
1.3 भारतीय संविधान का वैचारिक आधार
1.3.1 प्रस्तावना
1.3.2 मौलिक अधिकार और राज्य के नीति–निर्देशक तत्व
1.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.5 सारांश
1.6 मुख्य शब्दावली
1.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 संविधान संशोधन प्रक्रिया एवं संघवाद : केंद्र–राज्य संबंध एवं राज्य स्वायत्तता 55–76

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 सामाजिक परिवर्तन के रूप में संविधान : संशोधन प्रक्रिया
2.3 संघवाद और केन्द्र–राज्य संबंध के संदर्भ में इसके कार्य
2.3.1 संघवाद का सैद्धांतिक स्वरूप : संघात्मक लक्षण
2.3.2 संघवाद का व्यावहारिक स्वरूप : एकात्मक लक्षण
2.3.3 केंद्र–राज्य संबंध और उसके कार्य
2.4 राज्य स्वायत्तता की मांग
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 संघीय सरकार और सर्वोच्च न्यायालय 77–168

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 राष्ट्रपति
3.3 प्रधानमंत्री
3.4 मंत्रिपरिषद और संसद
3.5 सर्वोच्च न्यायालय और संवैधानिक प्रक्रिया
3.6 न्यायिक सक्रियता
3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

3.8 सारांश
3.9 मुख्य शब्दावली
3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 दलीय प्रणाली, राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दल, दबाव समूह एवं जाति, धर्म तथा भाषा का प्रभाव **169–212**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों की प्रकृति
4.3 दबाव समूह
4.4 जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाषा का प्रभाव
4.4.1 जाति
4.4.2 धर्म
4.4.3 क्षेत्रवाद
4.4.4 भाषा
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 राज्य की राजनीति का सैद्धांतिक ढांचा एवं पंचायती राज्य व्यवस्था **213–256**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 राज्य की राजनीति के अध्ययन हेतु सैद्धांतिक ढांचा
5.3 पंचायती राज्य व्यवस्था और राज्य की राजनीति पर इसका प्रभाव
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय सरकार और राजनीति' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धरित एम.ए. राजनीतिक शास्त्र (पूर्वार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

राजनीति मुख्यतः उन सिद्धांतों का मेल है, जिनके इर्द–गिर्द इसका और तत्संदर्भित संस्थानों का विकास होता है। राजनीतिक प्रणाली में वे तरीके मुख्यतः शामिल होते हैं जिनके अंतर्गत शासक चुने जाते हैं या निर्वाचित होते हैं, सरकारों का निर्माण होता है तथा राजनीतिक निर्णय लिए जाते हैं। वस्तुतः व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राजनीतिक प्रणाली की संरचना हुई है।

किसी भी देश का संविधान राजनीतिक व्यवस्था के आधारभूत ढांचे को स्थापित करता है। संविधान विभिन्न अंगों– विधानमंडल, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की स्थापना के साथ–साथ उनकी शक्तियों, जिम्मेदारियों एवं उनके एक–दूसरे के साथ संबंधों का विनियमन करता है। भारत एक विशाल देश है। यहां के संविधान में लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद की धारणा को अपनाया गया है। लोकतंत्र की वास्तविक क्रियान्विति तभी संपूर्ण मानी जाती है जब शासन के सभी स्तरों पर लोगों की भागीदारी हो। आज भारत में 18 साल का हर नागरिक भारतीय राजनीति एवं सरकारों के चयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, क्योंकि सरकार का चुनाव करने की शक्ति मताधिकार के रूप में उसे प्राप्त है।

पुस्तक में प्रत्येक इकाई के आरंभ में विषय–विश्लेषण से पूर्व, उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' स्तंभ के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। इस पुस्तक में भारतीय सरकार और राजनीति से संदर्भित अहम विषयों का सांगोपांग समायोजन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए पुस्तक में पांच इकाइयों को समायोजित किया गया है–

पहली इकाई के अंतर्गत संविधान सभा की रचना, कार्य, उसके वैचारिक आधार तथा मौलिक अधिकार और राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों का वर्णन किया गया है।

दूसरी इकाई में संविधान संशोधन प्रक्रिया तथा संघवाद और केंद्र–राज्य के संदर्भ में इसके संबंधों की विवेचना की गई है।

तीसरी इकाई में भारत के सर्वोच्च राजनयिक पद राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा संसदीय व्यवस्था को विस्तार से समझाया गया है।

चौथी इकाई में राजनीतिक दल एवं दबाब समूह तथा जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाषा के प्रभाव का आकलन किया गया है।

पांचवीं इकाई राज्य की राजनीति का सैद्धांतिक ढांचा एवं पंचायती राज्य व्यवस्था का विश्लेषण करती है।

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय सरकार और राजनीति विषय को सरल भाषा में रुचिकर बनाकर लिखा गया है, जिससे विद्यार्थी सभी पहलुओं को समझने में सक्षम हो पाएं। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए भारत की लोकतांत्रिक प्रक्रिया एवं नागरिक अधिकारों एवं दायित्वों को समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

इकाई 1 संविधान सभा की पृष्ठभूमि और वैचारिक आधार

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 संविधान सभा की रचना और कार्य
1.3 भारतीय संविधान का वैचारिक आधार
  1.3.1 प्रस्तावना
  1.3.2 मौलिक अधिकार और राज्य के नीति–निर्देशक तत्व
1.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.5 सारांश
1.6 मुख्य शब्दावली
1.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

16 वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरमोत्कर्ष पर था और भारत की इस समृद्धि के आकर्षण ने ही भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना की। 1857 से 1947 के बीच की अवधि राष्ट्रीय आंदोलन की अवधि थी जिसमें भारत को स्वतंत्र कराने के संघर्षपूर्ण गाथा लिखी गई।

संविधान किसी देश द्वारा प्राप्त किए जाने वाले आदर्शों और लक्ष्यों से परिपूर्ण होता है तथा उसके पीछे एक लंबी संवैधानिक विकास की अवधि छिपी होती है भारत के संवैधानिक विकास की अवधि भी अत्यधिक दीर्घ है जिसमें 1858, 1861, 1861, 1892, 1909, 1919 तथा 1935 के अधिनियमों का योगदान सम्मिलित है।

प्रत्येक संविधान के प्रारंभ में सामान्यतः एक प्रस्तावना होती है जिसके द्वारा संविधान में मूल उद्देश्यों व लक्ष्यों को स्पष्ट किया जाता है। इस प्रस्तावना का मुख्य प्रयोजन संविधान निर्माताओं के विचारों तथा उद्देश्यों को स्पष्ट करना होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, संविधान में जुड़ा हुआ एक श्रेष्ठ आभूषण है।

संविधान द्वारा प्रदत्त ऐसे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक तथा अनिवार्य होते हैं तथा जिन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता मौलिक अधिकार कहलाते हैं। इसी के साथ संविधान में नागरिकों को उनके कर्तव्यों का बोध कराने के लिए मूल कर्तव्यों की भी व्यवस्था की गई है। साथ ही 'राज्य के नीति निदेशक तत्व' के नाम से राज्य के पथ – प्रदर्शन हेतु कुछ सिद्धांतों की व्यवस्था संविधान के अंतर्गत की गई है जिनका अनुसरण केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा कानून निर्माण और प्रशासन के संबंध में किया जाता है।

इस इकाई में भारतीय संविधान सभा की रचना, कार्य और उसके वैचारिक आधार की विवेचना विस्तार से की गई है।

टिप्पणी

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय संविधान के निर्माण की जानकारी प्राप्त कर पाएंगे;
- भारतीय संविधान के वैचारिक आधारों की अवधारणा को समझ पाएंगे;
- भारतीय संविधान की प्रस्तावना को समझ पाएंगे;
- मौलिक अधिकार, मूल कर्तव्य एवं नीति–निर्देशक तत्वों को विस्तारपूर्वक जान पाएंगे।

1.2 संविधान सभा की रचना और कार्य

भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य विश्व के विभिन्न संविधानों से अच्छी बातों को ग्रहण कर भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एक व्यावहारिक संविधान' का निर्माण करना था। अतः संविधान निर्माता मौलिकता के पीछे न भागकर संविधान की व्यावहारिकता तथा उसकी तत्कालीन परिस्थितियों में अनुकूलता के प्रति अधिक जागरूक थे। उन्होंने अनुभव के आधार पर विभिन्न देशों की शासन–व्यवस्थाओं का गहन अध्ययन किया तथा व्यावहारिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओं का समावेश भारतीय संविधान में कर लिया। इसी कारण इसे अनेक आलोचकों ने विभिन्न नाम दिये, जैसे– 'भानुमती का पिटारा', 'उधार का थैला' एवं वर्णसंकर आदि।

भारतीय संविधान का निर्माण

भारतीय संविधान निर्माताओं का उद्देश्य कोई अभूतपूर्व एवं मौलिक संविधान बनाना नहीं था बल्कि एक ऐसा संविधान बनाना था जो विशिष्ट, संश्लिष्ट एवं नवजात राजनीतिक व्यवस्था में उपयोगी एवं व्यावहारिक हो। इसी कारण भारतीय संविधान निर्माताओं ने न केवल अपने देश की संवैधानिक परंपराओं को अपना बल्कि विभिन्न लोकतांत्रिक देशों के सफल एवं लाभकारी अनुभवों का लाभ उठाया।

संविधान निर्माताओं ने विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, आयरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया की शासन प्रणालियों का अध्ययन किया। हमारे देश के समस्त संसदीय प्रावधान ब्रिटिश संविधान से ही लिए गए हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत का ब्रिटेन से दीर्घकालीन संबंध होने के कारण ब्रिटिश शासन पद्धति की संस्थाओं की ही हमारे देश में नीव पड़ी और विकास हुआ।

भारतीय संविधान के प्रमुख स्रोतों में ब्रिटिश शासन द्वारा पारित किए गए विभिन्न अधिनियमों का प्रमुख स्थान हैं इसके अलावा विभिन्न देशों के संविधानों के विशिष्ट प्रावधानों को भारतीय संविधान में उनका भारतीयकरण करके शामिल किया गया भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारत की सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं को भी ध्यान में रखकर संविधान में उन्हें उचित स्थान प्रदान किया।

टिप्पणी

सन् 1950 में संविधान लागू होने के बाद विभिन्न संशोधनों द्वारा भारत के संविधान का विकास किया गया संक्षेप में प्रमुख स्रोत निम्न हैं –

(1) पुराने संवैधानिक अधिनियम – यद्यपि ब्रिटिश सरकार द्वारा पारित विभिन्न अधिनियमों की भारतीय नेताओं ने कटु आलोचना की थी परंतु संविधान निर्माण के समय उनके कतिपय प्रवधानों को संविधान में शामिल किया गया। हमारे संविधान में पूर्व संवैधानिक अधिनियमों जैसे– 1862, 1909, 1919 एवं 1935 का अत्यधिक प्रभाव हैं इसमें सर्वाधिक प्रभाव 1935 के भारत शासन अधिनियम का है जो निम्न हैं –

(क) सन् 1935 के अधिनियम की 126वीं धारा के अनुरूप नवीन संविधान के अनुच्छेद 256 में कहा गया है कि, ''प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति इस प्रकार प्रयुक्त होगी, जिससे संविधान द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन हो तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति को इस संबंध में राज्यों को उचित निर्देशन देने का अधिकार हो।'' 1935 के अधिनियम का 126 वां अनुच्छेद अथवा धारा भी इन्हीं शब्दों में थी।

(ख) 1935 के अधिनियम की 12वीं धारा के अनुरूप नये संविधान के अनुच्छेद 356 में राज्यों में संवैधानिक तंत्र से उत्पन्न संकट से निपटने के लिए राष्ट्रपति शासन को लागू करने की व्यवस्था की गई है।

(ग) 1935 के संविधान की 10वीं धारा के अनुरूप नये संविधान के अनुच्छेद 353 और 362 में राष्ट्रपति की आपातकालीन घोषणा का समावेश किया गया है।

(घ) दोनों संविधानों में अनेक समानताएं हैं –

(ङ) संघीय शासन की स्थापना।

(च) संघ सूची, राज्य और समवर्ती सूची के अंतर्गत केंद्र और राज्यों में शक्तियों का विभाजन

(छ) केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों का समान उल्लेख आदि, परंतु यह मत अनुपयुक्त है कि नया संविधान 1935 के अधिनियम की कार्बन कापी है। डॉ. पंजाब राव देशमुख का कथन है कि, ''वर्तमान संविधान आवश्यक रूप से 1935 का भारतीय अधिनियम ही है जिसमें केवल वयस्क मताधिकार को और जोड़ दिया गया है। वर्तमान संविधान का आधार ''वयस्क मताधिकार सार्वजनिक मताधिकार' हैं 'मूलाधिकार' कल्याणकारी राज्य की धारणा है। इनके अतिरिक्त अन्य धारणाओं जैसे– निर्वाचित राष्ट्रपति राज्य के नीति निर्देशक तत्व तथा न्यायपालिका का स्वधीनता आदि का 1935 के अधिनियम में कोई उल्लेख नहीं था।''

(1) ब्रिटेन के संविधान का प्रभाव – नये संविधान के अंतर्गत संसदीय शासन स्थापित किया गया है तथा उसको क्रियाविन्त करने के लिए बनाये गए नियम ब्रिटिश संविधान और उसकी परंपराओं से लिए गए हैं। ब्रिटेन

टिप्पणी

के अनुरूप नये संविधान में संसदीय शासन को भारत के लिए उपयुक्त समझा गया दोनों ही देशों में वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिमण्डल के हाथों में है। मंत्रिमण्डल इस शक्ति के प्रयोग के लिए संसद के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होती है।

(2) **अमेरिका के संविधान का प्रभाव** – संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान की व्याख्या, उपराष्ट्रपति का पद और उसके कार्य–न्यायाधीशों की स्वतंत्रता तथा न्यायाधीशों की स्वतंत्रता तथा न्यायाधीशों को पद से हटाने की विधि को अमेरिका के संविधान से ग्रहण किया है।

(3) **आयरलैण्ड के संविधान का प्रभाव** – भारत के संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्व राष्ट्रपति के चुनाव में निर्वाचक मण्डल का प्रावधान और संसद के उच्च सदन में साहित्य, कला, विज्ञान, समाजसेवा के क्षेत्रों में विशिष्ट व्यक्तियों को नामजद करने की प्रणाली को आयरलैण्ड के संविधान से लिया गया है।

(4) **कनाडा के संविधान का प्रभाव** – भारत के संविधान में संघीय व्यवस्था कनाडा की संघीय व्यवस्था से ग्रहण की गई है। भारतीय संविधान में भारतीय संघ के लिए 'यूनियन' शब्द का प्रयोग तथा अवशिष्ट शक्तियां केंद्र के हाथों में रखा जाना कनाडा के संविधान के अनुरूप है।

(5) **आस्ट्रेलिया के संविधान का प्रभाव** – संविधान की प्रस्तावना तथा भाषा, समवर्ती और इस सूची से संबंधित केंद्र व राज्य के पारस्परिक विवादों का समाधान करने की प्रणाली आस्ट्रेलियन संविधान से मिलती–जुलती है।

(6) **दक्षिण अफ्रीका के संविधान का प्रभाव** – भारतीय संविधान की संशोधन प्रणाली दक्षिण अफ्रीका के संविधान के अनुरूप है।

(7) **नेहरू रिपोर्ट का प्रभाव** – सन् 1928 में साइमन कमीशन की चुनौतियां का सामना करने के लिए तैयार की गई नेहरू रिपोर्ट के अनेक प्रावधान संविधान में शामिल किए गए, जैसे– संघीय शासन, पृथक सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली की समाप्ति तथा मौलिक अधिकार आदि।

(8) **अन्य देशों के विशिष्ट प्रावधान** – इसमें आस्ट्रेलिया से समवर्ती सूची की व्यवस्था, जमर्नी के बीमर संविधान से राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियां तथा जापान से ''विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया'' जैसे प्रावधान भारतीय संविधान में शामिल किए गए।

(9) **अन्य स्रोत** – सन् 1950 से लेकर अब तक भारत के संवैधानिक इतिहास में कुछ अन्य स्रोत भी जोड़े गए, जैसे– राष्ट्रपति एवं राज्यपाल द्वारा जारी अध्यादेश, संवैधानिक संशोधन, न्यायिक निर्णय, प्रथाएं एवं अभिसमय तथा विशेषज्ञों की संवैधानिक टीकाएं आदि।

समीक्षा – संक्षेप में कहा जा सकता है कि यद्यपि संविधान निर्माताओं ने विभिन्न देशों के प्रावधानों को अंगीकृत किया है परंतु उनका अंधानुसरण नहीं किया है। डॉ. अंबेडकर के शब्दों में, ''अब यह संविधान पूर्णतया व्यावहारिक है, यदि

टिप्पणी

नवीन संविधान के अंतर्गत कुछ त्रुटियां हों तो उसका कारण यह नहीं होगा कि हमारा संविधान खराब है वरन् हमें यह कहना पड़ेगा कि मानव स्वभाव दुष्ट है।

यह कहना भी उचित नहीं होगा कि भारतीय संविधान मात्र विदेशी संविधानों की नकल है। हमारे संविधान में भारतीयता एवं भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। इसके अलावा श्रेष्ठ एवं मानव कल्याणकारी प्रावधानों को अपनाना किसी विशेष संविधान की नकल नहीं बल्कि ज्ञान एवं मानवीय मूल्यों की शाश्वत परंपरा को आत्मसात करना है। लोकतांत्रिक पद्धति भी पूर्णतः अभारतीय नहीं है, प्राचीन भारतीय गणराज्यों में इसका प्रचलन रहा है। धार्मिक सहिष्णुता, जिसे मौलिक अधिकारों में स्थान दिया गया, हमारी गौरवशाली परंपरा रही है। महात्मा गांधी के विभिन्न आदर्शों जैसे– मद्यनिषेध, गौवधनिषेध, विकेंद्रीकरण, पंचायत राज व्यवस्था एवं कुटीर उद्योगों संबंधित प्रावधानों को भारतीय संविधान में स्थान दिया गया है। अतः विदेशों के संवैधानिक प्रावधानों को अपनाने के बावजूद हमारा संविधान भारतीयता से युक्त है।

राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारतीय नेताओं ने एक बात स्पष्ट कर दी थी कि ब्रिटिश संविधान भारतीय जनमानस के आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य है कि भारतीय संविधान का निर्माण, ब्रिटिश सरकार द्वारा नहीं बल्कि, भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा हों। गांधी जी के अनुसार, 'स्वराज्य का अर्थ है– जनप्रतिनिधियों द्वारा कायम की गई एक ऐसी व्यवस्था जो जनता की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के अनुकूल हो।''

यद्यपि ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय जनता की संवैधानिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए समय–समय पर संवैधानिक अधिनियम पारित होते रहे। इसमें 1909 एवं 1919 के भारतीय शासन अधिनियम तथा भारतीय शासन अधिनियम 1935 महत्वपूर्ण हैं परंतु इससे भारतीय जनता को संतुष्टि नहीं हुई। 1936 में कांग्रेस ने फैजपुर अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव पारित किया कि भारतीय जनता केवल उस संविधान को स्वीकार करेगी जिसे उसने स्वयं बनाया है। जब कांग्रेस के मंत्रिमण्डलों ने नवंबर 1939 में त्यागपत्र दिये तो कांग्रेस ने भारतीय संविधान के निर्माण के लिए संविधानसभा की मांग जोरदार ढंग से प्रस्तुत की। अंततोगत्वा सन् 1946 के कैबिनेट मिशन योजना के अंतर्गत भारत के नये संविधान निर्माण के लिए एक संविधान सभा की मांग को स्वीकार किया गया।

संविधान सभा का गठन

संविधान सभा का गठन कैबिनेट मिशन योजना के अंतर्गत हुआ था। जुलाई 1946 में इसका निर्वाचन किया गया इसके सदस्यों में से 208 सदस्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के और 73 मुस्लिम लीग के थे। संविधान सभा को नवंबर 1946 में देश के लिए संविधान निर्माण का दायित्व सौंपा गया। इस सभा में सिवाय महात्मा गांधी तथा मोहम्मद अली जिन्ना के देश के लगभग सभी शीर्षस्थ नेता सम्मिलित थे, जैसे– पं. जवाहरलाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद, सरदार बल्लभ भाई पटेल, मौलाना आजाद, खान अब्दुल गफ्फार खां, पं. गोविंद बल्लभ पंत, डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. पुरुषोत्तम दास टण्डन, आचार्य जे.वी.

टिप्पणी

कृपलानी, के.टी. शाह, हृदय नाथ कुंजरू, सर एच.एस. गौड़, कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी, श्री कृष्ण सिंह, अलादी कृष्ण स्वामी अय्यर, डॉ. जयकर, ख्वाजा नाजिमुद्दीन, लियाकत अली खां, सर जग्रूल्ला खां, सुहरावर्दी, सर फिरोज खातून तथा डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा आदि। परंतु इसी दौरान देश का विभाजन हो गया और संविधान सभा में सम्मिलित वे नेता जो मुस्लिम लीग के सदस्य थे, पाकिस्तान चले गए। संविधान सभा के शेष सदस्यों ने संविधान के निर्माण के कार्य को पूरा किया। 2 वर्ष 11 माह 18 दिन में अनवरत परिश्रम के पश्चात संविधान निर्माण का कार्य पूरा हुआ।

संविधान सभा की कुल संख्या 389 निश्चित की गई थी। इनमें से 93 सदस्यों देशी रियासतों एवं 4 चीफ कमिश्नरों के प्रांतों और 292 सदस्य ब्रिटिश प्रांतों के होने चाहिए। संविधान सभा में 10 लाख व्यक्तियों पर एक सदस्य के निर्वाचन की व्यवस्था थी। प्रांतों को दी गईं सीटें उनकी विभिन्न जातियों में जनसंख्या के आधार पर बंटनी थी। देशी रियासतों को प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया गया था। उनके प्रतिनिधियों के बारे में निर्णय करने का अधिकार संविधान सभा के निर्वाचित प्रतिनिधियों की समझौता समिति एवं देशी रियासतों के शासकों द्वारा नियुक्त समिति को था, जो परस्पर विचार–विमर्श कर निर्णय करेंगे। कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के लिए चुनाव जुलाई 1946 में संपन्न हुए। ब्रिटिश प्रांतों के इन चुनावों में 208 कांग्रेस, 73 मुस्लिम लीग एवं 15 स्थान स्वतंत्र एवं अन्य दलों को मिले।

सविधान सभा के सदस्यों ने अपने चुनाव के पश्चात भारत की आंतरिक सरकार का चुनाव किया, जिसे कि नये संविधान के लागू होने के समय तक भारत का शासन संचालित करने का कार्य सौंपा गया था। नवीन संविधान के लागू होने के पश्चात तथा सन् 1952 में आम चुनावों के संपन्न होने से पूर्व इस संविधान सभा ने ही संसद के रूप में कार्य किया।

प्रथम सत्र– संविधान का पहला सत्र 9 दिसम्बर 1946 ई. को डॉ. सच्चिदानन्द की अध्यक्षता में प्रारंभ हुआ। उनमें केवल 209 सदस्य ही उपस्थित हुए थे। 11 दिसम्बर 1946 ई. को इस सभा का स्थायी अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को चुना गया।

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएं

भारतीय संविधान एक लिखित और निर्मित संविधान है। कोई भी संविधान चाहे वह लिखित हो या अलिखित राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता है। संविधान एकाएक अस्तित्व में नहीं आता है, संविधान ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है। भारतीय संविधान पर भी ऐसे ऐतिहासिक प्रभाव साफ–साफ परिलक्षित होते हैं। यही विशेषताएं भारतीय संविधान को विशेष महत्व प्रदान करती है। हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य ऐसा व्यवहारिक संविधान बनाना था जिसे भारत जैसे विविधताओं वाले देश में तथा संकटकाल में भी चलाया जा सके। विश्व भर के संविधानों का अध्ययन करने के पश्चात् भारत का संविधान बनकर तैयार हुआ अतः यह अत्यन्त व्यापक था। डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा है कि "उधार लेने में किसी की साहित्यिक चोरी नहीं है। शासन और विधान के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में किसी का कोई एकाधिकार नहीं होता।" संविधान निर्माता इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि उन पर भारत जैसे विशाल आकार वाले विविधता

टिप्पणी

से भरे देश के संविधान के निर्माण का उत्तरदायित्व है अतः संविधान ऐसा होना चाहिए जो न केवल शान्तिकाल में बल्कि संकटकाल में भी दिशासूचक कार्य करे। इसी प्रयास में संविधान अत्यन्त व्यापक बन गया। श्री हरिविष्णु कामथ ने संविधान सभा में कहा था कि, "हमें इस बात पर गर्व है कि हमारा संविधान विश्व का सबसे विशालकाय संविधान है।" भारत का संविधान केवल विस्तृत ही नहीं है इसमें विचारों और आदर्शों को भी पर्याप्त स्थान और महत्व दिया गया है। भारतीय संविधान के उच्च आदर्श व सिद्धान्तों में देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करने की क्षमता है, यह सिद्धान्त पचास के दशक में भी प्रासंगित थे और आज इक्कीसवी सदी में भी प्रासंगिक हैं। यह आधारभूत सिद्धान्त शासन प्रणाली को आधार प्रदान करते हैं।

1. **सर्वाधिक विस्तृत संविधान**–भारतीय उपमहाद्वीप के लिए एक ऐसे संविधान की आवश्यकता अनुभव की गई जो विभिन्न प्रान्तों, धर्मों, जातियों, भौगोलिक परिस्थितियों तथा नई चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हो। 2 वर्ष 11 महीने और 18 दिनों के अथक परिश्रम के उपरान्त संविधान सभा ने जो मूल संविधान भारतवर्ष के समक्ष प्रस्तुत किया वह निःसन्देह विश्व का सबसे विस्तृत संविधान था। उसमें कुल 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां शामिल थी तथा यह 22 भागों में विभाजित था। संविधान की इस विशालता के पीछे निम्नलिखित कारण रहे हैं।

   (i) विश्व के भिन्न–भिन्न संविधानों से महत्वपूर्ण तथ्यों और प्रावधानों को सम्मलित करना–भारतवर्ष से पहले लोकतान्त्रिक व्यवस्था विश्व के अन्य देशों में सफलतापूर्वक संचालित हो रही थी। अतः संविधान निर्माताओं ने इस बात का लाभ उठाते हुये उनकी विशेषताओं को संविधान में स्थान दिया जैसे– अमेरिकी संविधान से मूल अधिकार, ब्रिटेन से संसदीय लोकतंत्र आयरलैण्ड से नीति–निर्देशक तत्व, कनाडा से संघवाद, ऑस्ट्रेलिया से समवर्ती सूची, फ्रांस से प्रेरित होते हुए प्रयुक्त शब्दावली, 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' जापानी संविधान से प्रेरित है संविधान में मनोनयन का प्रावधान भी आयरलैण्ड से प्रेरित है।

   (ii) भारतवर्ष की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां, यहां की भौगोलिक परिस्थितियां, अनेक धर्म, जातियां, भाषाएं, नस्ले आदि सभी का संविधान की अति विशालता के पीछे एक कारण के रूप में योगदान है।

2. **लोकप्रिय प्रभुसत्ता, लोकतन्त्रात्मक, पंथ–निरपेक्ष, समाजवादी गणराज्य की अवधारणा पर आधारित संविधान**–भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुसार अन्तिम शक्ति जनता में निहित है। संविधान की उद्देशिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान का उद्देश्य भारत में प्रभु–सत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना करना है। प्रस्तावना में कहा गया है, "हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक, पंथ निरपेक्ष, समाजवादी

टिप्पणी

गणराज्य बनाने के लिए– दृढ़संकल्प होकर इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

उपर्युक्त शब्दावली की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं।

(i) प्रभुत्वसम्पन्न राज्य उसे कहते हैं जो आन्तरिक और बाह्य नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त हो, जिसकी विदेश नीतियां स्वयं से निर्धारित हो।

(ii) लोकतन्त्रात्मक शब्द का तात्पर्य ऐसे शासन से है जिसमें सम्पूर्ण शक्ति जनता में निहित होती है, सरकार जनता के लिए उत्तरदायी होती है तथा जनता द्वारा ही सत्ता में आती है।

(iii) 'पंथ निरपेक्ष' यह शब्दावली मूल संविधान में नहीं थी इसे 42वें संविधान संशोधन के द्वारा प्रस्तावना में सम्मिलित किया गया हैं इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा राष्ट्र जिसमें किसी भी विशेष धर्म को राजधर्म के रूप में मान्यता न दी गई हो बल्कि सभी धर्म समान हो।

(iv) समाजवादी व्यवस्था की अवधारणा आर्थिक न्याय पर आधारित है। साधारणतः इस शब्द का प्रयोग ऐसी व्यवस्था के लिए किया जाता है जहां उत्पादन और वितरण के साधनों पर शासन का नियन्त्रण हो। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह आंशिक रूप से ही पाया जाता है क्योंकि यहां मिश्रित अर्थव्यवस्था है। गणराज्य शब्द का आशय इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत का सर्वोच्च अधिकारी अर्थात राष्ट्रपति भारतीय जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाने के उपरान्त ही पद ग्रहण करता है।

3. **निर्मित तथा लिखित संविधान**–भारत में संविधान के निर्माण के लिए विशेष रूप से संविधान सभा की व्यवस्था की गई थी, जिसने भारत के लिए संविधान का निर्माण किया है, यह संविधान लिखित है। इसके समस्त प्रावधान लिखित रूप में हमारे सामने हैं।

4. **कठोरता और लचीलेपन का समन्वय**–संविधान की कठोरता और लचीलापन संविधान की संशोधन प्रक्रिया पर निर्भर करता है। कठोर संविधान उसे माना जाता है जिसमें संविधान में संशोधन के लिए एक जटिल प्रक्रिया को अपनाया जाता है जो साधारण कानून निर्माण की प्रक्रिया की अपेक्षाकृत कठिन होती है। इस प्रकार भारतीय संविधान कठोर संविधान की श्रेणी में आता है–क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार कुछ विषयों में संशोधन के संसद के समस्त सदस्यों के बहुमत और उपस्थित सदस्यों के दो–तिहाई के अतिरिक्त विधानमण्डलों में से कम से कम आधों का समर्थन होना आवश्यक है। इस प्रकार यह संशोधन प्रणाली निश्चित रूप से कठोर है। इसके विपरीत लचीला संविधान वह संविधान होता है जिसमें संसद द्वारा साधारण विधि से पारित करके संशोधन किया जा सकता है।

टिप्पणी

5. **संसदात्मक शासन प्रणाली**–एक नव स्वतंत्र राष्ट के लिए यह एक ज्वलन्त प्रश्न था कि इसके लिए अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था लागू की जाये या संसदात्मक शासन व्यवस्था। भारत सरकार अधिनियम 1919 और 1935 के द्वारा संसदीय शासन व्यवस्था की नींव पड़ चुकी थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले प्रावधानों से भारतीय जनता परिचित हो चुकी थी इसलिए संविधान सभा ने भारतीय शासन व्यवस्था के लिए संसदीय प्रतिमान को ही प्राथमिकता दी। इसमें राष्ट्रीय इंग्लैण्ड के सम्राट की भांति नाममात्र का प्रधान होताहै। वास्तविक कार्यपालिका मंत्री परिषद और उसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। यह सामूहिक रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सैद्धान्तिक रूप से तो समस्त कार्यपालिका शक्तियां राष्ट्रपति में निहित होती है परन्तु व्यवहारिक तौर पर वह इनका प्रयोग मंत्रीपरिषद की सलाह के अभाव में नहीं कर सकता है।

6. **एकात्मक तथा संघात्मक तत्वों का सम्मिश्रण**–भारतीय संविधान में एकात्मक तथा संघात्मक दोनों ही व्यवस्थाओं की विशेषतायें पाई जाती है। भारतीय संविधान का मूल ढांचा संघात्मक है किन्तु उसमें एकात्मक होने की क्षमता अविश्वसनीय है। आपातकालीन परिस्थितियों में संविधान पूर्णरूप से एकात्मक हो जाता है इसके अतिरिक्त इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका गवर्नरों की नियुक्ति, अखिल भारतीय सेवाएं, राज्यों का पुनर्गठन नाम व क्षेत्रों में परिवर्तन इत्यादि। हालांकि भारतवर्ष राज्यों का संघ है प्रत्येक राज्य की अपनी सरकार है शासन व्यवस्था है विधि निर्माण के अलग–अलग विषय हैं, इससे स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति का स्पष्ट विभाजन केन्द्र और राज्यों के बीच पाया जाता है। जिन देशों से भारतीय संविधान निर्माताओं ने प्रेरणा लेकर भारत में संघात्मक व्यवस्था को लागू करने का निर्णय लिया था उन देशों में जो व्यवहारिक कठिनाइयां उत्पन्न हुई उन्हीं के फलस्वरूप संविधान में ऐसे उपबन्धों को भी सम्मिलित किया गया जिससे केन्द्र अधिक शक्तिशाली हो जाता है। यदि केन्द्र और राज्य के बीच कभी कोई संवैधानिक गतिरोधों की स्थिति उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति में उच्चतम न्यायालय न्यायिक व्यवस्था और गतिरोधों को दूर करने के लिए मध्यस्थ व फैसला सुनाने का कार्य करता है।

7. **स्वतंत्र न्यायपालिका**–भारतीय संविधान ने न्यायपालिका की सर्वोच्चता को अमेरिकी संविधान से प्रेरित होकर सम्मिलित किया है। यद्यपि संघात्मक व्यवस्थाओं में दोहरी न्याय व्यवस्था होती है, एक पूरे संघ की और दूसरी राज्यों की। भारतीय संविधान में न्यायपालिका का मुख्य कार्य केन्द्र और राज्यों के बीच के गतिरोधों का निपटारा करना होता है। राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा निर्मित विधि को असंवैधानिक घोषित करना होता है। न्यायपालिका का अन्य कार्य मूल अधिकारों की रक्षा करना भी है क्योंकि यदि मूल अधिकारों का संरक्षण नहीं होगा तो यह अपना महत्व खो देंगे। स्वतंत्र न्यायपालिका प्रजातंत्र का एक

टिप्पणी

मजबूत आधार होती है। इसकी स्वतंत्रता इसलिए भी आवश्यक है जिससे यह निष्पक्ष और निर्भयतापूर्वक न्याय प्रदान कर सके।

8. **एकल नागरिकता**—न्यायपालिका की ही भांति संघात्मक व्यवस्था में दोहरी नागरिकता का भी प्रावधान होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसी प्रकार की व्यवस्था है वहां का नागरिक एक साथ संघ और राज्य दोनों का नागरिक माना जाता है तथा दोनों के द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उपभोग करता है। इसके विपरीत भारत में एकल नागरिकता की व्यवस्था है, भारत में नागरिक किसी राज्य या प्रान्त का नहीं होता वह केवल भारत का नागरिक होता है। भारतीय संविधान निर्माताओं का विचार था कि राज्य या प्रान्त की नागरिकता देश एकता और अखण्डता के लिए बाधक सिद्ध हो सकती है।

9. **मूल अधिकार और कर्तव्य**—व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिए जिन परिस्थितियों का होना अनिवार्य माना जाता है, उन्हें मूल अधिकार कहते हैं। मौलिक अधिकारों की घोषणा संविधान के भाग 3 में की गई है। मौलिक अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों और स्वतंत्रताओं से है जिन्हें राज्य की विधायी और कार्यपालिका शक्तियों पर निर्बन्धन स्वरूप देखा जा सकता है। संविधान राज्य द्वारा ऐसे कानूनों के निर्माण का निषेध करता है, जिनसे नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन होता है। यदि राज्य ऐसी विधि बना देता है तो न्यायपालिका उसे असंवैधानिक घोषित कर सकती है। संविधान न केवल मूल अधिकार प्रदत्त करता है बल्कि उनके संरक्षण की भी व्यवस्था करता है। भारतीय संविधान मूल अधिकारों की घोषणा के साथ–साथ संकटकालीन परिस्थितियों में मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाये जाने की भी व्यवस्था करता है, जिससे देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में बाधा उत्पन्न न हो।

   मूल अधिकारों के साथ–साथ भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों की भी व्यवस्था की गई है। हालांकि मूल दस्तावेज में मूल कर्तव्यों का कोई प्रावधान नहीं है परन्तु 42वें संविधान संशोधन के द्वारा 1976 में संविधान में एक नया भाग चौथा 'क' जोड़ा गया। नये अनुच्छेद 51(क) में नागरिकों के लिए 10 मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गई।

10. **राज्य के नीति–निर्देशक तत्व**—राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों में हमारे संविधान का सामाजिक न्याय पर आधारित दर्शन दृष्टिगोचर होता है। भारतीय संविधान के चौथे भाग में इन निर्देशक तत्वों का उल्लेख मिलता है। राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों की प्रेरणा आयरलैण्ड के संविधान से मिली है। ये सिद्धान्त निर्देशों के रूप में है जो व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के लिए पथ प्रदर्शक की भूमिका निभाते हैं। ये निर्देशक तत्व नीतियों के निर्माण के लिए कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के वे निर्देश हैं जिनसे राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर बल दिया जाए।

टिप्पणी

राज्य इन्हीं नीति निर्देशक तत्वों का पालन करके संविधान में उल्लिखित एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना कर सकता है। यह तत्व मूल अधिकारों की तुलना में कम प्रभावशाली है क्योंकि यह वादयोग्य नहीं है परन्तु इनके आदर्श स्वरूप के कारण ही ग्लेविल ऑस्टिन ने इन्हें 'राज्य की आत्मा' कहा है।

11. **वयस्क मताधिकार**–भारतीय संविधान लोकतंत्रात्मक शासन को अंगीकार करता है। लोकतंत्रात्मक शासन में जनता सर्वोपरि होती है। सरकार का निर्माण जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के द्वारा होता है। ऐसे में वयस्क मताधिकार देश की आवश्यकता बन जाती है। 1909 के अधिनियम के द्वारा ब्रिटिश शासन ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को लागू किया था। इस प्रणाली से भारतीय जनमानस की विचारधारा में विकृतियां आ गई थी। भारतीय संविधान ने लोकतंत्रात्मक शासन को मजबूत आधारशिला प्रदान करने की दिशा में देश के प्रत्येक वयस्क नागरिक को मत देने का अधिकार प्रदान किया है। आरम्भ में प्रत्येक 21 वर्ष की आयु के स्त्री–पुरुष चुनाव में मत देने के अधिकारी थे। वर्तमान में यह आयु 18 वर्ष कर दी गई है। इससे न केवल लोक को मजबूत आधार मिलता है बल्कि जनता में राजनीतिक चेतना में भी अभिवृद्धि होती है। इसी के आधार पर भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहलाता है।

12. **कल्याणकारी राज्य की स्थापना**–संविधान को मूलभूत रूप में एक राजनीतिक और विधिक दस्तावेज माना जा सकता है। इसमें सबसे अधिक बल भी कानूनी और राजनीतिक, अधिकारों और स्वतंत्रताओं और समानताओं पर दिया जाता है। भारतीय संविधान में सामाजिक क्षेत्र की आवश्यकता को समझते हुए सामाजिक समानता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है। भारतीय समाज में व्याप्त असमानताओं को दूर किए बिना कल्याणकारी राज्य के आदर्श और स्थापित नहीं किया जा सकता था। भारतीय संविधान में स्पष्ट प्रावधान है कि केन्द्र और राज्य सरकारें अधिक से अधिक संभव सीमा तक सामाजिक व आर्थिक समानता के लिए नीतियां निर्धारित करके उनका क्रियान्वयन करे जिससे कल्याणकारी राज्य के आदर्श को प्राप्त किया जा सके।

अपनी प्रगति जांचिए

1. संविधान के निर्माण में कुल कितना समय लगा?

   (क) 2 वर्ष, 11 मास 10 दिन (ख) 2 वर्ष, 8 मास 15 दिन

   (ग) 2 वर्ष, 11 मास 18 दिन (घ) 2 वर्ष, 8 मास 20 दिन

2. भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों की घोषणा संविधान के किस भाग में की गई है?

   (क) भाग 2 (ख) भाग 3

   (ग) भाग 4 (घ) भाग 5

टिप्पणी

1.3 भारतीय संविधान का वैचारिक आधार

भारतीय संविधान एक लिखित संविधान है अधिकांशतः लिखित संविधानों के आरंभ में प्रस्तावना को स्थान दिया जाता है। यद्यपि प्रस्तावना को वैधानिक दृष्टि से संविधान का अंग नहीं माना जाता है तथापि यह संविधान के अध्ययन के संबंध में पर्याप्त महत्व रखती है। यदि संविधान लिखित है तो बिना प्रस्तावना के उसका अध्ययन न तो पूरा हो सकता है और न ही सारगर्भित हो सकता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में संविधान के सभी दार्शनिक तत्व समाहित हैं। संविधान निर्माताओं के विचारों व सिद्धान्तों की झलक हमें प्रस्तावना में मिलती है। संविधान का सम्पूर्ण दर्शन प्रस्तावना में मिल जाता है। प्रस्तावना में जिन तथ्यों का निरूपण किया गया है, जिन सिद्धान्तों का आधार बनाया गया है व जिन आदर्शों को स्थापित किया गया है, उनके आधार पर संविधान में न केवल परिवर्तन किए जा सकते हैं बल्कि उसका पुनर्निर्माण भी हो सकता है और नई संभावनाएं भी स्थान पा सकती हैं। प्रस्तावना की शब्दावली में जिन शब्दों और पदों का समावेश किया गया हैं वे सार्वभौमिक हैं, ये पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं और संस्कृतियों, परम्पराओं तथा प्रतिष्ठित आदर्शों के सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य तत्व हैं। भारतीय संविधान निर्माता तत्कालीन परिस्थितियों तथा भारतीय परिवेश की आवश्यकताओं के अनुरूप संविधान का निर्माण करना चाहते थे। इस प्रकार जो प्रस्तावना आज हमारे सम्मुख है वह संविधान निर्माताओं की बुद्धिमत्ता और सूझ–बूझ का परिणाम है।

देश के नव–निर्माण में तथा उसकी शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक संविधान को नियम–कानून की अति आवश्यकता होती है। इस संविधान का पालन करना देश के नागरिकों का परम कर्तव्य होता है। एक अच्छे नागरिक को अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों की पूरी जानकारी होनी चाहिए। नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करने का दायित्व देश की शासन तथा न्याय प्रणाली के हाथ में है। भारतीय संविधान के अनुसार भाग 3 में धारा 12 से लेकर 35 तक नागरिकों के मौलिक या मूल अधिकारों की व्यवस्था की गई थी। प्रारंभ में इन मौलिक अधिकारों की संख्या 7 थी परंतु 44वें संविधान संशोधन विधेयक (1979) के बाद इनकी संख्या 6 रह गई है। संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकार की बजाय एक वैधानिक अधिकार मात्र बना दिया गया है। संविधान में 42वें संशोधन के द्वारा एक नई धारा 51(1) जोड़ी गई है जिसके अंतर्गत नागरिकों के कुछ मौलिक कर्तव्यों को भी निर्धारित किया गया है। इन कर्तव्यों की संख्या दस है और ये भी मौलिक अधिकारों के समान ही महत्वपूर्ण हैं।

1.3.1 प्रस्तावना

प्रत्येक संविधान के प्रारंभ में संविधान की प्रस्तावना होती है। प्रस्तावना में उन आधार तत्वों या उद्देश्यों का उल्लेख होता है जिससे संविधान अभिप्रेरित हुआ है तथा जिन पर शासन प्रणाली आधारित हो। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में न्याय, समानता, लोकतंत्र, गणतंत्र, व्यक्ति की गरिमा, एकता और अखण्डता आदि का उल्लेख संविधान की प्रस्तावना में किया गया है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के आदर्श

टिप्पणी

की प्राप्ति भी संविधान का उद्देश्य है। संविधान के प्रावधानों को संविधान की प्रस्तावना से प्रेरणा मिलती है। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से प्रस्तावना को संविधान का अंग नहीं माना जाता है तथापि यहीं प्रस्तावना कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का मार्ग निर्देशन करती है कि 'हमें क्या करना चाहिए, हमारे उद्देश्य क्या होने चाहिए तथा हमारी दिशा क्या होनी चाहिए?'

प्रस्तावना का अर्थ और महत्व

प्रस्तावना में संविधान का सारतत्व होता है इसमें संविधान के प्रमुख दार्शनिक आधार तत्वों का निचोड़ होता है। संविधान की प्रस्तावना मात्र से संविधान के स्वरूप का आकलन किया जा सकता है। पं. ठाकुरदास भार्गव के अनुसार, ''प्रस्तावना संविधान का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यह विधान की आत्मा है। यह विधान की कुंजी है।'' डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार, ''संविधान राष्ट्र का मूलभूत अधिनियम है। वह राज्य के विभिन्न अंगों का गठन कर उन्हें शरीर देता है, शक्ति देता है। उसके शरीर के गठन और अंगों की व्यवस्था के पीछे एक प्रेरणा होती है, एक आत्मा होती है जिसको शब्द रूप मिलता है, प्रस्तावना में। प्रस्तावना अधिकांशतः लिखित संविधानों का प्रारंभिक भाग होता है जिससे संविधान के स्वरूप, कार्यप्रणाली तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रकट करती है।'' उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान के प्रस्तावना संविधान की एक छोटा सा भाग मात्र नहीं है वरन् यह पर्याप्त महत्व रखती है। इसका महत्व अनेक दृष्टिकोणों से सिद्ध किया जा सकता है–

1. प्रस्तावना के द्वारा शासन व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट होता है, प्रस्तावना के प्रमुख शब्दावली से आभास हो जाता है कि शासन प्रणाली लोकतंत्रात्मक होगी या निरकुंशतन्त्र के रूप में सरकार कार्य करेगी।
2. प्रस्तावना के द्वारा शासन के आधारभूत सिद्धान्तों की झलक मिलती है कि शासन जनकल्याणकारी नीतियों पर कार्य करेगा या शासक वर्ग की इच्छापूर्ति के तन्त्र के रूप में कार्य करेगा।
3. प्रस्तावना से शासक वर्ग के दायित्वों का भी बोध होता है, यह शासक वर्ग के लिए दिशा–निर्देश का भी कार्य करती है।
4. संविधान के उद्देश्यों की झांकी प्रस्तुत करती है, विषम् परिस्थितियों में संविधान के उद्देश्य क्या होने चाहिए यह भी स्पष्ट होता है।
5. संविधान के सिद्धान्तों के आधार पर शासन का संचालन किस प्रकार होगा इसके लिए यह प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती है।
6. प्रस्तावना संविधान का सारतत्व होती है तथा इसे संविधान का संक्षिप्त रूप माना जा सकता है।

टिप्पणी

7. यह संविधान को प्रेरणा देने का कार्य भी करती है। भूतपूर्व न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला के शब्दों में, ''भारतीय संविधान की प्रस्तावना समूचे संविधान की आत्मा है, शाश्वत और अपरिवर्तनीय। प्रस्तावना में संवैधानिक जीवन की विविधता का भी उल्लेख मिलता है और भविष्य का दर्शन भी होता है।''

भारतीय संविधान की प्रस्तावना–रचना एवं स्रोत

भारतीय संविधान की प्रस्तावना का उद्‌गम स्थल पंडित जवाहर लाल नेहरू का 'उद्देश्य प्रस्ताव' है जिसे उन्होंने 13 दिसम्बर 1946 को संविधान निर्मात्री सभा में प्रस्तुत किया था। यह 'उद्देश्य प्रस्ताव' स्वयं जवाहरलाल नेहरू की सूझबूझ का परिणाम था। इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' के माध्यम से पंडित नेहरू ने संविधान सभा के समक्ष स्वतंत्र भारत के भावी संविधान की आधारभूत रूपरेखा, सिद्धान्तों और उद्देश्यों को प्रभावशाली ढंग से निरुपण किया। इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' को सही मायने में भारतीय संविधान की प्रस्तावना का स्रोत या आधारशिला माना जा सकता है। उद्देश्य प्रस्ताव के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं–

(i) यह संविधान सभा अपने इस दृढ़ और गंभीर संकल्प की घोषणा करती है कि भारत को एक स्वतंत्र प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य घोषित करेगी और उसके भावी शासन के लिए एक संविधान की रचना करेगी।

(ii) जो भाग या देश राज्य स्वतंत्र प्रभुत्व सम्पन्न भारत में सम्मिलित होने के लिए तत्पर है उन्हें आपस में मिलाकर एक संघ की भांति गठित किया जायेगा।

(iii) स्वतंत्र प्रभुत्व सम्पन्न भारत के समस्त भागों और शासन के सभी अंगों को शक्ति जनता से प्राप्त होगी।

(iv) भारत की समस्त जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, स्थिति और अवसर की तथा विधि के समक्ष समानता की, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना, व्यवसाय और कार्य की गारण्टी दी जायेगी।

(v) न्याय तथा सभ्य राष्ट्रों की विधि के अनुसार गणराज्य के राज्य क्षेत्र की एकता और अखण्डता और जल, थल और आकाश पर इसकी प्रभुता की रक्षा की जायेगी। अन्त में यह देश विश्वशान्ति तथा मानव जाति के कल्याण हेतु अपना पूर्ण और सहर्ष योगदान देगा।

'उद्देश्य प्रस्ताव' पर पंडित नेहरू ने संविधान सभा के समक्ष जो भाषण दिया उसका अभूतपूर्व प्रभाव देखने को मिला। संविधान सभा के अधिकांशतः सभी सदस्य पंडित नेहरू से सहमत थे। संविधान सभा ने कुल आठ दिनों तक 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर विचार किया। हृदयनाथ कुंजरू, जयकर और डॉ. अम्बेडकर चाहते थे कि प्रस्ताव पर विचार–विमर्श स्थगित कर दिया जाये। 22 जनवरी, 1947 को जवाहरलाल नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर वाद–विवाद का उत्तर दिया और संविधान सभा ने इसे स्वीकार कर लिया। संघ संविधान के प्रारंभिक प्रारूपों में प्रस्तावना को केवल औपचारिक रूप में रखा

टिप्पणी

गया था। 30 मई, 1947 को संघ संविधान के संबंध में बी.एन. राव द्वारा दिये गये ज्ञापन में प्रस्तावना का स्वरूप बदल दिया गया था, जैसे–'हम भारत के लोग, जो समाज के हित के लिए प्रयत्नशील है, एतत् द्वारा, हम अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से यह संविधान अधिनियमित, अंगीकृत और आत्मर्पित करते हैं।'

जब कैबिनेट मिशन द्वारा देश के विभाजन का सुझाव दिया गया तो संविधान सभा का दृष्टिकोण बदलने लगा, वह इस बात पर दृढ़ होने लगी कि विघटनकारी शक्तियों का सामना करने के लिए केन्द्र का शक्तिशाली होना अनिवार्य है। 18 जुलाई 1947 को पंडित नेहरू ने स्वीकार किया कि एक प्रकार से प्रस्तावना, 'उद्देश्य प्रस्ताव' में आ गई है किन्तु बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उसमें कुछ परिवर्तन करने होंगे। संविधान सभा की प्रारूप समिति ने उद्देश्य प्रस्ताव पर पर्याप्त विचार विमर्श किया तथा उद्देश्य प्रस्ताव में भारतीय संघ को लेकर जो धारणा प्रस्तुत की गई थी उसे बदलते हुए राजनीतिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए बदल दिया गया। प्रारूप समिति के विचार से प्रस्तावना में नये राष्ट्र के मूल स्वरूप, इसके मूलभूत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों का उल्लेख होना चाहिए। फरवरी 1948 में प्रारूप समिति ने प्रस्तावना को स्वीकार कर लिया।

संविधान की प्रस्तावना : स्वरूप एवं लक्षण

भारतीय संविधान की विशालता को देखते हुए इसकी प्रस्तावना अत्यन्न संक्षिप्त, ध्यानाकर्षित करने वाली, सटीक शब्दावली तथा प्रभावशाली है। डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार, 'प्रस्तावना का एक–एक शब्द एक चित्र है, चित्र जो कि बोलता है, एक कहानी कहता है– तपस्या, त्याग और बलिदान की कहानी।' भारत के संविधान की प्रस्तावना रूप में इस प्रकार है–

हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुत्व बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. (मिती मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, सवंत् दो हजार छः विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मर्पित करते हैं।

42वें संविधान संशोधन के पश्चात् प्रस्तावना का स्वरूप

1976 में 42वें संविधान संशोधन के द्वारा भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कुछ शब्दों को प्रस्तावना में सम्मिलित किया गया है। संशोधन के पश्चात प्रस्तावना का स्वरूप इस प्रकार का हो गया है :

हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक,

टिप्पणी

आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म अैर उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुत्व बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिती मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

संविधान की प्रस्तावना के प्रमुख लक्षण

संविधान की प्रस्तावना के लक्षणों के संबंध में विभिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत हैं। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के शब्दों में, "हमारे संविधान की आत्मा अर्थात प्रस्तावना में मनुष्य की सभ्यता के आधुनिक विकास क्रम का हृदय स्पंदन है, उसकी अन्तर्रात्मा, न्याय और समता, अधिकार एवं बंधुत्व के जल से सिंचित है।" डॉ. जे. आर. लिवाच के अनुसार प्रस्तावना के चार भाग हो सकते हैं–

(i) सत्ता का स्रोत

(ii) शासन प्रणाली

(iii) शासन प्रणाली के ध्येय

(iv) संविधान की स्वीकृति एवं क्रियान्वयन की तिथि

संविधान की प्रस्तावना उपर्युक्त के अतिरिक्त भी बहुत कुछ लक्षण अपने में समाहित किये रहती है। अतः संविधान की प्रस्तावना के लक्षणों या विश्लेषणों को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं–

1. **संविधान का स्रोत जनता है**–भारतीय संविधान की प्रस्तावना का आरम्भ होता है–'हम भारत के लोग' से। यह शब्द स्पष्ट करते हैं कि संविधान का स्रोत जनता है। सत्ता की सर्वोच्च और अन्तिम शक्ति जनता में निहित है। संविधान के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता का अधिवास जनता में है संविधान के सभी प्रावधान जनता से ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। अन्यत्र कोई भी स्रोत संविधान को न तो प्रभावित करता है न ही उसे शक्ति प्रदान करते हैं। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "प्रस्तावना यह स्पष्ट कर देती है कि इस संविधान का आधार जनता है एवं इसमें निहित अधिकार और प्रभुसत्ता सभी जनता से प्राप्त हुई है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान सभा ने संविधान का निर्माण जनता की ओर से ही किया है तथा जनता ने ही इसे स्वीकार किया है।
2. **शासन के उद्देश्यों की घोषणा करना**–प्रस्तावना के द्वारा भारतीय संविधान शासन के तीनों अंगों–कार्यपालिका व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के उद्देश्यों की घोषणा करती है। प्रस्तावना के अनुसार, हमारे लोकतांत्रिक गणराज्य के चार प्रमुख उद्देश्य हैं– न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातत्व। संविधान के निर्माता इस सत्य से भलीभांति परिचित थे कि राजनीतिक स्वाधीनता तो मात्र

टिप्पणी

प्रथम चरण होता हैं इसके बाद ही आर्थिक, सामाजिक और अन्य स्वतंत्रताएं प्राप्त की जा सकती हैं।

3. **सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न**–सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न का तात्पर्य है कि भारत के आन्तरिक और बाहरी मामलों में फैसले लेना तथा नीति निर्माण में भारत सरकार पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। वैचारिक दृष्टि से भारत के ऊपर किसी प्रकार का कोई आन्तरिक नियन्त्रण नहीं है। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947 के पारित होते ही भारत ब्रिटिश शासन से मुक्त हो गया था तथा उस पर किसी बाहरी शक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं रह गया था। प्रस्तावना में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शब्द का प्रयोग संविधान निर्माताओं की इस मंशा को स्पष्ट करता है कि भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य बने।

4. **लोकतन्त्रात्मक संविधान**–भारतीय संविधान की प्रस्तावना में लोकतन्त्रात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रस्तावना के माध्यम से संविधान निर्माताओं ने यह घोषणा की है कि भारत एक लोकतांत्रिक राज्य होगा। देश में शासन जनता की इच्छा के अनुरूप होगा। राजसत्ता पर किसी एक वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं होगा, शासन का संचालन बहुमत के सिद्धान्त के आधार पर होगा। यहां सभी प्रकार की समानतायें होगी। भारत में निवास करने वाले सभी निवासियों, स्त्री–पुरुषों, अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्राप्त होगी। समाज में सामाजिक न्याय को प्रतिस्थापित करना तथा आर्थिक न्याय को समानतापूर्वक वितरित करना भी संविधान का उद्देश्य होगा, जिससे किसी भी वर्ग का शोषण न हो। वस्तुतः संविधान की प्रस्तावना में प्रयुक्त शब्द जैसे– 'न्याय', 'स्वतन्त्रता', 'समता', 'व्यक्ति की गरिमा 'राष्ट्र की एकता', 'बन्धुता' आदि प्रस्तावना में निहित संविधान के दर्शन को मुखर रूप में बताते है कि भारत केवल एक राजनीतिक लोकतंत्र नहीं है अपितु सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र भी है।

5. **गणराज्य**–भारत लगभग दो सौ वर्षों तक ब्रिटेन का उपनिवेश रहा है। भारतीय संविधान में इंग्लैण्ड की व्यवस्था से मिलते–जुलते बहुत से प्रावधान इसलिये रखे गए क्योंकि संविधान निर्माताओं का यह मानना था कि भारतीय जनता उन व्यवस्थाओं का पालन करने की अभ्यस्त हो गई है। लोकतांत्रिक व्यवस्था, संसदात्मक व्यवस्था को अपनाने के साथ संविधान की प्रस्तावना में गणराज्य शब्द का उल्लेख होते ही यह स्पष्ट हो गया कि भारत के संविधान निर्माता अमेरिकी और फ्रांसीसी व्यवस्थाओं से प्रेरित होकर भारत में वंशानुगत लोकतंत्र के स्थान पर लोकतन्त्रात्मक गणराज्य को अपनाना चाहते हैं। इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतंत्र है वहां का राष्ट्राध्यक्ष वंशानुगत आधार पर अपना पद ग्रहण करता है। यह व्यवस्था भारतीय परिवेश के लिये उपयुक्त नहीं थी, भारत की विविधता को ध्यान में रखते हुए लोकतंत्रात्मक गणराज्य की अवधारणा अधिक उपयुक्त लगी। इसमें राष्ट्राध्यक्ष को पद जनता द्वारा निर्वाचन के फलस्वरूप प्राप्त होता है। यह निर्वाचन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कैसे भी हो सकता है। राष्ट्रपति

टिप्पणी

के पद तक कोई भी साधारण नागरिक पहुंच सकता है, भारतीय गणराज्य में सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित है जिसे जनता सार्वभौम वयस्क मताधिकार के द्वारा व्यक्त करती है।

6. **न्याय**–संविधान निर्माता इस तथ्य से भलीभांति अवगत थे कि सही मायने में लोकतंत्र की स्थापना तभी संभव है जबकि न्याय को संविधान में प्रतिष्ठित किया जाये। लोकतंत्र जिन आयामों–स्वतंत्रता, समानता और भ्रातत्व पर निर्भर होता है उनको बिना न्याय को स्थापित नहीं किया जा सकता है। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना करने से ही लोक कल्याणकारी राज्य के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। सामाजिक न्याय से तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को उन्नति के समान और समुचित अवसर सुलभ हो सकें, उनके बीच किसी भी आधार पर कोई भेद न माना जाये। आर्थिक न्याय से तात्पर्य है कि अर्थ का केन्द्रीयकरण न हो, उत्पादन और वितरण के साधनों का न्यायोचित रीति से वितरण हो जिससे अधिक से अधिक सामूहिक हितों का साधन हो सके। राजनीतिक न्याय का अर्थ यह है कि समस्त नागरिकों को नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। वयस्क मताधिकार सिद्धान्त के आधार पर नागरिक मताधिकार का प्रयोग करें। इस प्रकार न्याय की स्थापना के उपरान्त ही लोककल्याणकारी राज्य की परिकल्पना को सिद्ध किया जा सकता है।

7. **स्वतंत्रता**– प्रस्तावना में 'स्वतंत्रता' शब्द का भी उल्लेख किया गया है साथ ही साथ विचार अभिव्यक्ति, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता का उल्लेख मिलता है। स्वतंत्रता का तात्पर्य नागरिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की स्वतंत्रता से है। विचार, अभिव्यक्ति, भाषण, संघ निर्माण, सम्पत्ति संग्रह आदि नागरिक स्वतंत्रताएं हैं। मतदान में भाग लेना, चुनाव में खड़ा होना, प्रतिनिधियों का चयन करना, सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार, सरकार के कार्यों की आलोचना करना आदि राजनीतिक स्वतंत्रताएं है। संविधान की प्रस्तावना नागरिकों के व्यक्तित्व के चहुंमुखी विकास के लिए स्वतंत्रता प्रदान करने का आश्वासन देती है जिससे संविधान इस उद्देश्य की प्राप्ति कर सके।

8. **पंथनिरपेक्षता**– भारत में कोई भी राज्य धर्म नहीं है। भारतीय संविधान न तो किसी धर्म को प्रोत्साहन देता है और न ही किसी धर्म के प्रति भेदभाव पूर्ण या उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाता है। पंथनिरपेक्ष राज्य में धर्म अन्तःकरण की वस्तु है या यह कहें कि यह नितान्त व्यक्तिगत मामला है इससे राज्य के हस्तक्षेप का कहीं कोई स्थान नहीं है। भारत में धार्मिक विविधता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तावना में ही धर्म और उपासना की स्वतंत्रता का उल्लेख कर दिया गया, इससे बहुसंख्यकों को पूर्ण स्वतंत्रता का आश्वासन मिला तथा अल्पसंख्यकों का स्वतंत्रता के साथ–साथ संरक्षण भी प्राप्त हुआ। इसके साथ ही साथ भारत को एवं पंथनिरपेक्ष राज्य बनाना संभव हो पाया।

टिप्पणी

9. **समानता**– संविधान की प्रस्तावना में समता शब्द का प्रयोग इस अभिप्राय से किया गया है कि भारत का संविधान प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के आधार पर व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर उपलब्ध कराए। लिंग, जाति, नस्ल, धर्म अथवा सम्पत्ति के आधार पर राजनीतिक, वैधानिक और नागरिक अधिकारों का निषेध नहीं होना चाहिए। समान योग्यता और समान श्रम के लिए समान पारितोषिक होना चाहिए। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का किसी भी आधार पर शोषण न कर पाये। भारतीय संविधान में नागरिकों को विधि के समक्ष और अवसर की समानता का उल्लेख है।

10. **राष्ट्रीय एकता और अखण्डता**– भारतीय संविधान में राष्ट्र की एकता और अखण्डता का उल्लेख प्रस्तावना में किया गया है। भारत एक विविधताओं से परिपूर्ण देश है यहां भौगोलिक विविधताओं के अतिरिक्त भाषायी, धार्मिक, सांस्कृतिक, नस्ल आदि के आधार पर भी पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। ऐसे परिदृश्य में राष्ट्रीय एकता और अखण्डता लोकतंत्र की आवश्यकता है। व्यक्ति लोकतंत्र की इकाई होता है। भारत का लोकतंत्र लोक–कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने का प्रयास करता है। लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति का हित सर्वोपरि होता है किन्तु यह लोकहित राष्ट्रहित के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहिए अतः राष्ट्रीय एकता संविधान का लक्ष्य होना चाहिए।

प्रस्तावना को संविधान की आत्मा क्यों कहा जा सकता है?

प्रस्तावना में लगभग उन सभी बिन्दुओं का उल्लेख किया गया है जिनका संविधान में विस्तृत विवेचन है और जो संविधान को उसका दृढ़ स्वरूप प्रदान करने में योगदान देते हैं। अतः कहा जा सकता है कि प्रस्तावना संविधान की आत्मा है। अग्रलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तावना को संविधान की आत्मा क्यों कहा जा सकता है?

1. **प्रस्तावना में भारत के भावी स्वरूप का चित्रण मिलता है**–भारत में लगभग दो सौ वर्षों की दासता झेली है। हमारे स्वाधीनता संग्राम में जो आकांक्षायें, मूल्य, विश्वास भावी भारत के लिए निश्चित किये गये उनका चित्रण प्रस्तावना में पूरी तरह परिलक्षित होता है कि नवीन भारत किस प्रकार का होगा।
2. **विश्व में घटित हुई क्रान्तियों का प्रभाव प्रस्तावना पर दृष्टिगोचर होता है**– विश्व में चार प्रमुख क्रान्तियां घटित हुई है इन चारों क्रान्तियों ने राजनीति, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों की नींव डाली है। इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति से संसदीय लोकतंत्र आया, फ्रांस की क्रान्ति से लोकतंत्र के तीन आयाम स्वतंत्रता समानता और भ्रातत्व पर बल दिया गया, अमेरिकी क्रान्ति के द्वारा वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बल दिया गया, सोवियत रुस की क्रान्ति में आर्थिक समानता पर बल दिया। प्रस्ताव में इन चारों के सारतत्व का समावेश मिलता है।
3. **संविधान की प्रस्तावना से नवीन संकल्पनाओं का बोध होता है**–संविधान की प्रस्तावना से संविधान निर्माताओं के आशय स्पष्ट होते हैं कि भारतीय

टिप्पणी

संविधान किन संकल्पनाओं पर आधारित है तथा इसके उद्देश्य क्या है। संविधान की प्रस्तावना में नवीन संकल्पनाओं जैसे समानता, स्वतंत्रता, न्याय आदि जो उल्लेख किया गया है वे संविधान की दिशा निर्धारित करते हैं तथा संविधान के उद्देश्य स्पष्ट करते हैं इससे संविधान को उत्कृष्ट रूप मिलता है।

4. **प्रस्तावना संविधान की कुंजी है**—प्रस्तावना को संविधान की कुंजी या आत्मा इसलिए माना गया है कि क्योंकि संविधान मूल सिद्धान्तों और आधारभूत मूल्यों की स्पष्ट झलक हमें प्रस्तावना में मिलती है। सर्वोच्च न्यायालय ने बेरुबारी विवाद में अपना निर्णय देते हुए स्पष्ट कहा था कि प्रस्तावना संविधान अथवा अधिनियम निर्माताओं का आशय स्पष्ट करने वाली कुंजी है।

5. **प्रस्तावना संविधान की प्रेरणा है**—यद्यपि वैधानिक दृष्टि से प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं है तथापि यह संविधान का प्रेरणा स्रोत है। चूंकि प्रस्तावना में संविधान के मूल सिद्धान्तों और आधारभूत मूल्यों को समाहित किया गया है इसलिये यह संविधान का प्रेरणास्रोत मानी जाती है। संवैधानिक और संसदीय अधिनियमों की व्याख्या इसी में की जा सकती है।

6. **प्रस्तावना किसी विचारधारा से प्रभावित नहीं है**—राजनीति विज्ञान का इतिहास विभिन्न विचारधाराओं से भरा हुआ है। इन विचारधाराओं का पर्याप्त प्रभाव हमें विभिन्न देशों के संविधानों पर मिलता है। अमेरिकी संविधान व्यक्तिवादी और पूंजीवादी दर्शन पर आधारित है जबकि चीन का संविधान साम्यवादी दर्शन पर आधारित है। पूर्व सोवियत संघ का संविधान साम्यवादी और समाजवादी विचारधारा से ओतप्रोत था परन्तु भारतीय संविधान पर किसी विशेष विचारधारा का प्रभाव नहीं मिलता है। अपितु कई विचारधाराओं के श्रेष्ठ तत्वों का समावेश मिलता है। भारतीय संविधान में न्याय के सिद्धान्त, समाजवादी, पूंजीवाद आदि को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप समाहित करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तावना का मूल्यांकन

यद्यपि प्रस्तावना को संविधान का अंग नहीं माना जाता है। न्यायिक दृष्टिकोण से कानून की संज्ञा नहीं दी जा सकती है किन्तु यह पर्याप्त वैधानिक महत्व रखती है। प्रस्तावना का उद्देश्य राजनीति व्यवस्था का लक्ष्य निर्धारित करना एवं उसकी नीति सुनिश्चित करना, किसी भी संवैधानिक या संसदीय अधिनियम की व्याख्या इसके बिना नहीं की जा सकती है। एक वाद के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय ने 1969 में निर्णय सुनाते हुए कहा था कि, "यदि विधानमण्डल द्वारा प्रयुक्त किसी शब्दावली पर कोई सन्देह उत्पन्न हो जाए तो उसे दूर करने का सबसे विश्वसनीय माध्यम यही है कि उसके मूल में निहत भावनाओं, उसके आधार और कानून निर्माण के कारण पर विचार किया जाए तथा संविधान की प्रस्तावना का आश्रय लिया जाये।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संविधान के दार्शनिक तत्व जिनकी अभिव्यक्ति प्रस्तावना में

टिप्पणी

होती है यह मात्र एक संविधान का दर्शन नहीं है। यह एक देश, एक विशाल समाज का दर्शन है और विचारधाराओं का मन्थन है। जिन्हें शब्द रूप में प्रस्तावना में अभिव्यक्ति करने का एक सुन्दर और सफल प्रयास किया गया है।

1.3.2 मौलिक अधिकार और राज्य के नीति–निर्देशक तत्व

वे अधिकार या व्यवस्थाएं जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक और अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं मौलिक अधिकार कहलाते हैं।

निम्न चार आधारों पर व्यक्ति के इन अधिकारों को मौलिक अधिकार कहा जाता है–

1. यह अधिकार व्यक्ति के मानसिक, भौतिक और नैतिक विकास को लिए आवश्यक हैं। इनके अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास नहीं हो सकता है इसलिए यह प्रत्येक नागरिक को बिना भेदभाव के प्रदान किये जाते हैं।
2. इन्हें देश के संविधान में स्थान दिया जाता है तथा इनमें संविधान संशोधन के अतिरिक्त किसी भी प्रकार से परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।
3. मौलिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या शासक वर्ग इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता है।
4. मौलिक अधिकार वादयोग्य हैं। न्यायपालिका इनकी रक्षा हेतु सभी आवश्यक उपाय कर सकती है।

भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों की विशेषताएं

संविधान के भाग 3 में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है। भारतीय संविधान में अमेरिका के संविधान से प्रेरणा लेकर मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है। भारतीय संविधान के अधिकार पत्र की विशेषताएं निम्न हैं–

1. **विश्व का सबसे विस्तृत अधिकार पत्र है**–संविधान के भाग 36 में कुल 23 अनुच्छेद मौलिक अधिकारों से सम्बद्ध है। मौलिक अधिकारों की पूर्ण और स्पष्ट व्याख्या करने के प्रयास में यह अधिकार पत्र इतना विस्तृत हो गया है। अधिकार पत्र में जीवन के हर क्षेत्र को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है। इसमें इन पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों का भी वर्णन है।
2. **प्राकृतिक अधिकारों को कोई मान्यता नहीं दी गई है**–भारत में मौलिक अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त किये जाते हैं अर्थात् संविधान मूल अधिकारों का स्रोत है। संविधान अन्य किसी स्रोत से प्रदत्त नियमों को मान्यता प्रदान नहीं करता है। भारत के संविधान में प्राकृतिक या अगणित अधिकारों का कोई स्थान नहीं है संविधान केवल भाग 3 में वर्णित अधिकारों को ही मान्यता देता है। सर्वोच्च न्यायालय भी संविधान के भाग 3 में वर्णित अधिकारों के सम्बन्ध में कार्यवाही कर सकता है जबकि अमेरिका में वहां का सर्वोच्च न्यायालय मानव विकास के लिए आवश्यक समझे जाने वाले अधिकारों को लागू करा सकता है।

टिप्पणी

3. **मौलिक अधिकार निरंकुश नहीं है**—अमेरिकी संविधान किसी प्रकार का कोई अंकुश नहीं है इससे कभी–कभी राज्य के लिए वैधानिक संकट खड़ा हो जाता है। ऐसी स्थिति से बचाव के लिए संविधान निर्माताओं ने संविधान के द्वारा ही मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा दिये। अमेरिकी संविधान में राज्य के हित को ध्यान में रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय को मौलिक अधिकारों पर उचित नियन्त्रण लगाने की शक्ति प्रदान कर दी गई है। इस प्रकार भारतीय संविधान और अमेरिकी संविधान में मूल अधिकारों पर प्रतिबन्धों की स्थिति एक जैसी है। भारत प्रतिबन्ध प्रत्यक्ष हैं जबकि अमेरिका में अप्रत्यक्ष हैं।

4. **मौलिक अधिकार व्यवहारिक**—भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों को मात्र सैद्धान्तिक दृष्टि से भारत के संविधान में सम्मिलित नहीं किया गया है यह पूर्णतः व्यवहारिक हैं। यह समाज के सभी वर्गों के लिये उपयोगी है। बालकों, स्त्रियों, पिछड़ा वर्ग, दलित वर्ग, अल्पसंख्यकों सभी के लिये विशेष प्रावधानो की व्यवस्था की गई है जिससे उनके हितों की रक्षा की जा सके।

5. **मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिये भी प्रावधान हैं**—भारत के संविधान में मूल अधिकारों की व्यवस्था को यदि निरंकुश नहीं होने दिया गया है तो उनकी रक्षा के लिये भी पर्याप्त उपाय किये गये हैं। इनका स्तर पूर्णतः कानूनी है तथा न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि वह यह सुनिश्चित करे कि नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन न होने पाए। अनुच्छेद 32 में यह व्यवस्था है कि नागरिक अपने मूल अधिकार की रक्षा हेतु न्यायालय की शरण ले सकता है। न्यायिक पुनरावलोकन के सिद्धांत के अनुसार कार्यपालिका, और व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित विधि को न्यायपालिका अमान्य घोषित कर सकती है, यदि वह विधि मूल अधिकारों का अतिक्रमण कर रही हो।

संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार और कर्तव्य

मूलतः संविधान में 7 मौलिक, अधिकारों का उल्लेख किया गया था परन्तु 44वें संविधान संशोधन विधेयक द्वारा (1979) सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया। यह अब एक विधिक अधिकार है। इस प्रकार वर्तमान में संविधान भारतीय नागरिकों को 6 मूल अधिकार प्रदान करता है–

I. समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14 से 18)

II. स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19 से 22)

III. शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 से 24)

IV. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28)

V. संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (अनुच्छेद 29 से 30)

VI. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

टिप्पणी

I. समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14 से 18)

समानता प्रजातन्त्र के तीन आयामों में से एक है, किसी भी सफल प्रजातन्त्र की समानता के अधिकार के अभाव में कल्पना नहीं की जा सकती है। भारतीय संविधान के द्वारा नागरिकों को कई प्रकार से समानता प्रदान करने का प्रयास किया गया है।

(i) कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 में स्पष्ट उल्लेख है कि, ''भारत, राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समानता से या विधायों के समान संरक्षण से वंचित नहीं किया जाएगा।'' उपर्युक्त वाक्य में दो वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है– प्रथम– 'विधि के समक्ष समानता' और दूसरा–'विधियों के समान संरक्षण।' प्रथम वाक्यांश 'विधि के समक्ष समानता' ब्रिटिश संविधान से प्रेरित है, इसका स्पष्ट अर्थ है–विधि का शासन जबकि दूसरा वाक्यांश 'विधियों के समान संरक्षण' अमेरिकी संविधान से प्रेरित है यह नागरिकों को आश्वासन देता है कि सभी के साथ समान परिस्थितियों में समान व्यवहार किया जायेगा। इसका तात्पर्य है कि अपने अधिकारों की रक्षा हेतु कोई भी नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। सिद्धान्त रूप दोनों में कोई अन्तर या भेद हो सकता है परन्तु व्यवहारिक रूप से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अनुच्छेद 14 में वर्णित विधि का शासन संविधान के आधारभूत ढांचे का अत्यावश्यक तत्व है इसे अनुच्छेद 368 के द्वारा संविधान में संशोधन करके न तो परिवर्तित किया जा सकता है और न समाप्त किया जा सकता है।

(ii) धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म–स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध (अनुच्छेद 15)

अनुच्छेद 15 में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि, ''धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर यह अधिकार केवल भारत के नागरिकों को प्रदान किया जाता है किसी भी विदेशी को यह अधिकार प्रदान नहीं किया जा सकता है। इसके अनुसार सभी नागरिकों को दुकानों, भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक स्थानों पर प्रवेश का अधिकार होगा। ऐसे कुंओं, तालाबों, स्नानघरों, सड़कों और सार्वजनिक स्थानों के उपयोग का अधिकार होगा जिनकी पूर्ण या आंशिक व्यवस्था राज्य की निधियों से की जाती है। यह अनुच्छेद देश में सामाजिक न्याय की स्थापना करने की दिशा में एक ठोस पहल करता है।

(iii) राज्य के अधीन नौकरियों के समान अवसर (अनुच्छेद 16)

यह अनुच्छेद 5 भागों में विभक्त है अनुच्छेद 16(1) में वर्णित है कि ''राज्याधीन नौकरियां या पदों पर नियुक्ति अनुच्देद 16(2) में लिखा है कि ''धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव जन्म स्थान, निवास या इनमें से किसी एक आधार पर किसी एक नागरिक के लिये राज्य के अधीन नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जाएगा।''

टिप्पणी

अनुच्छेद 16 के आगे के तीन भागों में इसके अपवादों पर वर्णन किया गया है। अतः यह माना जा सकता है कि नागरिक को केवल राज्य के अधीन ही नौकरियों के अवसरों में समानता का अधिकार प्राप्त है।

(iv) अस्पृश्यता का निषेध (अनुच्छेद 17)

संविधान की प्रस्तावना में वर्णित सामाजिक को पूर्ण रूप से प्रतिस्थापित करने के लिए अनुच्छेद 17 के द्वारा अस्पृश्यता का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 17 के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि ''अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता को लागू करना एक एक दण्डनीय अपराध है।'' इसी अनुच्छेद के उद्देश्य की पूर्ति हेतु संसद ने 1955 में 'अस्पृश्यता निवारक अधिनियम' पारित किया। इस कानून के अनुसार अस्पृश्यता एक दण्डनीय अपराध है।

(v) उपाधियों का निषेध (अनुच्छेद 18)

इस अनुच्छेद की व्यवस्था संविधान में सामाजिक जीवन में जो भेदभाव व्याप्त था इसी निर्मूलन करने के लिए की गई थी। ब्रिटिश शासनकाल में तुष्टीकरण की नीति अपनाते हुए ब्रिटिश शासकों ने सम्पत्ति और प्रभाव से समाज में भेदभाव व्याप्त हो गया था अतः भारत के संविधान में इनका निषेध कर दिया गया। अनुच्छेद 18 में व्यवस्था की गई कि ''सेना या विद्या सम्बन्धी उपाधियों के अलावा राज्य अन्य कोई उपाधियां प्रदान नहीं कर सकता है।'' कोई भारतीय नागरिक राष्ट्रपति की अनुमति के बिना किसी दूसरे राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता।

भारत सरकार विभिन्न क्षेत्रों में उत्कृष्ट योगदान देने के लिये भारतीय नागरिकों को भारत रत्न, पद्मविभूषण, पद्मभूषण और पद्मश्री जैसी उपाधियों से विभूषित करती है। 1977 में जनता पार्टी सरकार के गठन के उपरान्त भारत के महान्यायवादी ने परामर्श दिया कि ये उपाधियां अनुच्छेद 18 के अनुरूप नहीं है अतः इन्हें समाप्त कर दिया जाना चाहिये। जुलाई 1977 में संसद के द्वारा एक विधेयक पारित करके इन उपाधियों को समाप्त कर दिया गया। सन् 1980 में सत्ता परिवर्तन के उपरान्त संसद द्वारा पुनः एक विधेयक पारित करके उपाधियां प्रदान करने की व्यवस्था को पुनः आरंभ कर दिया गया।

II. स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19 से 22)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में स्वतंत्रता शब्द का प्रयोग किया है। स्वतंत्रता को एक उद्देश्य की भांति प्राप्त करना संविधान का लक्ष्य है बिना स्वतंत्रता के लोकतंत्र स्थापित नहीं किया जा सकता है। भारतीय संविधान, नागरिकों को विविध स्वतंत्रताएं प्रदान करता है। जैसे–विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास धर्म और उपासना इत्यादि। 1950 में जब संविधान लागू हुआ तब अनुच्छेद 19(1) में स्वतंत्रताएं प्रदान की गई थी परंतु 44 वें संशोधन के द्वारा 'सम्पत्ति की स्वतंत्रता' को समाप्त कर दिया गया और इसके साथ ही नागरिकों के लिये स्वतंत्रताएं 6 रह गई।

टिप्पणी

(अ) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19(1))–भारत के सभी नागरिकों को विचारों की, भाषण देने की तथा विचार अभिव्यक्ति करने की स्वतंत्रता है। प्रेस, की स्वतंत्रता भी इसी स्वतंत्रता में शामिल है। मूल संविधान में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षेत्र बहुत व्यापक था। इसके दुष्परिणामों के कारण इसे सीमित कर दिया गया जैसे–अपमानित करने वाले लेख और वचन, न्यायालय की अवमानना, व्यक्ति की गरिमा पर आघात तथा राष्ट्रीय सुरक्षा और हित पर दुष्प्रभाव के कारण इसे सीमित किया गया। संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा निम्न आधारों पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे–राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार, न्यायालय की अवमानना, मानहानि या अपराध के लिये उत्तेजित करना। 1963 में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर एक और प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि यदि कोई व्यक्ति भारत के किसी भाग को अलग करवाने का प्रचार करे, तो राज्य के द्वारा इसकी विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित या प्रतिबन्धित किया जा सकता है। निम्न आधारों पर विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं–

(i) राज्य की सुरक्षा

(ii) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के आधार पर

(iii) लोक व्यवस्था

(iv) शिष्टाचार या सदाचार के हित में

(v) न्यायालय की अवमानना

(vi) मानहानि

(vii) अपराध करने के लिए उत्तेजित करने पर

(viii) भारत की सम्प्रभुता और अखण्डता के मुद्दे पर

प्रेस विचार और अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। 1975 के आपातकाल में प्रेस पर राज्य और विधानमण्डलों की गतिविधियों को प्रकाशित करने पर पाबन्दी लगा दी थी परन्तु 44वें संविधान संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था कर दी गई कि प्रेस संसद और विधानसभाओं की कार्यवाहियों का प्रकाशन पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कर सकती है। यह प्रावधान दूरदर्शन पर भी लागू होता है।

अनुच्छेद 19(1) (क) के अन्तर्गत हड़ताल करने का अधिकार कोई मूल अधिकार नहीं है अतः हड़ताल करने वालों को रोका जा सकता है। प्रदर्शन और हड़ताल में व्यापक अन्तर है जब प्रदर्शन हड़ताल का रूप ले लेता है तब वह मात्र विचार अभिव्यक्ति का साधन न रहकर दूसरा रूप धारण कर लेता है।

(i) अस्त्र–शस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्वक सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता–अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने तथा उनका प्रचार करने के उद्देश्य से कोई भी

टिप्पणी

व्यक्ति या व्यक्ति समूह बिना अस्त्र–शस्त्र के शान्तिपूर्वक रूप से सभा या सम्मेलन कर सकता है अथवा जुलूस या प्रदर्शन के माध्यम से अपने विचार व्यक्त कर सकता है। यह स्वतन्त्रता भी असीमित नहीं है, सार्वजनिक सुरक्षा के हित को ध्यान में रखते हुए राज्य इस स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(ii) संघ और समुदाय निर्माण करने की स्वतन्त्रता–संविधान सभी नागरिकों को संघ अथवा समुदाय निर्माण करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। इस स्वतंत्रता को भी सीमित किया जा सकता है, राज्य सामान्य जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए इस स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस स्वतन्त्रता का लाभ उठाते हुए कोई व्यक्ति ऐसे संगठन का निर्माण नहीं कर सकता जिससे शान्ति और व्यवस्था भंग हो।

(iii) भारत राज्य क्षेत्र में अबाध रूप से भ्रमण करने की स्वतंत्रता–सभी भारतीय नागरिक भारत के क्षेत्र में बिना किसी विशेष अनुमति के निर्बाध रूप से भ्रमण कर सकते हैं। इस अधिकार को राज्य सामान्य जनता के हित, राष्ट्रीय सुरक्षा और जनजातियों के मुद्दों को ध्यान में रखते हुए सीमित कर सकता है।

(iv) भारत राज्य में अबाध रूप से निवास करने की स्वतंत्रता–भारत का संविधान अपने नागरिकों को इकहरी नागरिकता प्रदान करता है इस प्रकार भारत क्षेत्र में नागरिक अपनी इच्छा के अनुसार कहीं भी स्थाई या अस्थाई रूप से निवास करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इस स्वतन्त्रता को भी राष्ट्रीय हित, जनता के हित और जन जातियों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रतिबन्धित किया जा सकता है।

(v) आजीविका या व्यापार करने की स्वतन्त्रता–संविधान सभी नागरिकों को अपनी आजीविका, व्यापार या व्यवसाय के संबंध में स्वतंत्रता प्रदान करता है। किन्तु जनता और राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए इन स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। राज्य किन्हीं व्यवसायों के लिये योग्यताएं निर्धारित कर सकता है, किसी उद्योग या कारोबार को पूर्ण या आंशिक रूप से अपने नियंत्रण में ले सकता है।

संविधान द्वारा प्रदत्त की गईं उपर्युक्त स्वतन्त्रताएं असीमित नहीं है इनमें से प्रत्येक स्वतंत्रता लगाएं गए हैं। बुद्धिजीवी वर्ग स्वतंत्रताओं पर लगाये प्रतिबन्धों की जितनी चाहे आलोचना करे किन्तु सभ्य समाज में निरंकुश स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। संविधान द्वारा प्रदत्त इन स्वतंत्रताओं पर केवल मुक्तिसंगत प्रतिबन्ध ही लगाये जा सकते हैं तथा प्रतिबन्धों के औचित्य का निर्णय न्यायालय करेगा। 'मद्रास राज्य बनाम बी. जी. राव' तथा 'रशीद अहमद बनाम केन्द्र सरकार' तथा और भी कोई विवादों से स्पष्ट होता है कि न्यायालय के द्वारा व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के अनुचित नियंत्रणों से नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा की गई है।

42वें संविधान संशोधन (1976) में संसद को राष्ट्र विरोधी समुदाय और गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति दे दी गयी थी परन्तु इस आशंका से कि शासक दल

इसका दुरुपयोग कर सकता है, 43वें संशोधन में संसद की इस शक्ति को समाप्त कर दिया गया।

टिप्पणी

(ब) अपराध की दोषसिद्धि संबंधी संरक्षण (अनुच्छेद 20)

संविधान के अनुच्छेद 20 में उल्लेख किया गया है कि, ''किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो।'' एक व्यक्ति को एक अपराध के लिए एक बार ही दण्डित किया जा सकता है तथा किसी अपराध की सिद्धि के मामले में आरोपी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

(स (i)) व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा जीवन सुरक्षा (अनुच्छेद 21)

इस अनुच्छेद को 'जीवन का अधिकार' के रूप में भी जाना जाता है। इसमें उल्लिखित है कि ''किसी व्यक्ति को उसके प्राण तथा दैहिक स्वतन्त्रता विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।'' 44वें संविधान संशोधन (1979) में इस अधिकार को और अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अब आपातकाल में भी व्यक्ति के जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को न तो समाप्त किया जा सकता है और न ही सीमित किया जा सकता है।

(ii) शिक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 21 (क))

संविधान (छियासीवां संशोधन) अधिनियम, 2002 ने भारत के संविधान में अंतः स्थापित अनुच्छेद 21–क, ऐसे ढंग से जैसाकि राज्य कानून द्वारा निर्धारित करता है, मौलिक अधिकार के रूप में छह से चौदह वर्ष के आयु समूह में सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करता है।

निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा (आरटीई) अधिनियम, 2009 में बच्चों का अधिकार, (जो अनुच्छेद 21क के तहत परिणामी विधान का प्रतिनिधित्व करता है) : का अर्थ है कि औपचारिक स्कूल, जो कतिपय अनिवार्य मानदण्डों और मानकों को पूरा करता है, में संतोषजनक और एकसमान गुणवत्ता वाली पूर्णकालिक प्रारंभिक शिक्षा के लिए प्रत्येक बच्चे का अधिकार है।

अनुच्छेद 21–क और आरटीई अधिनियम 1 अप्रैल, 2010 को लागू हुआ। आरटीई अधिनियम के शीर्षक में ''निःशुल्क और अनिवार्य'' शब्द सम्मिलित हैं। 'निःशुल्क शिक्षा' का तात्पर्य यह है कि किसी बच्चे जिसको उसके माता–पिता द्वारा स्कूल में दाखिल किया गया है, को छोड़कर कोई बच्चा, जो उचित सरकार द्वारा समर्थित नहीं है, किसी किस्म की फीस या प्रभार या व्यय जो प्रारंभिक शिक्षा जारी रखने और पूरा करने से उसको रोके अदा करने के लिए उत्तरदायी नहीं होगा।

'अनिवार्य शिक्षा' उचित सरकार और स्थानीय प्राधिकारियों पर 6–14 आयु समूह के सभी बच्चों को प्रवेश, उपस्थिति और प्रारंभिक शिक्षा को पूरा करने का प्रावधान करने और सुनिश्चित करने की बाध्यता रखती है। इससे भारत अधिकार आधारित ढांचे के लिए आगे बढ़ा है जो आरटीई अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार संविधान के अनुच्छेद

21–क में यथा प्रतिष्ठापित बच्चे के इस मौलिक अधिकार को क्रियान्वित करने के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों पर कानूनी बाध्यता रखता है।

आरटीई अधिनियम के तहत निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं :

टिप्पणी

- किसी पड़ौस के स्कूल में प्रारंभिक शिक्षा पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के लिए बच्चों का अधिकार।
- छह से चौदह आयु समूह के प्रत्येक बच्चे को निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने और अनिवार्य प्रवेश, उपस्थिति और प्रारंभिक शिक्षा को पूरा करने को सुनिश्चित करने के लिए सरकार बाध्य है। 'निःशुल्क' का तात्पर्य यह है कि कोई भी बच्चा प्रारंभिक शिक्षा को जारी रखने और पूरा करने से रोकने वाली फीस या प्रभारों या व्ययों को अदा करने का उत्तरदायी नहीं होगा।
- यह गैर–प्रवेश दिए गए बच्चे के लिए उचित आयु कक्षा में प्रवेश किए जाने का प्रावधान करता है।
- यह निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने में उचित सकारों, स्थानीय प्राधिकारी और अभिभावकों कर्त्तव्यों और दायित्वों और केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच वित्तीय और अन्य जिम्मेदारियों को विनिर्दिष्ट करता है।
- यह, अन्यों के साथ–साथ, छात्र–शिक्षक अनुपात (पीटीआर), भवन और अवसंरचना, स्कूल के कार्य दिवस, शिक्षक के कार्य के घंटों से संबंधित मानदण्डों और मानकों को निर्धारित करता है।
- यह राज्य या जिले अथवा ब्लॉक के लिए केवल औसत की बजाए प्रत्येक स्कूल के लिए रखे जाने वाले छात्र और शिक्षक के विनिर्दिष्ट अनुपात को सुनिश्चित करके अध्यापकों की तैनाती के लिए प्रावधान करता है, इस प्रकार यह अध्यापकों की तैनाती में किसी शहरी–ग्रामीण संतुलन को सुनिश्चित करता है। यह दसवर्षीय जनगणना, स्थानीय प्राधिकरण, राज्य विधान सभा और संसद के लिए चुनाव और आपदा राहत को छोड़कर गैर–शैक्षिक कार्य के लिए अध्यापकों की तैनाती का भी निषेध करता है।
- यह उपयुक्त रूप से प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति के लिए प्रावधान करता है अर्थात अपेक्षित प्रवेश और शैक्षिक योग्यताओं के साथ अध्यापक की नियुक्ति।
- यह (क) शारीरिक दंड और मानसिक उत्पीड़न; (ख) बच्चों के प्रवेश के लिए अनुवीक्षण प्रक्रियाएं; (ग) प्रति व्यक्ति शुल्क; (घ) अध्यापकों द्वारा निजी ट्यूशन और (ङ) बिना मान्यता के स्कूलों को चलाना निषिद्ध करता है।
- यह संविधान में प्रतिष्ठापित मूल्यों के अनुरूप पाठ्यक्रम के विकास के लिए प्रावधान करता है; जो बच्चे के समग्र विकास, बच्चे के ज्ञान, संभाव्यता और प्रतिभा निखारने तथा बच्चे की मित्रवत प्रणाली एवं बच्चा केन्द्रित ज्ञान की प्रणाली के माध्यम से बच्चे को डर, चोट और चिंता से मुक्त बनाना सुनिश्चित करेगा।

टिप्पणी

(द) बन्दीकरण की अवस्था में संरक्षण (अनुच्छेद 22)

अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्ति को भी कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं इसके अनुसार बिना कारण बताये बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्ति को अधिक समय तक बन्दीगृह में नहीं रखा जा सकता है। उसे वकील से परामर्श करने तथा अपने लिए बचाव करने का अधिकार होगा। बन्दी बनाये जाने के 24 घण्टे के अन्दर–अन्दर (इसमें न्यायालय तक जाने का समय शामिल होगा) उसे निकटतम न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा। अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत ही बन्दी बनाये गए व्यक्ति को जो अधिकार प्रदान किए गए हैं वे दो प्रकार के अभियुक्तों पर लागू नहीं होंगे– (1) शत्रु देश के निवासियों पर और, (2) निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत बन्दी बनाये गये अभियुक्त पर।

निवारक निरोध

अनुच्छेद 22 के खण्ड 4 में निवारक निरोध की चर्चा की गई है। यह चर्चा खण्ड 4 से 7 तक विस्तार से की गई है। यह भारतीय संविधान की सबसे अधिक विवादास्पद धाराओं में से है। यद्यपि संविधान में निवारक निरोध की कोई परिभाषा तय नहीं की गई है किन्तु यह कहा जा सकता है कि निवारक निरोध किसी अपराध के किये जाने से पहले तथा बिना किसी न्यायिक कार्यवाही के ही नजरबन्दी है।

निवारक निरोध सामान्यकाल और संकटकाल दोनों में लागू होता है। भारत के अतिरिक्त किसी अन्य प्रजातन्त्र में यह व्यवस्था नहीं है। ब्रिटेन और अमेरिका में युद्धकाल में निवारक निरोध की व्यवस्था को अपनाया जाता है। भारत में यह व्यवस्था दोनों समय के लिये है। निवारक के लिये अंग्रेजी भाषा के शब्द (Preventive) का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ होता है, 'रोकना'। अर्थात् निवारक निरोध का उद्देश्य दण्ड देने के उद्देश्य से गिरफ्तार करना है वरन् उसे अपराध करने से रोकना है अर्थात् निरुद्ध व्यक्ति को किसी निश्चित उद्देश्य को पूरा करने से रोकना है। इसमें निरुद्ध व्यक्ति पर कोई आरोप नहीं लगाया जाता है। यह कार्यवाही अपराध को रोकने के लिये की जाती है, इसमें केवल एक के आधार पर व्यक्ति को गिरफ्तार किया जाता है। अनुच्छेद 22 के (4 से 7) के अन्तर्गत निवारक निरोध के अन्तर्गत बन्दी बनाये गये व्यक्ति जो संरक्षण प्रदान किये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं–

1. परामर्शदाता मण्डल द्वारा पुनरावलोकन,
2. बन्दी बनाये जाने का कारण जानने एवं अभ्यावेदन प्रस्तुत करने का अधिकार
3. परामर्शदाता मण्डल की प्रक्रिया।

निवारक निरोध अधिनियम

अनुच्छेद 22 के भाग 4, 5 और 6 के अन्तर्गत निवारक निरोध का जो उल्लेख किया गया है उसी के आधार पर संसद ने सन् 1950 पर इस अधिनियम की समयावधि बढ़ाई जाती रही और यह अधिनियम 31 दिसंबर, 1969 तक चला।

टिप्पणी

आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम, (1971)

इसे साधारण बोलचाल की भाषा में 'मीसा' भी कहते हैं। 7 मई 1971 को राष्ट्रपति ने अध्यादेश के रूप में जारी किया तथा जून 1971 में इसने कानून का रूप ले लिया। इसके प्रावधान निवारक निरोध अधिनियम से भी कठोर है। मीसा (MISA) के अन्तर्गत परामर्शदाता मण्डल के परामर्श के बिना निरुद्ध व्यक्ति को अधिक से अधिक 21 माह तक नजरबन्द अवधि एक वर्ष थी।

निवारक निरोध की वर्तमान स्थिति

1975 में देश में आपातकाल की घोषणा होने के साथ ही निवारक निरोध और मीसा को व्यापक विस्तार मिल गया था। जिस प्रकार इनका दुरुपयोग हुआ उससे यह मांग उठने लगी कि शान्तिकाल में निवारक निरोध को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। दिसम्बर, 1978 को इस संबंध में दिल्ली में राज्यों के मुख्यमंत्रियों की जो बैठक हुई उसमें सर्वसम्मति से यह विचार व्यक्त किया गया कि, ''राज्य सरकारों के द्वारा कानून और व्यवस्था बनाये रखने का कार्य निवारक निरोध कानून के अभाव में नहीं किया जा सकता।''

44वें संविधान संशोधन 1978 के द्वारा अनुच्छेद 22(4) में महत्वपूर्ण संशोधन किये गये। अनुच्छेद 22 का खण्ड (4) (ब) यह उपबन्धित करता है कि निरोध किसी भी दशा में उस अधिकतम अवधि से अधिक नहीं हो सकता है जो संसद विधि द्वारा इस प्रकार के मामलों में निरुद्ध व्यक्तियों के वर्गों के लिए विहित करेगी। 44वें संशोधन द्वारा यह भी सुनिश्चित कर दिया गया है कि 'निवारक नजरबन्दी' संबंधी कानून किसी भी दशा में 2 महीने से अधिक की अवधि के लिए नजरबन्द रखने का अधिकार नहीं दे सकता जब तक कि एक परामर्शदाता मण्डल नजरबन्दी के पर्याप्त कारण बताते हुए उसकी स्वीकृति ने दे दी। अनुच्छेद 22 (5) के अनुसार यह आवश्यक है कि निरुद्ध व्यक्ति को यथाशीघ्र बन्दी बनाये जाने के कारणों की जानकारी दी जानी चाहिए तथा यह अवसर दिया जाना चाहिए कि वह उन कारणों को न्यायालय में चुनौती दे सके। अनुच्छेद 22 (6) के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि जनहित के आधार पर निरोध के कारण बताने से इंकार किया जा सकता है।

III. शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 से 24 तक)

अनुच्छेद 23 में मानव का दुर्व्यापार और बेगार या इसी प्रकार के अन्य बलात किये जाने वाले श्रम को निषिद्ध ठहराता है। इस अनुच्छेद का उल्लंघन करना दण्डनीय अपराध है। इसके अनुसार न केवल 'बेगार' बल्कि जबरदस्ती किये जाने वाले कार्य वर्जित हैं क्योंकि ये मानव की गरिमा व प्रतिष्ठा को आघात पहुंचाते हैं। अनुच्छेद 23 प्रत्येक, प्रकार के बलात श्रम को वर्जित ठहराता है यह इन दोनों स्थितियों में कोई भेद नहीं करता कि बलात श्रम के लिए पारिश्रमिक दिया गया है या नहीं। यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के विरुद्ध या दबाव में कार्य करता है, चाहें वह वह पारिश्रमिक पर कार्य कर रहा हो वह भी बलात श्रम की विधिक, सामाजिक कैसा भी हो सकता है।

टिप्पणी

अनुच्छेद 23 के अन्तर्गत 'मानव दुर्व्यापार' एक बहुत ही विस्तृत शब्दावली है। भारतवर्ष में दासप्रथा का इतिहास बहुत प्राचीन है यह कई रूपों में विद्यमान रही है हरिजन, खेतिहर, श्रमिक, स्त्रियां इससे सबसे अधिक प्रभावित रहे हैं। अतः संविधान में शोषण के विभिन्न रूपों का समाज से उन्मूलन करने के उद्देश्य से मानवीय शोषण के इन रूपों को दण्डनीय घोषित कर दिया गया। 'मानव दुर्व्यापार' के अन्तर्गत मुख्य तौर पर न केवल मनुष्यों या स्त्रियों को वस्तुओं की भांति क्रय–विक्रय करना बल्कि स्त्रियों और बालकों के अनैतिक व्यापार का भी निषेध किया गया है, किसी भी ऐसे अन्य प्रयोजनों में उन्हें शामिल नहीं किया जा सकता है। इस अनुच्छेद में यद्यपि दास प्रथा का उल्लेख नहीं है किन्तु दास प्रथा मानव दुर्व्यापार का ही एक रूप है इसलिए इसके प्रावधान निश्चित रूप से उस पर लागू होंगे।

अनुच्छेद 23 का एक अपवाद भी है कि राज्य किसी सार्वजनिक उद्देश्य से अनिवार्य श्रम योजना लागू कर सकता है, ऐसा करते समय व राज्य के नागरिकों के धर्म, जाति, मूलवंश, जन्म स्थान, वर्ण या सामाजिक स्तर का भेदभाव नहीं करेगा।

अनुच्छेद 24 के अन्तर्गत 14 वर्ष से कम की आयु वाले किसी भी बालक को कारखानों, खानों या अन्य जोखिम भरे कामों में संलग्न नहीं किया जा सकता है। यह अनुच्छेद स्पष्ट रूप से बाल श्रम का निषेध करता है। यह प्रत्यक्ष रूप से अनुच्छेद 45 से संबंध रखता है जिसमें 14 वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है।

IV. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28)

भारत एक ऐसा देश है जहां विभिन्नताएं लगभग हर क्षेत्र में व्याप्त हैं। यही स्थिति धर्म की भी है। भारतवर्ष में अनेक धर्मावलम्बियों, मत–मतान्तरों को मानने वालों का निवास है। ऐसी स्थिति में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार गतिरोधों की स्थिति उत्पन्न होने से बचाव करता है। धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का अपना विशेष महत्व है। भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता संबंधी आदर्श स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता संबंधी चार आदर्श दृष्टिगत होते हैं–

(i) राज्य न तो अपने आपको किसी धर्म से संबद्ध करेगा और न ही किसी धर्म विशेष के अधीन रहेगा।

(ii) राज्य किसी भी व्यक्ति को धर्म के संबंध में उन्मुक्ति प्रदान नहीं करेगा।

(iii) किसी भी व्यक्ति के साथ राज्य, धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा।

(iv) राज्य के अधीन पद प्राप्त करने के लिए सभी धर्मों के अनुयायी समान रूप से अर्ह होंगे।

अन्तःकरण की स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 25)

अनुच्छेद 25 के अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थय तथा इस भाग के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा

टिप्पणी

अपने विश्वास के अनुरूप किसी भी धर्म को अंगीकृत करने, उसका अनुसरण करने तथा उसका प्रचार करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा।

धार्मिक मामलों का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 26)

अनुच्छेद 26 सभी धर्मों के अनुयायियों को लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए निम्न अधिकार प्रदान करता है।

(i) धार्मिक संस्थाओं तथा दान से स्थापित सार्वजनिक सेवा संस्थानों तथा दान से स्थापित सार्वजनिक सेवा संस्थानों की स्थापना तथा उनके पोषण का अधिकार।

(ii) धर्म संबंधी निजी मामलों में स्वयं प्रबंधन का अधिकार।

(iii) चल और अचल सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार।

(iv) उक्त सम्पत्ति का विधि के अनुसार संचालन करने का अधिकार।

धार्मिक व्यय के लिये निश्चित राशि पर कर आदायगी में छूट (अनुच्छेद 27)

अनुच्छेद 27 में उल्लिखित है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है जिसकी आय किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय की उन्नति या संचालन में खर्च करने के लिए विशेष रूप से निश्चित की गयी है।

राजकीय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा निषिद्ध (अनुच्छेद 28)

भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। यहां न तो कोई धर्म राज्य से सम्बद्ध है न ही राज्य किसी धर्म के अधीन है। अतः अनुच्छेद 28 में व्यवस्था की गई है कि–

(i) राज्य निधि से पूर्णतः पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।

(ii) खण्ड (1) की यह व्यवस्था ऐसी शिक्षा संस्था पर लागू नहीं होगी जिसका प्रशासन राज्य करता है किन्तु वह किसी ऐसे न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसका उद्देश्य ही धार्मिक शिक्षा प्रदान करना है।

(iii) राज्य से मान्यता प्राप्त या सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं में उपस्थित होने वाले किसी भी व्यक्ति को संस्था द्वारा प्रदान की जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने या उपस्थित होने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जा सकता है जब तक कि वह स्वयं अपनी सहमति न दे दे और यदि वह अवयस्क है तो इसके संरक्षक सहमति न दे दे।

V. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 29 से 30)

भारत एक विविधताओं से भरा हुआ देश है यहां निम्न संस्कृतियों को मानने वाले रहते हैं अतः ऐसे अलपसंख्यक समूहों की सांस्कृतिक धरोहर को बचाये रखने के लिए

टिप्पणी

अनुच्छेद 29 और 30 में भारत के सभी नागरिकों को संस्कृति और शिक्षा का अधिकार दिया गया है।

अनुच्छेद 29—नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का अधिकार प्रदान करता है। किसी राज्य द्वारा पोषित अथवा राजकीय संस्था में शिक्षा हेतु प्रवेश के संबंध में मूलवंश, जाति, धर्म, भाषा या किसी और आधार भेदभाव नहीं किया जायेगा।

शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार अल्पसंख्यकों को होगा अनुच्छेद 30—धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना तथा उसके प्रशासन का अधिकार होगा। शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा कि यह धर्म और भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन है।

VI. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

भारतीय संविधान में मूल अधिकारों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है और उसमें भी अनुच्छेद 32 में वर्णित संवैधानिक उपचारों का अधिकार विशेष महत्व रखता है। इसके अभाव में मौलिक अधिकार अर्थहीन सिद्ध होंगे। संवैधानिक उपचारों के अधिकार से तात्पर्य यह है कि नागरिक अधिकारों को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय की शरण में जा सकते हैं। इन न्यायालयों को संविधान यह अधिकार प्रदान करता है कि कार्यपालिका के कार्यों को अवैधानिक घोषित करें जो अधिकारों के विरुद्ध हों। इस प्रकार इसे संविधान की आत्मा भी कहा जा सकता है। उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित निर्देशत आदेश, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा, उत्प्रेषण और इसी के समान अन्य रिटों को जारी करने की शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार यह अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय को मूल अधिकारों का सजग प्रहरी बना देता है। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए पांच प्रकार के रिट जारी किये जा सकते हैं ये निम्न हैं–

(i) **बन्दी प्रत्यक्षीकरण**–'हेबियस कार्पस' का शाब्दिक अर्थ है 'सशरीर प्राप्त करना'। इस रिट के द्वारा न्यायालय व्यक्ति को सशरीर अपने सामने उपस्थित कराता है जिससे न्यायालय उसके बन्दी बनाये जाने के कारणों को जान सके। यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है जो यह समझता है कि उसे अनुचित कारणों से बन्दी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय बन्दीकरण करने वाले अधिकारी को आदेश देता है कि वह बन्दी बनाये गये व्यक्ति को निश्चित समय और स्थान पर उपस्थित करे जिसे न्यायालय बन्दी बनाये जाने के कारणों पर विचार कर सके। दोनों पक्षों को सुनने के उपरान्त न्यायालय निर्णय लेता है कि बन्दीकरण वैध हैं या अवैध है, यदि अवैध है तो वह बन्दी को तुरन्त मुक्त करने का आदेश देता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए सर्वाधिक

टिप्पणी

महत्वपूर्ण रिट हैं। किसी भी निवारक निरोध के अन्तर्गत नजरबन्द किये गये व्यक्ति के लिए न्यायालय यह रिट जारी नहीं कर सकता है।

(ii) **परमादेश** –'मैन्डेमस' का शाब्दिक अर्थ है 'हम आज्ञा देते हैं'। न्यायालय के इस आदेश द्वारा किसी व्यक्ति अथवा संस्था को उसके कर्तव्य पालन की आज्ञा दी जाती है। यह रिट उस समय जारी किया जाता है जब कोई पदाधिकारी या सार्वजनिक संस्था अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करती। भारत में यह रिट उन अधिकारियों और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध भी जारी किया जा सकता है जो किसी सार्वजनिक कर्तव्य से जुड़े होते हैं और सरकार के विरुद्ध भी इसे जारी किया जा सकता है। यह रिट निचले न्यायालयों न्यायिक निकायों के विरुद्ध भी जारी की जा सकती है।

परमादेश निम्नलिखित व्यक्तियों के विरुद्ध जारी नहीं किया जा सकता।

(i) यह राष्ट्रपति या राज्यपाल के विरुद्ध जारी नहीं किया जा सकता है।

(ii) परमादेश किसी निजी व्यक्ति या निकाय को जारी नहीं किया जा सकता है।

(iii) **प्रतिषेध** –'प्रोहिविशन' का अर्थ होता है 'निषेध करना या मना करना।' यह लेख सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों द्वारा निम्न न्यायालयों या अर्थ–न्यायिक न्यायाधिकरणों को जारी किया जाता है। इसे जारी करने का उद्देश्य अधीन न्यायालय को उसके अधिकार क्षेत्र के बाहर कार्य करने से रोकना होता है। इसे जारी करते हुए आदेश दिया जाता है कि वह अपने यहां चल रही कार्यवाही स्थगित कर दे क्योंकि यह मामला उनके अधिकार क्षेत्र के बाहर है। प्रतिषेध की प्रकृति निष्क्रय बनाने वाली होती है।

(iv) **उत्प्रेषण** – इस लेख का अर्थ है–'और अधिक सूचित करना।' यह लेख अधिकतर उच्च न्यायालयों द्वारा अधीन न्यायालयों को भेजा जाता है जिसमें अधीन न्यायालय से संबंधित मामले के दस्तावेज मांगे जाते हैं। इस आज्ञापत्र के आधार पर उच्च न्यायालय से विचाराधीन विवादों के संबंध में सूचना तो प्राप्त कर ही सकते हैं साथ ही साथ निम्न न्यायालय को अपनी शक्तियों का उपयोग सीमा में रहते हुए करने का संकते भी देते हैं जिससे न्याय के प्राकृतिक सिद्धान्त भंग न हो।

(v) **अधिकार पृच्छा** – इस आज्ञापत्र के माध्यम से न्यायालय किसी व्यक्ति को ऐसे सार्वजनिक पद पर कार्य करने से रोकता है जिसके लिए वह वैधानिक रूप से योग्य नहीं है। न्यायालय अधिकार पृच्छा के आज्ञापत्र के माध्यम से उससे पूछता है कि वह किस आधार पर अमुक पद पर कार्य कर रहा है और जब तक वह उस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता है, वह उस पद पर कार्य नहीं कर सकता है।

टिप्पणी

सामान्य परिस्थितियों में व्यक्ति न्यायालय की शरण लेकर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है परन्तु अशान्ति काल अर्थात् युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह जैसी परिस्थितियों या राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल घोषणा करने की स्थिति में मूल अधिकारों के प्रश्न को लेकर न्यायालय की शरण नहीं ली जा सकती है। संकट काल में जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को छोड़कर सभी मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था संविधान में है।

मूल अधिकारों पर प्रतिबंध की अवस्थाएं

संविधान में इन परिस्थितियों का भी स्पष्ट उल्लेख है जिनमें राष्ट्रहित में मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। ये अवस्थाएं निम्नलिखित हैं–

1. **प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों के संबंध में (अनुच्छेद 33)**–अनुच्छेद 33 के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह विधि बनाकर प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों के मूल अधिकारों इस सीमा तक प्रतिबन्धित कर दे या समाप्त कर दे ताकि वह अपने कर्तव्यों का उचित प्रकार से पालन कर सके और उनमें अनुशासन बना रहे। अनुच्छेद 33 के प्रयोग से संसद ने अनेक अधिनियम पारित किये हैं जैसे– सेना अधिनियम 1950, वायु सेना अधिनियम 1950, नौ सेना अधिनियम 1950।
2. **जब मार्शल लॉ लागू हो (अनुच्छेद 34)**–अनुच्छेद 34 में यह व्यवस्था की गई है कि संसद विधि द्वारा मार्शल लॉ (सैनिक विधि) के दौरान मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। सैनिक विधि के दौरान साधारण न्यायालय कार्य करने लगते हैं। इसलिए साधरण विधिक कार्य का कहीं कोई स्थान नहीं बचता है। संसद क्षतिपूर्ति अधिनियम पारित करके इस दौरान अधिकारियों द्वारा किये गये कार्यों के दायित्वों से उन्हें विमुक्ति प्रदान कर सकती है।
3. **संविधान में संशोधन द्वारा (अनुच्छेद 368)**–अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन के द्वारा संसद मौलिक अधिकारों का निलम्ब कर सकती है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत पारित विधि अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत आते हैं और यदि वे भाग 3 में दिये गये मूल अधिकारों के उपबन्धों से असंगत हैं तो असंवैधानिक घोषित किये जा सकते हैं। 24वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1971 ने इस निर्णय के प्रभाव को समाप्त कर दिया। 24वें संशोधन का उद्देश्य संसद की मूल अधिकारों में संशोधन की शक्ति को पुनः स्थापित करना था। उपखण्ड 4 उपबन्धित करता है कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत किये गये संवैधानिक संशोधन अनुच्छेद 13 के 'विधि' शब्द के अन्तर्गत नहीं आएंगे। उच्चतम न्यायालय ने 24 वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम को संवैधानिक घोषत कर दिया परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि संसद संविधान संशोधन की शक्ति का प्रयोग इस प्रकार नहीं कर सकती है कि संविधान का मूल ढांचा ही क्षतिग्रस्त हो जाये।

टिप्पणी

4. **आपातकालीन घोषणा के समय में (अनुच्छेद 352)**—अनुच्छेद 352 के अनुसार आपातकालीन स्थितियों में मूल अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था है। आपातकाल की घोषणा के दौरान राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया है कि वह मूल अधिकारों को लागू कराने के लिए न्यायालयों की शरण में जाने के अधिकार को निलम्बित कर सकता है। 1962 में चीन के आक्रमण के अवसर पर, 1971 के पाकिस्तान के आक्रमण के अवसर पर तथा 1975 में आन्तरिक आपात स्थिति के समय में राष्ट्रपति ने आपातकाल की घोषणा की थी।

   संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 के द्वारा अब यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अनुच्छेद 19(क) में प्रदत्त अधिकारों को केवल देश पर 'बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह' के कारण देश की सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न होने की दशा में ही निलम्बित किया जा सकता है, 'आन्तरिक अशान्ति' के आधार पर नहीं। दूसरे, अनुच्छेद 358 केवल उन कानूनों को संरक्षण प्रदान करेगा जो आपात स्थिति में संबंधित है, अन्य कानूनों को आपातकाल के दौरान भी न्यायालयों में चुनौती दी जा सकती है। इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 359 में संशोधन करके यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति को अब अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार को निलम्बित करने की शक्ति नहीं होगी।

मूल अधिकारों का मूल्यांकन

भारतीय संविधान में मूल अधिकारों का यथोचित वर्णन किया गया है फिर भी यह अधिकार आलोचना से नहीं बच पाए हैं। मूल अधिकारों की आलोचना निम्नलिखित तीन आधारों पर की जाती है—

1. **प्रथम**—मूल अधिकारों की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि कुछ ऐसी बातों को छोड़ दिया गया जिन्हें मूल अधिकारों की भांति घोषित किया जाना चाहिए था। इस श्रेणी में काम पाने का अधिकार राज्य से सहायता प्राप्त करने का अधिकार, विश्राम और अवकाश का अधिकार, सुरक्षा पाने का अधिकार इत्यादि।

   आलोचना—इस प्रकार की आलोचना करने वाले व्यक्ति विशेष यह ध्यान नहीं रख पाते हैं कि देश में विद्यमान संसाधनों के आधार पर ही मूल अधिकार प्रदान किये जा सकते हैं।

2. **द्वितीय**—कुछ आलोचकों का मानना है कि भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के साथ इतने प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं कि यह समझना कठिन हो जाता है कि व्यक्ति को मूल अधिकारों के नाम पर मिला क्या है? आलोचकों का मानना है कि संविधान एक हाथ से कुछ देता है तो दूसरे हाथ से उन्हें ले लेता है।

   आलोचना— इस श्रेणी के आलोचकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि असीमित स्वतंत्रता या अधिकार प्रदान करना न तो सम्भव है और न श्रेयस्कर हैं। मूल

टिप्पणी

अधिकार तभी फलीभूत होंगे जबकि वह औचित्यपूर्ण होंगे। इसके लिए उन पर प्रतिबन्ध होने आवश्यक हैं।

3. **तृतीय**–भारतीय संविधान में संकटकालीन परिस्थितियों में राष्ट्रपति मूल अधिकारों के स्थगन की घोषणा सकता है तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को सीमित कर देती है।

   आलोचना–राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति को समझना अत्यावश्यक है कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। राष्ट्र की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति के अधिकारों को सीमित करना नागरिकों के हितों के लिए ही है क्योंकि यह व्यवस्था अल्पकालिक होती है। व्यक्ति की स्वयं की निष्ठा भी उसे राष्ट्रहित के लिए अपनी स्वतंत्रता के स्थगन की प्रेरणा दे यहीं नागरिकों का कर्तव्य होना चाहिए।

मौलिक कर्तव्य

1950 में लागू किए गए संविधान में केवल मौलिक अधिकारों का वर्णन था। लेकिन 1976 में यह महसूस किया गया कि नागरिकों के लिए मूल कर्तव्यों का भी उल्लेख होना चाहिए। अतः संविधान में 42वें संशोधन के माध्यम से संविधान के चतुर्थ भाग 'अ' जोड़ा गया एवं 10 मूल या मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था की गई जो इस प्रकार है–

1. भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा कि वह संविधान का पालन करे और आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज एवं राष्ट्रगान का आदर करे।
2. स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे।
3. भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे बनाए रखे।
4. देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्रसेवा करे।
5. भारत के सभी लोगों में एकरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का विकास करे, जो धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और ऐसी प्रथाओं का त्याग करे, जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हो।
6. हमारी समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझे और उसका संरक्षण करे।
7. प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्यजीव भी हैं, रक्षा करे उनका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे।
8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।
9. सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे व हिंसा से दूर रहें।

10. व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नवीन ऊंचाइयों को छू सके।

टिप्पणी

संविधान में दिए गए नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों का महत्व

मूलरूप से भारतीय संविधान में केवल मूल अधिकारों का ही समावेश किया गया है लेकिन संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा संविधान में एक नई धारा 51 (एफ) का समावेश किया गया है जिसके अंतर्गत नागरिकों के कुछ मौलिक कर्तव्य भी निर्धारित किए गए। इन कर्तव्यों की संख्या दस है और इनकी महत्व की विवेचना हम नीचे पृथक–पृथक रूप से करेंगे।

1. **संविधान का सम्मान तथा पालन**–प्रथम मौलिक कर्तव्य के अंतर्गत नागरिकों से यह आशा की जाती है कि वे संविधान का पालन करेंगे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का सम्मान करेंगे। संविधान देश का सर्वोच्च कानून है और यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक नागरिक उसका पालन करे तथा उसके प्रति आदर की भावना रखे। संविधान की उपेक्षा करने का अर्थ होगा भारत के प्रजातंत्रीय आधार को ही चोट पहुंचाना। इसके साथ ही नागरिकों से यह अपेक्षा भी की जाती है कि वह संविधान के आदर्शों यथा लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता आदि और संविधान द्वारा स्थापित संस्थाओं जैसे संसद, उच्चतम न्यायालय आदि के प्रति भी आदर की भावना रखे। राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करना तो सभी देशों की एक मान्य परंपरा है और भारत इसका अपवाद नहीं हो सकता।

2. **भारत की संप्रभुता की रक्षा**–भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करना तथा उसे अक्षुण्ण बनाए रखना नागरिकों का दूसरा मौलिक कर्तव्य है। तात्पर्य यह है कि नागरिक स्वयं कोई ऐसा कार्य न करे जिससे भारत की स्वतंत्रता को किसी प्रकार का आघात पहुंचे और यदि भारत की स्वतंत्रता को कोई खतरा उत्पन्न होता है तो वह उसकी रक्षा के लिए प्रत्येक प्रकार का त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार रहे।

3. **राष्ट्र की रक्षा**–देश की रक्षा करना तथा आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करना संविधान ने नागरिकों का तीसरा मौलिक कर्तव्य माना है। यह उचित भी है क्योंकि यदि देश ही सुरक्षित नहीं रहेगा तो नागरिक भी सुरक्षित नहीं रह सकता। देश यदि खतरे में पड़े तो प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह तन–मन और धन से अपने सभी मतभेदों को भुलाकर देश की रक्षा के लिए आगे आए।

4. **स्वतंत्रता आंदोलन के आदर्शों को स्वीकार करना**–संविधान द्वारा निर्धारित नागरिकों के चौथे मौलिक कर्तव्य के अंतर्गत नागरिक अपने स्वतंत्रता के राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखे और उनका पालन करे। राष्ट्रीय आंदोलन के हमारे आदर्श थे–स्वतंत्रता की आकांक्षा,

समानता की भावना, भ्रातृत्व और धार्मिक सहिष्णुता आदि। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज भी राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए इसी प्रकार के आदर्शों की आवश्यकता है।

टिप्पणी

5. **भ्रातृत्व का विकास**–संविधान का पांचवा मौलिक कर्तव्य नागारिकों से यह आशा करता है कि वह सभी व्यक्तियों के मध्य अनुरूपता का विकास करे तथा पारस्परिक भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न करे। न्याय और स्वतंत्रता के आदर्शों के साथ भ्रातृत्व को भी सम्मिलित करने से प्रजातंत्रीय व्यवस्था को शक्ति प्राप्त होगी।

6. **मिश्रित सांस्कृतिक परंपरा की रक्षा**–भारत की सामाजिक संस्कृति, मिश्रित संस्कृति पर आधारित है। न्याय, स्वतंत्रता, बन्धुत्व की भावना और धार्मिक सहिष्णुता आदि भारत की इस मिश्रित संस्कृति का आधार है। संविधान का छठा मौलिक कर्तव्य नागरिकों से यह आशा करता है कि वह अपनी मिश्रित सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझेंगे और उसको बनाए रखेंगे।

7. **पर्यावरण की रक्षा**–वैज्ञानिक सभ्यता की अनियंत्रित प्रगति ने आज पर्यावरण की रक्षा की समस्या प्रत्येक देश के सामने खड़ी कर दी है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि संविधान ने सातवें कर्तव्य के अंतर्गत नागरिकों को यह निर्देश दिया है कि वह प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करें और उसके संवर्द्धन में सहयोग प्रदान करें। इसके बिना एक स्वस्थ तथा आर्थिक रूप से सशक्त राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं है।

8. **सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा**–सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य होता है और इसीलिए संविधान में इसे आठवें कर्तव्य के रूप में सम्मिलित किया गया है। सार्वजनिक हिंसा सार्वजनिक सम्पत्ति की सबसे बड़ी शत्रु है और इसलिए यह कर्तव्य नागरिकों को हिंसा से विरत रहने का भी निर्देश देता है।

9. **वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास**–भारत की त्रासदी यह है कि यहां वैज्ञानिक विकास तो हो रहा है पर लोगों का दृष्टिकोण अभी भी रूढ़िवादिता तथा अंधविश्वास से भरा हुआ है। इसीलिए संविधान का नौवां मौलिक अधिकार नागरिकों से यह अपेक्षा करता है कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करेंगे। बिना वैज्ञानिक दृष्टिकोण के भारत की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन संभव नहीं है।

10. **व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्षेत्रों में श्रेष्ठता की प्राप्ति**–राष्ट्र की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें रहने वाले व्यक्ति किस प्रकार के हैं। व्यक्तियों से ही राष्ट्र का निर्माण होता है इसीलिए संविधान ने दसवें मौलिक कर्तव्य के अंतर्गत नागरिकों को यह निर्देश दिया है कि वह व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही क्षेत्रों में श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें।

टिप्पणी

निष्कर्ष

संविधान में सम्मिलित किए गए मौलिक कर्तव्यों में अनेक कमियां स्पष्टतः प्रतीत होती हैं। प्रथम, मौलिक कर्तव्य इतने अस्पष्ट हैं कि साधारण नागरिक द्वारा उनका पालन करना तो दूर की बात है, उसके लिए तो उन्हें समझ पाना भी कठिन है, उदाहरणस्वरूप– स्वतंत्रता संग्राम के हमारे क्या आदर्श थे? या हमारी मिश्रित संस्कृति की क्या परंपराएं हैं? इन्हें संविधान ने स्पष्ट नहीं किया है। द्वितीय, मौलिक कर्तव्यों की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इन्हें संविधान के चतुर्थ भाग में लिपिबद्ध किया गया है और इन्हें मूल अधिकारों की भांति न्यायपालिका से लागू नहीं करवाया जा सकता। परिणामस्वरूप इनका नैतिक महत्व भले ही हो पर यदि नागरिक इनका पालन नहीं करते तो राज्य उनके विरुद्ध कुछ भी करने में असमर्थ है। तृतीय, मौलिक कर्तव्यों में व्यावहारिकता का प्रभाव है और परिणामस्वरूप यह आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी हो गए हैं। आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े हुए राष्ट्र के नागरिकों से इतने उच्च आदर्शों का अनुसरण करने की आशा करना निरर्थक है। अतः यह आवश्यक है कि मौलिक कर्तव्यों को उपयोगी बनाने के लिए इन्हें सरल बनाया जाए और इन्हें न्यायिक प्रक्रिया के अंतर्गत रखा जाए।

राज्य के नीति–निर्देशक तत्व (अनुच्छेद 36 से 51 तक)

राज्य के नीति–निर्देशक तत्व भारतीय संविधान की अनूठी विशेषता है। इन सिद्धांतों का वर्णन संविधान के भाग 4 में अनुच्छेद 36 से 51 तक विस्तार से किया गया है। इन सिद्धांतों में हमारे संविधान के सामाजिक न्याय के दर्शन के वास्तविक तत्व निहित हैं। इन सिद्धांतों का मूल लक्ष्य आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना है। निर्देशक तत्वों में वे आदर्श निहित हैं जिनका प्रत्येक सरकार अपनी नीतियों का निर्धारण करते समय ध्यान रखेगी। इन सिद्धांतों का प्रयोजन शान्तिपूर्ण तरीके से सामाजिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करके सामाजिक व्यक्ति की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सामाजिक संरचना में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर सके।

निर्देशक तत्वों का अर्थ एवं प्रकृति

संविधान के चतुर्थ भाग में अनुच्छेद 36 से 51 तक निर्देशक तत्वों का उल्लेख मिलता है। राज्य की नीति के निर्देशक तत्व देश की विभिन्न सरकारों और सरकारी अभिकरणों के नाम जारी किये गये वे निर्देश हैं जो देश की शासन व्यवस्था के मूलतत्व हैं। इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि निर्देशक तत्व कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को दिये गये ऐसे निर्देश हैं जिनके अनुसार उन्हें अपने अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार करना होता है कि इन सिद्धांतों का उचित रूप से पूरी तरह पालन होता रहे। ये सिद्धांत संविधान के उच्च आदर्शों की घोषणाएं हें। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, ''राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों का उद्देश्य जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करने वाली सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है।'' प्रो. पायली के अनुसार, ''निर्देशक तत्व भारतीय प्रशासकों के आचरण के सिद्धांत है।'' जी. एन. जोशी के शब्दों में, ''इन निर्देशक तत्वों का विधानमण्डलों को कानून बनाते समय और कार्यपालिका को इन

टिप्पणी

तत्वों को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिये। ये उस नीति की ओर संकेत करते हैं जिसका अनुसरण संघ और राज्यों को करना चाहिए।''

इन तत्वों का उल्लेख सर्वप्रथम आयरलैण्ड के संविधान में किया गया था, आयरलैण्ड के संविधान की भांति हमारे संविधान में भी यह स्पष्ट व्यवस्था है कि इन सिद्धांतों का प्रवर्तन न्यायालय के माध्यम से नहीं कराया जा सकता है। इन सिद्धांतों की प्रकृति ही ऐसी है कि इन्हें विधानमण्डल की इच्छा पर छोड़ना पड़ता है। इन सिद्धांतों की प्रकृति के संबंध में अनुच्छेद 37 स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संविधान के भाग 4 में दिए गए उपलब्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होंगे, किन्तु इनमें दिए गए तत्व देश के शासन में मूलभूत है और विधि निर्माण में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा। ये निर्देशक सिद्धांत अपनी रूपरेखा में बहुत लचीले हैं तथा इन्हें देश की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार ढाला जा सकता है। ये सिद्धांत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के लिए निर्देश हैं कि उन्हें किस प्रकार से शासन का संचालन करना है इन निर्देशक सिद्धांतों का उद्देश्य लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। ये सिद्धांत भारत में आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र की रचना करने में सहायक हैं। संविधान की प्रस्तावना में जिन उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है ये सिद्धांत उनकी प्राप्ति के लिए पथ प्रदर्शन का कार्य करते हैं। एक दूसरा महत्वपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि ये सिद्धांत नागरिकों के प्रति राज्य के दायित्व का बोध कराते हैं।

निर्देशक सिद्धांतों और मूल अधिकारों में अंतर

राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों और मूल अधिकारों में नितांत भिन्नता पाई जाती है। ग्लेडहिल के अनुसार, ''मूल अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएं हैं। इनके द्वारा राज्य को आदेश दिया जाता है कि उसे नागरिकों के इन अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत यह बताते हैं कि राज्य को क्या करना चाहिए।'' इन दोनों के अंतर इस प्रकार हैं–

1. मूल अधिकारों की प्रकृति नकारात्मक है क्योंकि ये राज्य पर कुछ प्रतिबन्ध लगाते हैं जबकि निर्देशक सिद्धांतों की प्रकृति सकारात्मक हैं क्योंकि ये राज्य का अर्थ प्रदर्शन करते हैं।
2. मूल अधिकार वादयोग्य हैं इन्हें न्यायालय द्वारा प्रवर्तित कराया जा सकता है जबकि निर्देशक सिद्धांत वादयोग्य नहीं है।
3. मूल अधिकारों का विषय व्यक्ति है जबकि निर्देशक सिद्धांतों का विषय राज्य है।
4. मूल अधिकार नागरिकों को संविधान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रदत्त किये जाते हैं जबकि निर्देशक सिद्धांतों से नागरिक तभी लाभान्वित हो सकता है जब राजय उन्हें लागू करे।
5. मूल अधिकार सार्वभौम नहीं है, इनकी कुछ सीमाएं हैं जबकि निर्देशक सिद्धांतों पर न तो कोई प्रतिबन्ध है और न इनकी सीमाएं है।

टिप्पणी

6. मूल अधिकरों का क्षेत्र भारत की सीमाओं तक सीमित हैं जबकि निर्देशक सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के सन्देश को भी अपने में समाहित किये हुए है अतः ये अधिक व्यापक हैं।

राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों का वर्गीकरण

राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में विभिन्न क्षेत्रों में राज्य के कार्य–क्षेत्र पर विचार किया गया है जैसे–आर्थिक, सामाजिक, वैधानिक, शिक्षा संबंधी तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र। इनको अध्ययन की दृष्टि से हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

1. लोककल्याणकारी तथा समाजवादी राज्य की स्थापना करने वाले सिद्धांत

भारतीय संविधान के निर्माता भारत को एक लोककल्याणकारी राष्ट्र बनाना चाहते थे, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निर्देशक सिद्धांतों द्वारा आर्थिक और सामाजिक न्याय के संबंध में व्यवस्था की गई। इसका सार तत्व अनुच्छेद 38 में दिया गया है। राज्य ऐसी व्यवस्था करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करे, पूरे–पूरे सार्थक प्रयासों से लोककल्याणकारी व उन्नति के मार्ग प्रशस्त करे।

2. गांधीवादी विचारधारा से संबंधित सिद्धांत

इस प्रकार नीति–निर्देशक सिद्धांतों में कहा गया है कि गांधी जी सामाजिक उत्तरदायी की शिक्षा प्रदान करते हैं। इस विचारधारा का प्रभाव निर्देशक सिद्धांतों पर व्यापक रूप से देखने के लिए मिलता है। अनुच्छेद 40, 43, 46, 47, 50, 44 महात्मा गांधी की विचारधारा से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

3. नए नीति–निर्देशक सिद्धांत

42वें संविधान संशोधन द्वारा कुछ नए निर्देशक सिद्धांत संविधान में जोड़े गए हैं। अनुच्छेद 39 की की धारा (एफ) को बदल दिया गया है तथा एक नई धारा (ए) को जोड़ दिया गया है। अनुच्छेद 43 में एक नई धारा (बी) तथा 48 में भी एक नई धारा (बी) जोड़ दी गई है। इस प्रकार समय–समय पर कुछ नए निर्देशक सिद्धांत अस्तित्व में आते रहते हैं।

राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांत (अनुच्छेद 36 से 51)

अनुच्छेद 36 में 'राज्य' की परिभाषा दी गई है। इसके अनुसार 'राज्य' के अंतर्गत भारत की सरकार और संसद तथा राज्य में से प्रत्येक की सरकार और विधानमण्डल तथा भारत राज्य के भीतर अथवा भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी हैं।

टिप्पणी

अनुच्छेद 37 के अनुसार निर्देशक सिद्धांत न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होने पर भी देश के शासन में मूलभूत हैं।

अनुच्छेद 38 में यह व्यवस्था है कि लोककल्याण की उन्नति के लिए राज्य इसमें एक नया खण्ड (2) जोड़कर इसमें एक नया निर्देशक सिद्धांत जोड़ा गया है जो यह उपबन्धित करता है कि राज्य प्रयास करेगा कि विशेष रूप से व्यक्तियों की आय में असमानता कम हो पद सुविधाओं और अवसरों के संबंध में केवल व्यक्तियों में नहीं वरन् विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले या विभिन्न व्यापार में लगे सभी वर्गों के लोगों में असमानता दूर हो।

अनुच्छेद 39 में वर्णित निर्देशक सिद्धांत जो राज्य द्वारा अनुसरणीय है–

1. समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,
2. समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार विभाजित हो ताकि सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से हित साधन हो,
3. आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत धन और उत्पादन के साधनों का सर्व साधारण के लिए अहितकारी केन्द्रीयकरण न हो,
4. पुरुषों और स्त्रियों, दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन हो,
5. श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति, बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल हो,
6. बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएं दी जाएं तथा शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से, नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

अनुच्छेद 39 (क) : समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता

राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तन्त्र इस प्रकार काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और वह विशिष्टतया यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान द्वारा या किसी रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा।

अनुच्छेद 40 : ग्राम पंचायतों का संगठन

राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हैं।

टिप्पणी

अनुच्छेद 41 : कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार

राज्य अपने संसाधनों, आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने, शिक्षा पाने, बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता तथा अन्य अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्य साधक उपलब्ध करेगा।

अनुच्छेद 42 : काम की न्याय तथा मनोवोचित दशओं तथा

राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपलब्ध करेगा।

अनुच्छेद 43 : श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी कार्य

उपयुक्त विधान या आर्थिक संगठन द्वारा अथवा किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि, उद्योग या अन्य प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह–मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक या सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 43 (क) : उद्योगों के प्रबन्ध में कर्मकारों का भाग लेना

राज्य किसी उद्योग में लगे हुए उपक्रमों, स्थापनों या अन्य संगठनों के प्रबन्ध में कर्मकारों का भाग लेना सुनिश्चित करेगा तथा उपुयक्त विधान द्वारा या किसी अन्य रीति से कदम उठायेगा।

अनुच्छेद 44 : नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार संहिता

भारत में समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य एक समान व्यवहार संहिता प्राप्त करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 45 : बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य

राज्य इस संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सभी बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था की समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपलब्ध करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 46 : अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों तथा अन्य दुर्लभ विभागों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की उन्नति

राज्य जनता के दुर्बल वर्गों के विशेषतया अनुसूचित जातियों, जन–जातियों के शिक्षा तथा अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति कर सामाजिक अन्याय और सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

टिप्पणी

अनुच्छेद 47 : आहार–पुष्टि तल और जीवन–स्तर को ऊंचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार करना राज्य का कर्तव्य है

राज्य अपने लोगों के आहार पुष्टि तल और जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा लोक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में से मानेगा तथा विशेषतया मादक पेय पदार्थों और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक औषधियों के औषधीय प्रयोजनों के अतिरिक्त उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 48 : कृषि और पशुपालन का संघटन

राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संघटित कर गायों, बछड़ों, अन्य दुधारू और वाहक पशुओं की नस्ल के परिरक्षण और सुधार के लिए, उनके वध का प्रतिषेध का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 48 (क) : पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्धन और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा

राज्य, देश के पर्यावरण के संरक्षण तथा संवर्धन का और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 49 : राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों, स्थानों और वस्तुओं का संरक्षण

संसद द्वारा निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय महत्व के घोषित कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरुचि वाले प्रत्येक स्मारक, स्थान या वस्तु का यथास्थिति, लुंठन, विरुपण, विनाश, व्यनयन या निर्यात से रक्षा करना राज्य का कर्तव्य होगा।

अनुच्छेद 50 : कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण

राज्य लोकसेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए राज्य सरकार होगा।

अनुच्छेद 51 : अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति

संविधान के 51वें अनुच्छेद के अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बढ़ावा देना तथा झगड़ों का निपटान पेंच फैसलों के अनुसार करेगा।

इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य–

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का,
2. राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण संबंधों को बनाए रखने,
3. संगठित बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का एवं
4. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।

टिप्पणी

नीति–निर्देशक सिद्धांतों की आलोचना

नीति निर्देशक तत्व हमेशा से आलोचना के पात्र रहे हैं। संविधान निर्माण के समय भी और संविधान के लागू होने के बाद भी समय–समय पर इनकी आलोचना होती रही है। निर्देशक सिद्धांतों की आलोचना निम्न आधारों पर की जा सकती है–

1. **वैधानिक शक्ति का अभाव**–राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांत शासन के लिए मूलभूत हैं। नीतियों का निर्माण करते समय शासन इन निर्देशक सिद्धांतों की अनदेखी नहीं कर सकता है किन्तु ये वैधानिक रूप से अशक्त है, ये न्याय योग्य नहीं हैं। इन्हें न्यायालय द्वारा प्रवर्तित नहीं कराया जा सकता है। अतः आलोचक इन्हें 'शुभ इच्छाएं', 'नैतिक उपदेश' जैसे सम्बन्धों से सम्बोधित करते हैं। के.टी. शाह के अनुसार, ''यह एक ऐसा चैक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।
2. **अस्पष्ट तथा तार्किकता का अभाव**–नीति निर्देशक सिद्धांतों की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है, कि न तो ये किसी निश्चित और तर्कसंगत दर्शन पर आधारित हैं और न ही इनमें क्रमबद्धता है इनमें कमोबेश एक बात को बार–बार दोहराया जाता है तथा प्रत्येक अवधारणा को एक–दूसरे के साथ मिलाकर व्यक्त किया जाता है।
3. **एक सम्प्रभु राज्य की अवधारणा के विपरीत**–नीति के निर्देशक सिद्धांत राज्य को आदेश है कि नीतियों के निर्माण के समय इनका पालन किया जाए। 1935 के भारत सरकार अधिनियम में यह स्वाभाविक था कि गवर्नर जनरल अपनी इच्छानुसार के आदेश के अनुरूप ही कार्य करना पड़ता था परन्तु एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य में नियम निर्माण के लिए आदेश की आवश्यकता पड़े यह औचित्यपूर्ण नहीं है।
4. **अव्यवहारिक एवं अनुचित**–कुछ निर्देशक सिद्धान्त आर्थिक व्यवस्था और राजस्व की दृष्टि से नितान्त अव्यवहारिक और अनुचित प्रतीत होते हैं। जैसे–महा निषेध के संबंध में जो नीति निर्देशक सिद्धांत है उनकी स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के समर्थकों द्वारा भारी आलोचना की जाती है क्योंकि यदि इसका पालन किया जायेगा तो राजकोष भारी नुकसान होगा।
5. **संवैधानिक द्वन्द्व के कारण**–संवैधानिक विधिवेत्ताओं तथा संविधान सभा में भी यह आशंका व्यक्त की गई थी कि यह निर्देशक सिद्धान्त राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री तथा राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच गतिरोध उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार की स्थितियों से संसदात्मक प्रजातंत्र की गरिमा तथा कार्य प्रणाली को गंभीर आघात पहुंच सकता है।

राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों का महत्व

नीति–निर्देशक सिद्धान्तों की उपर्युक्त आलोचना से यह बिल्कुल नहीं समझना चाहिए कि यह महत्वहीन हैं। यदि हम इन निर्देशक तत्वों को संवैधानिक और व्यवहारिक

टिप्पणी

दृष्टिकोण से देखे तो ज्ञात होता है कि यह बहुत महत्व रखते हैं। डॉ. पायली के अनुसार, ''इन निर्देशक तत्वों का महत्व इस बात में है कि ये नागरिकों के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व है।'' इन तत्वों के महत्व को हम अग्रलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं–

1. **निर्देशक सिद्धांत असंगत तथा अतार्किक नहीं**–नीति–निर्देशक सिद्धांतों पर यह आक्षेप बिल्कुल गलत है कि ये असंगत और अतार्किक है। इनके उद्‌गम का स्रोत भले ही विदेशी हो लेकिन ये सिद्धांत पूर्णरूप से भारतीय हैं। यह सही है कि समय बीतने के साथ ये सिद्धांत पुराने और अप्रासंगिक हो सकते हैं किन्तु आवश्यकतानुसार संशोधन करके हम इन्हें अपनी आवश्यकतानुसार ढाल सकते हैं।

2. **नीति–निर्देशक सिद्धांतों के पीछे जनमत की शक्ति**–इन सिद्धांतों को न्यायालय द्वारा प्रवर्तित नहीं कराया जा सकता है लेकिन इनके पीछे जनमत की शक्ति निहित होती है। जनता के प्रति उत्तरदायी कोई भी सरकार आसानी से इनकी अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकती है। भारत में संसद तथा कार्यपालिका दोनों ही निर्वाचित प्रतिनिधियों से बनती है अतः लम्बे समय तक इन निर्देशक तत्वों की अपेक्षा निर्वाचकों और व्यवस्थापिका में विपक्ष का सरकार का विरोधी बना सकती है। श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने संविधान सभा में ठीक ही कहा था कि, ''कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धों के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकता है।''

3. **नैतिक आदर्शों के रूप में महत्व**–इन निर्देशक सिद्धांतों को यदि नैतिक धारणाएं ही मान लिया जाता है तब भी इनका अत्यधिक महत्व है। जिस रूप में ये सिद्धांत भारतीय शासन और नीति निर्धारण को प्रभावित करते हैं तथा सरकार इनका उच्च आदर्श के रूप में अनुसरण करती हैं इनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता है।

4. **संविधान की व्याख्या में सहायक**–शासन के मूलभूत आधार पर तथा मार्गदर्श के रूप में इन सिद्धांतों का अत्यधिक महत्व है। इन सिद्धांतों के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान में सभी उत्तरदायी संस्थाओं के लिए निर्देशों की व्यवस्था इन सिद्धांतों के माध्यम से बहुत स्पष्ट रूप से की गई है।

5. **कार्यपालिका को निरंकुश होने से रोकते हैं**–यद्यपि संविधान विधि वेत्ताओं ने यह आशंका व्यक्त की थी कि यह सरकार के अंगों में गतिरोध उत्पन्न कर सकते हैं लेकिन इन सिद्धांतों की प्रकृति ऐसी है कि ये शासन के मार्गदर्शक के रूप में एक सीमा तय कर देते हैं। इस सीमा का उल्लंघन कर पाने में हर सरकार अपने आपको अक्षम पाती है। साथ ही भारत में प्रधान पद पर आसीन व्यक्ति नाममात्र की कार्यपालिका का द्योतक होता है अतः निरंकुश होने की संभावनाएं कम हो जाती हैं।

टिप्पणी

नीति–निर्देशक सिद्धांतों का क्रियान्वयन

नीति–निर्देशक सिद्धांतों के पीछे वैधानिक शक्ति का अभाव रहा है अतः इन्हें मूल अधिकारों के समकक्ष नहीं माना जाता है किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान के लागू होने के बाद राज्य ने इन सिद्धांतों के दिशा निर्देशों के अनुसार कार्य करना प्रारंभ कर दिया है। जो महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं उन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

1. पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से कृषि, उद्योगों, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाओं का प्रसार, नौकरियों व कार्य के साधनों में वृद्धि, राष्ट्रीय आय व लोगों के रहन–सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयास किए गए।
2. युवा व बालक वर्ग की शोषण से रक्षा करने के लिए अनेक कानून पास किए गए, बीमारी व दुर्घटना के विरुद्ध सुरक्षा के लिए कुछ सीमा पास किए गए, बीमारी व दुर्घटना के विरुद्ध सुरक्षा के लिए कुछ सीमा मजदूर वर्ग में बीमा योजना लागू की गई व बेरोजगारी बीमा योजना को लागू करने और रोजगार के अवसर बढ़ाने के प्रयास किए गए हैं।
3. हिंदू कोड बिल के कई अंशों जैसे–हिंदू विवाह अधिनियम, 1955; हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम; 1956 को पारित करके समान संहिता विधि के क्षेत्र में प्रयास किए गए।
4. अस्पृश्यता निवारण के लिए अनुसूचित जाति, जनजाति तथा पिछड़ी जातियों के बालकों के लिए छात्रवृत्तियों व अन्य शैक्षिक सुविधाओं का प्रसार किया गया।
5. निशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा तथा सबके लिए सेवा के लिए भी शासन के कादम आगे बढ़ रहे हैं।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ और महत्वपूर्ण कार्य शासन द्वारा किये गए हैं जैसे– बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के प्रिवीपर्स की समाप्ति, सम्पत्ति के अधिकार को कानूनी बनाना, स्त्री पुरुष के समान वेतन संबंधी सीमाकरण कानून का पारित होना आदि। भारतवर्ष की जनसंख्या और आकार के अनुपात में उपर्युक्त आंकड़े सन्तोषजनक नहीं है परन्तु कार्य हो रहे हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

3. 'उद्देश्य प्रस्ताव' को संविधान निर्मात्री सभा में कब प्रस्तुत किया गया था?
   (क) 13 दिसंबर 1946 (ख) 15 दिसंबर 1946
   (ग) 20 दिसंबर 1947 (घ) 26 दिसंबर 1948
4. संविधान सभा की प्रारूप समिति ने प्रस्तावना को कब स्वीकार किया था?
   (क) जनवरी, 1947 (ख) फरवरी, 1948
   (ग) मार्च, 1948 (घ) मई, 1949

टिप्पणी

1.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (क)
4. (ख)

1.5 सारांश

देश के नव–निर्माण में तथा उसकी शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक संविधान का नियम–कानून की अति आवश्यकता होती है। इस संविधान का पालन करना देश के नागरिकों का परम कर्तव्य होता है। एक अच्छे नागरिक को अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों की पूरी जानकारी होनी चाहिए।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में न्याय, समानता, लोकतंत्र, गणतंत्र, व्यक्ति की गरिमा, एकता और अखण्डता आदि का उल्लेख संविधान की प्रस्तावना में किया गया है। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय के आदर्श की प्राप्ति भी संविधान का उद्देश्य है। संविधान के प्रावधानों को संविधान की प्रस्तावना से प्रेरणा मिलती है।

संविधान सभा ने कुल आठ दिनों तक 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर विचार किया। ह्रदयनाथ कुंजरू, जयकर और डॉ. अम्बेडकर चाहते थे कि प्रस्ताव पर विचार–विमर्श स्थगित कर दिया जाये। 22 जनवरी, 1947 को जवाहरलाल नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर वाद–विवाद का उत्तर दिया और संविधान सभा ने इसे स्वीकार कर लिया।

प्रस्तावना के माध्यम से संविधान निर्माताओं ने यह घोषणा की है कि भारत एक लोकतांत्रिक राज्य होगा। देश में शासन जनता की इच्छा के अनुरूप होगा।

संविधान अन्य किसी स्रोत से प्रदत्त नियमों को मान्यता प्रदान नहीं करता है। भारत के संविधान में प्राकृतिक या अगणित अधिकारों का कोई स्थान नहीं है संविधान केवल भाग 3 में वर्णित अधिकारों को ही मान्यता देता है। सर्वोच्च न्यायालय भी संविधान के भाग 3 में वर्णित अधिकारों के सम्बन्ध में कार्यवाही कर सकता है जबकि अमेरिका में वहां का सर्वोच्च न्यायालय मानव विकास के लिए आवश्यक समझे जाने वाले अधिकारों को लागू करा सकता है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में स्वतंत्रता शब्द का प्रयोग किया है। स्वतंत्रता को एक उद्देश्य की भांति प्राप्त करना संविधान का लक्ष्य है बिना स्वतंत्रता के लोकतंत्र स्थापित नहीं किया जा सकता है।

टिप्पणी

1.6 मुख्य शब्दावली

- **लोकतंत्र** : जहां जनता के द्वारा सरकार चुनी जाती है।
- **गणतंत्र** : जहां राष्ट्राध्यक्ष या राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है।
- **पंथनिरपेक्षता** : जहां राज्य न तो किसी धर्म के साथ भेदभाव रखता है और न ही आश्रय देता है।
- **व्यवस्थापिका** : सरकार का वह अंग जो नियमों के निर्माण का कार्य करता है।
- **कार्यपालिका** : सरकार का वह अंग जो व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नियमों का क्रियान्वयन करता है।
- **राजनीतिक न्याय** : राजनीतिक न्याय का अर्थ है समस्त नागरिकों को नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो।
- **परमादेश** : इस प्रकार के आज्ञापत्र के आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्तव्य का पालन करने का आदेश जारी किया जाता है।

1.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान में मनोनयन प्रणाली कहां से ली गई है?
2. वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं?
3. प्रस्तावना को 'संविधान की कुंजी' क्यों कहा जाता है?
4. मूल अधिकारों एवं कर्तव्यों की रक्षा के लिए संविधान में क्या व्यवस्था की गई है?
5. अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदान की गई स्वतंत्रताएं बताइए।
6. 'बंदी प्रत्यक्षीकरण' और 'परमादेश' पर टिप्पणी लिखिए।
7. मूल अधिकार और नीति निर्देशक सिद्धांतों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान की विशेषताओं को विस्तार से समझाइए।
2. संविधान के आधारभूत ढांचे की अवधारणा को सविस्तार स्पष्ट कीजिए।
3. प्रस्तावना का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसका महत्व बताइए।
4. प्रस्तावना को संविधान की आत्मा क्यों कहा जाता है? विवेचना कीजिए।
5. प्रस्तावना के प्रमुख लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
6. मूल अधिकार से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिए।

7. राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के स्वरूप एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।
8. राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।

1.8 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

1. जी. ऑस्टीन, *वर्किंग ऑफ ए डेमोक्रेटिक कान्स्टीट्यूशन : द इंडियन एक्सपीरियंस, दिल्ली,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 2000.
2. डी.डी. बसु, *एन इंटरोडक्शन टू द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया,* नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल, 1994.
3. डी.डी बसु एंड बी पारेख (एजूकेशन) *क्राइसिस एंड चेंज इन कन्टेमप्ररेरी इंडिया,* नई दिल्ली, सागा, 1994.
4. सी.पी. भाम्बरी, *द इंडियन स्टेट : फिस्टी इयर्स,* नई दिल्ली, शिप्रा 1997.
5. पी. ब्रास, *पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिन्स इंडिपेंडेंस, हैदराबाद,* ओरियंट लौंगमैन, 1990.
6. एस. कोर्ब्रिज एंड जे. हैरिस, *रिइंवेंटिंग इंडिया : लीबरेलजाइशन, हिंदू नेशनल्जिम एंड पापुलर डेमोक्रेसी,* दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2001.
7. एन.जी. जायल (एजुकेशन) *डेमोक्रेसी इन इंडिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2011.
8. एस. कौशी (एजुकेशन) इंडियन गवर्मेंट एंड पॉलिटिक्स दिल्ली यूनिवर्सिटी, डायरेक्टरेट ऑफ इंप्लिमेंटेशन, 1990.
9. ए. कोहली, *डेमोक्रेसी एंड डिस्कटेट : इंडियाज ग्रोइंग क्राइसिस ऑफ गोवर्नएबिलिटी कैम्ब्रिज,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस 1991.

इकाई 2 संविधान संशोधन प्रक्रिया एवं संघवाद : केंद्र–राज्य संबंध एवं राज्य स्वायत्तता

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 सामाजिक परिवर्तन के रूप में संविधान : संशोधन प्रक्रिया
2.3 संघवाद और केन्द्र–राज्य संबंध के संदर्भ में इसके कार्य
  2.3.1 संघवाद का सैद्धांतिक स्वरूप : संघात्मक लक्षण
  2.3.2 संघवाद का व्यावहारिक स्वरूप : एकात्मक लक्षण
  2.3.3 केंद्र–राज्य संबंध और उसके कार्य
2.4 राज्य स्वायत्तता की मांग
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

भारतीय संविधान का संशोधन भारत के संविधान में परिवर्तन करने की प्रक्रिया है। एक संशोधन के प्रस्ताव की शुरुआत संसद में होती है जहां इसे एक बिल के रूप में पेश किया जाता है। उसे पास होने के लिए दोनों सदनों का बहुमत प्राप्त होना आवश्यक है।

विधायिनी सभा में किसी विधेयक में परिवर्तन, सुधार अथवा उसे निर्दोष बनाने की प्रक्रिया को संशोधन (amendment) कहते हैं। सभा या समिति के प्रस्ताव के शोधन की क्रिया के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। किसी भी देश का संविधान कितनी ही सावधानी से बना हुआ हो किंतु मनुष्य की कल्पना शक्ति की सीमा बंधी हुई है। भविष्य में आनेवाली और बदलने वाली सभी परिस्थितियों की कल्पना वह संविधान के निर्माणकाल में नहीं कर सकता; अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों की गुत्थियों के कारण भी संविधान में संशोधन, परिवर्तन करना वांछनीय एवं आवश्यक हो जाता है।

संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख लिखित संविधान का आवश्यक अंग माना गया है। संविधान के गुणावगुण परखने की कसौटी भी संशोधन की प्रक्रिया है सरल है अथवा कठोर है। कुछ देशों के संविधान का संशोधन विधिनिर्माण की साधारण प्रक्रिया के अनुसार ही होता है। ऐसे संविधानों को नमनीय या सरल संविधान कहते हैं। इस प्रकार के संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण इंग्लैंड का संविधान है। कुछ संविधानों के संशोधन की प्रक्रिया के लिए एक विशिष्ट प्रक्रिया का आलंबन किया जाता है। यह प्रक्रिया जटिल एवं दुरूह होती है। ऐसे संविधान जटिल या अनममीय संविधान कहलाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान ऐसे संविधानों का सर्वोत्तम उदाहरण है। भारतीय गणतंत्र संविधान के संशोधन का कुछ अंश नमनीय है और कुछ अंश की

टिप्पणी

अनमनीय प्रक्रिया है। इन दोनों विधियों को ग्रहण करने से देश के मौलिक सिद्धांतों का पोषण होगा और संविधान में परिस्थितियों के अनुकूल विकसित होने की प्रेरणाशक्ति भी होगी।

साधारणतया किसी सभा या समिति में किसी भी सदस्य को अपना मत प्रकट करने या कोई प्रस्ताव प्रेषित करने का अधिकार होता है। या जब किसी सभा के सदस्यों को सभा के विभिन्न पदों के लिए अलग–अलग व्यक्तियों को मनोनीत करने का अधिकार होता है, तब मनोनीत करनेवाले सदस्य के कार्य की पुष्टि दूसरे सदस्य के द्वारा होना अनिवार्य होता है। अतः एक सदस्य जब किसी प्रस्ताव को प्रेषित करता है या किसी सदस्य को किसी कार्य के लिए मनोनीत करता है, तब इस कार्य को संवैधानिक बनाने के लिए दूसरे सदस्य को इस कार्य का समर्थन या अनुमोदन करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उपयुक्त कार्य वैधानिक नहीं माने जाएंगे और वे कार्य शून्य घोषित किए जाएंगे।

इस इकाई में भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रियाओं तथा केंद्र–राज्य संबंध एवं राज्य स्वायत्तता की मांग को विस्तार से समझाया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया से अवगत हो पाएंगे;
- संघीय व्यवस्था के विषय में जान पाएंगे;
- केंद्र–राज्य संबंधों तथा समय–समय पर उठने वाली स्वायत्तता की मांग के विषय में विस्तार से अध्ययन कर पाएंगे।

2.2 सामाजिक परिवर्तन के रूप में संविधान : संशोधन प्रक्रिया

भारत के संविधान में परिवर्तन करने की प्रक्रिया है। इस तरह के परिवर्तन भारत की संसद के द्वारा किये जाते हैं।

इन्हें संसद के प्रत्येक सदन से पर्याप्त बहुमत के द्वारा अनुमोदन प्राप्त होना चाहिए और विशिष्ट संशोधनों को राज्यों के द्वारा भी अनुमोदित किया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया का विवरण संविधान के लेख 368, भाग XX में दिया गया है।

इन नियमों के बावजूद 1950 में संविधान के लागू होने के बाद से इस में 126 संशोधन किये जा चुके हैं। विवादस्पद रूप से भारतीय सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) के अनुसार संविधान में किये जाने वाले प्रत्येक संशोधन को अनुमति देना संभव नहीं है। एक संशोधन इस प्रकार होना चाहिए की यह संविधान की "मूल सरंचना" का सम्मान करे, जो कि अपरिवर्तनीय है।

संविधान का संशोधन कुछ प्रावधानों को बदलने या दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ बाहरी सुविधाओं को अद्यतन करने का तात्पर्य है। संवैधानिक संशोधन का प्रावधान संविधान की वास्तविकता और दैनिक आवश्यकताओं का प्रतिबिंबित

प्रदर्शित करने के लिए आवश्यक है। संशोधन एक राष्ट्र या राज्य के लिखित संविधान में औपचारिक परिवर्तन को दर्शाता है।

टिप्पणी

संविधान संशोधन की आवश्यकता

किसी भी देश के संविधान में संशोधन किया जाना प्रमुखतः निम्नलिखित कारणों से आवश्यक हो जाता है–

1. संविधान कोई साध्य न होकर साध्य की प्राप्ति हेतु साधन मात्र है। अतः उसे समय एवं राज्य की आवश्यकताओं का प्रतिरूप होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्रांतिकारी दौर में कोई भी संविधान अनन्य स्थायित्व का दावा करते हुए कह नहीं सकता कि वह परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल होने की क्षमता भी रखता है।
2. संविधान के अंतर्गत वर्णित आदशों, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संविधान के उन उपबंधों में संशोधन करना आवश्यक है, जो उनसे मेल नहीं खाते।
3. सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की प्राप्ति हेतु परम्परावादी मान्यताओं में शांतिपूर्ण परिवर्तन संविधान संशोधन के माध्यम से ही सम्भव है।
4. संविधान संशोधन के माध्यम से उसमें कोई नई बात अथवा किसी नए तथ्य को समाविष्ट किया जाता है।
5. संविधान की जन–आकांक्षाओं, इच्छाओं एवं आवश्यकताओं का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। वर्तमान संविधान यदि मौजूदा आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने में अक्षम है तो उसमें यथोचित परिवर्तन कर देने चाहिए।

भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक विशाल एवं लिखित संविधान है, किन्तु इसकी विशेषता यह है की इसमें नम्यता और अम्नाम्यता दोनों का अद्‌भुत् मिश्रण है। भारत का संविधान लिखित होते हुए भी अनम्य या कठोर नहीं है।

संविधान संशोधन की प्रक्रिया

संविधान संशोधन की प्रक्रिया के संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है की संविधान विधेयक पारित करने की प्रक्रिया साधारण विधेयकों के पारित करने की प्रक्रिया से भिन्न है। अनुच्छेद–108 के अंतर्गत किसी विधेयक को पारित करने के सम्बन्ध में दोनों सदनों के मध्य उत्पन्न गतिरोध को दूर करने हेतु राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाए जाने का प्रावधान है। यह प्रावधान संविधान के संशोधन सम्बन्धी विधेयकों के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। इस संदर्भ में सम्पूर्ण प्रक्रिया (संविधान संशोधन) का उल्लेख अनुच्छेद– 368(2) के अंतर्गत किया गया है। यदि इस क्षेत्र में संयुक्त अधिवेशन का उपबंध होता तो अनुच्छेद–368(2) में विशेष बहुमत का उपबंध निरर्थक हो जाता।

संविधान में संशोधन कई प्रकार से किया जाता है नामतः साधारण बहुमत, विशेष बहुमत तथा कम से कम आधे राज्यों द्वारा समर्थनद्य अनुच्छेद 368 के तहत संवैधानिक संशोधन, भारतीय संविधान की एक मूल संशोधन प्रक्रिया है, जिसकी प्रक्रिया निम्न रूप से वर्णित की जा सकती है–

- यह संसद के किसी भी सदन में रखा जा सकता है

टिप्पणी

- इसे राज्य विधायिका में पेश नहीं किया जा सकता
- बिल एक मंत्री या एक निजी सदस्य के द्वारा पेश किया जा सकता है
- संसद के किसी भी सदन में विधेयक पेश करने के लिए राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती है
- बिल अलग–अलग सदनों द्वारा पारित होना चाहिए
- यह विशेष बहुमत (वर्तमान सदस्यों और मतदान के 2/3 और कुल संख्या का कम से कम 50 प्रतिशत) द्वारा पारित होना चाहिए
- राज्य के कम से कम आधे से अनुसमर्थन भारतीय संविधान के किसी भी संघीय सुविधा में संशोधन के मामले में जरूरी है
- सभी उपरोक्त कदम के बाद, बिल राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जहां उसके पास हस्ताक्षर करने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता। हालांकि, राष्ट्रपति के लिए बिल पर कारवाई करने के लिए समय अवधि निश्चित नहीं की गई है।
- जब एक बार राष्ट्रपति अपनी सहमति दे देता है, तो बिल एक अधिनियम बन जाता है

संविधान के भाग–20 के अंतर्गत अनुच्छेद–368 में संविधान संशोधन से संबंधित प्रक्रिया का विस्तृत उपबंध है। संविधान के संशोधन हेतु किसी विधेयक को संसद में पुरःस्थापित करने हेतु राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। संविधान में संशोधन की प्रक्रिया की दृष्टि से भारतीय संविधान के अनुच्छेदों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. वे अनुच्छेद, जिन्हें संसद में साधारण बहुमत से संशोधित किया जा सकता है।
2. वे अनुच्छेद, जिन्हें संसद में दो–तिहाई (2/3) बहुमत से संशोधित किया जा सकता है।
3. वे अनुच्छेद, जिन्हें संसद में दो–तिहाई (2/3) बहुमत के साथ भारत के आधे राज्यों के विधानमंडलों के संकल्पों की स्वीकृति द्वारा संशोधित किया जा सकता है।

साधारण बहुमत द्वारा

संविधान में कई ऐसे उपबंध हैं, जिनके संशोधन के लिए किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। अभिप्राय यह है कि इन अनुच्छेदों के संशोधन के लिए संसद के दोनों सदनों में केवल साधारण बहुमत की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के संशोधनों का जो क्षेत्र है, उसमें नये राज्यों का निर्माण, राज्य के क्षेत्र, सीमा और नाम में परिवर्तन आदि आते हैं। इस श्रेणी में संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेद आते हैं–अनुच्छेद–3, 4, 169 तथा 239–क।

दो–तिहाई बहुमत द्वारा

संविधान की इस संशोधन प्रक्रिया में प्रत्येक सदन में सदस्यों की कुल संख्या का बहुमत तथा उस सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो–तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।

संशोधन का प्रस्ताव किसी भी सदन में रखा जा सकता है किंतु पारित उसे तब माना जाएगा, जब संसद के दोनों सदनों द्वारा 2/3 बहुमत से उसका अनुमोदन कर दिया जाये। इस प्रक्रिया में संसद के दोनों सदनों के संशोधन विधेयक का अलग–अलग दो–तिहाई बहुमत से पारित होना आवश्यक होता है।

इस श्रेणी में आने वाले अनुच्छेदों की सूची काफी विस्तृत है। वास्तव में प्रथम श्रेणी और तृतीय श्रेणी में आने वाले अनुच्छेदों को छोड़कर सभी अनुच्छेद ऐसे हैं, जिन्हें संसद दो–तिहाई बहुमत द्वारा ही बदल सकती है।

दो–तिहाई बहुमत तथा राज्य विधान मंडलों की स्वीकृति द्वारा

संशोधन की इस प्रक्रिया में संविधान के कुछ ऐसे अनुच्छेद आते हैं, जिन्हें संशोधित करना अत्यंत कठिन होता है। इन अनुच्छेदों में संशोधन करने के लिए संसद के दो–तिहाई बहुमत के साथ–साथ भारत के कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। इस श्रेणी में संविधान के निम्नलिखित उपबंध आते हैं–

1. अनुच्छेद 54– राष्ट्रपति का निर्वाचन
2. अनुच्छेद 55– राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि
3. अनुच्छेद 73– संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार
4. अनुच्छेद 162– राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार
5. अनुच्छेद 241– केंद्र शासित क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय
6. संघीय न्यायपालिका (भाग–5 अध्याय–4)
7. राज्यों के लिए उच्च न्यायालय (भाग–6 अध्याय–5)
8. संघ–राज्य–संबंध (विधायी) (भाग–11 अध्याय–1)
9. सातवीं अनुसूची का कोई भी विषय
10. संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व
11. संविधान–संशोधन से संबंधित अनुच्छेद–368

जिन उपबंधों का सम्बन्ध केंद्र और राज्यों दोनों के ही अधिकार क्षेत्रों से है, उनमें संशोधन न तो केंद्र कर सकता है और न ही राज्य। इस प्रकार की संशोधन प्रक्रिया में केंद्र और राज्य दोनों का हाथ होने के कारण यह प्रक्रिया अत्यंत जटिल मानी जाती है।

संविधान के संशोधन की आलोचनाएं

संविधान के संशोधन की आलोचनाएं निम्न हैं:

1. भारत के पास कोई भी स्थायी संवैधानिक संशोधन समिति नहीं है जैसे कई अन्य देशों के पास है तथा सभी प्रयास अपेक्षाकृत निष्कपट और अनुभवहीन संसद द्वारा किया जाते हैं।
2. राज्य विधायिका के पास विधान परिषद के गठन या उन्मूलन के आरम्भ करने की शक्ति होने के अलावा, संशोधन प्रक्रिया की शुरुआत के लिए कोई भी अन्य

टिप्पणी

गुंजाइश नहीं है। यह भारतीय संविधान को एकाधिकार के केंद्र के साथ साथ राज्यों के लिए दृढ़ बनाता है।

3. संसद के दोनों सदनों का अस्तित्व संवैधानिक संशोधन अधिनियम को पारित करने के लिए असहमति के कारण कठिनाई उत्पन्न करता है।
4. सामान्य विधायी कार्य और संवैधानिक संशोधन कार्य के बीच शायद ही कोई फर्क होगा।
5. राज्य विधायिका की पुष्टि करने के लिए कोई समय सीमा नहीं है
6. अपनी सहमति देने के लिए राष्ट्रपति के लिए कोई समय सीमा नहीं है

भारतीय संविधान के संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया का वर्णन करते हुए के.सी. व्हेयरे ने ठीक ही कहा है कि संविधान में संशोधन लचीलापन और कठोरता के बीच एक अच्छा संतुलन बनाता है। इसके अलावा, ग्रानविले ऑस्टिन, भारतीय संविधान की एक प्रसिद्ध विद्वान ने कहा, "संशोधन की प्रक्रिया ने संविधान को सबसे चतुराई से ग्रहण कर उसके पहलुओं को अपने आप ही साबित कर दिया है। यद्यपि यह जटिल लगता है, यह महज विविध है।"

अपनी प्रगति जांचिए

1. किस अनुच्छेद के तहत संवैधानिक संशोधन, भारतीय संविधान की एक मूल संशोधन प्रक्रिया है

   (क) अनुच्छेद 362 (ख) अनुच्छेद 365

   (ग) अनुच्छेद 368 (घ) अनुच्छेद 370

2. संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार संविधान के किस अनुच्छेद के अंतर्गत आते है?

   (क) अनुच्छेद 71 (ख) अनुच्छेद 72

   (ग) अनुच्छेद 73 (घ) अनुच्छेद 74

2.3 संघवाद और केन्द्र–राज्य संबंध के संदर्भ में इसके कार्य

संघवाद क्या है? संघीय पद्धति में केन्द्र तथा राज्य कैसे अंतर्संबंधित है? राज्यों की स्वायत्तता की मांग क्यों होती है? ऐसे तमाम पहलुओं का विश्लेषण हम पृथक–पृथक इस प्रकार कर सकते हैं–

संघवाद

भारतीय संघीय व्यवस्था यद्यपि संघीय लक्षणों से परिपूर्ण लोकतांत्रिक एवं प्रजातंत्रीय है, परंतु उसमें एकात्मक लक्षण भी हैं इस संबंध में अनेक लेखकों ने भिन्न–भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। प्रो. ऐलेक्जेंड्रोविक्ज के शब्दों में– ''भारत एक सच्चा संघ है यद्यपि

प्रत्येक संघ की तरह इसकी भी अपनी विशेषताएं हैं और भारत को अर्द्ध संघ कहना भ्रमपूर्ण है।''

इसके विपरीत एक अन्य लेखक जी. एन. जोशी के अनुसार "संघ वास्तव में एक संघ राज्य नहीं है अपितु एक अर्द्ध संघ है जिसमें कुछ महत्वपूर्ण तत्व एकात्मकता है।"

उक्त दोनों में कौन सा दृष्टिकोण सही है इसका निर्णय करने से पूर्व हम दोनों दृष्टिकोणों पर विचार करेंगे।

2.3.1 संघवाद का सैद्धांतिक स्वरूप : संघात्मक लक्षण

भारतीय संविधान में संघात्मक पद्धति के लगभग सभी गुण विद्यमान हैं–

1. **लिखित तथा कठोर संविधान**– एक संघ का संविधान लिखित रूप में होता है और भारतीय संविधान भी एक लिखित संविधान है। साथ ही संघीय संविधान कठोर भी बनाया जाता है जिससे संघ में दृढ़ता तथा स्थिरता बनी रह सके। भारतीय संविधान की संशोधन पद्धति भी विशिष्ट है और इसकी संघात्मक व्यवस्था में परिवर्तन करना सरल नहीं है।

2. **शक्तियों का वितरण**– संघात्मक पद्धति का दूसरा लक्षण केंद्र तथा इकाइयों (राज्यों) की सरकारों के मध्य शक्तियों का वितरण है। भारतीय संविधान के अंतर्गत सम्पूर्ण शक्तियों को तीन वर्गों तथा सूचियों में बांटा गया है। प्रथम, संघ (केन्द्र) सूची कहलाती है जिसमें कुल 97 विषय हैं जिन पर क्षेत्राधिकार पूर्णरूपेण केन्द्र सरकार का है। राष्ट्रीय महत्व के लगभग सभी विषय, जैसे– वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा, प्रतिरक्षात्मक उद्योग, रेल, हवाई, यातायात, जहाजरानी, डाकतार, सिक्के, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, बीमा, बैंक, नागरिकता, खनिज, जनगणना आदि इस सूची में आते हैं। दूसरी, वित्तीय इकाई (राज्य) सूची में 66 विषय सम्मिलित हैं, जैसे– सार्वजनिक शांति और व्यवस्था, पुलिस, जेल, स्वास्थ्य, चिकित्सा, न्याय प्रशासन, कृषि, भूमि प्रबंध, वन, स्थानीय स्वशासन आदि। तीसरी समवर्ती सूची कहलाती है, जिसमें दीवानी एवं फौजदारी कानून तथा प्रक्रिया, विवाह, तलाक, आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन, व्यापार संघ, श्रम समस्याएं, मूल नियंत्रण, समाचार–पत्र आदि सम्मिलित हैं। इस सूची के विषयों पर केन्द्र तथा राज्य दोनों सरकारों का समान क्षेत्राधिकार है। परंतु संविधान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर केंद्र तथा राज्य दोनों ही कानून बनाएं तो केंद्रीय कानून को राज्य के कानून के ऊपर प्राथमिकता दी जाएगी। इन तीनों सूचियों में से किसी में भी न आने वाली शक्तियों, जिन्हें अवशिष्ट शक्तियां कहा जाता है, संविधान ने केन्द्र सरकार को प्रदान की हैं। इस प्रकार संघ शासन का यह प्रमुख लक्षण भारतीय संविधान में विद्यमान है। डॉ. अंबेडकर के शब्दों में, "संघ व्यवस्था का मुख्य लक्षण संविधान द्वारा केंद्र तथा इकाई के मध्य विधायी तथा कार्यपालिका शक्तियों का विभाजन है। यह सिद्धांत हमारे संविधान में सम्मिलित है।"

टिप्पणी

3. **सर्वोच्च संघीय न्यायालय**– संघात्मक व्यवस्था के अंतर्गत एक सर्वोच्च संघीय न्यायालय का होना भी आवश्यक है। भारतीय संविधान ने एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना कर इस आवश्यकता को पूरा किया है। उच्चतम न्यायालय सर्वोच्च है क्योंकि इसके निर्णय के विरुद्ध अन्य किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। इसका स्वरूप संघीय है क्योंकि इसकी स्थापना संघ (केन्द्र) सरकार के अंतर्गत की जाती है।

इस प्रकार संघ शासन के इन सभी प्रमुख लक्षणों की संविधान में उपस्थिति के कारण अनेक लेखक भारत को एक संघराज्य के रूप में मान्यता देते हैं। स्वयं डॉ. अंबेडकर ने कहा था कि, ''यह एक द्वैध राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करता है जिसमें केंद्र में संघ तथा चारों ओर राज्य स्थित हैं जिन्हें संविधान द्वारा प्रदत्त क्षेत्रों में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है। संघ और राज्य दोनों का जन्मदाता संविधान है, दोनों को शक्तियां संविधान से प्राप्त होती हैं, इनमें से कोई एक–दूसरे के अधीन नहीं है, एक की सत्ता दूसरे की पूरक है।''

2.3.2 संघवाद का व्यावहारिक स्वरूप : एकात्मक लक्षण

उपरलिखित संघात्मक तत्वों के अतिरिक्त भारतीय संविधान में अनेक ऐसे गैरसंघात्मक तत्व भी विद्यमान हैं जो इसे एकात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार के एकात्मक संघ के लक्षणों की व्याख्या हम यहां निम्न रूप से कर रहे है–

1. **एक संविधान**– सामान्यतः एक संघ में दो प्रकार के संविधान पाए जाते हैं– एक, संघीय संविधान और दूसरे, विभिन्न इकाइयों के अपने पृथक–पृथक संविधान, परंतु संविधान सभा ने केवल एक ही संविधान का निर्माण किया है जिसके अंतर्गत संघीय सरकार तथा इकाइयों की सरकारें, दोनों के ही संविधान सम्मिलित हैं। यही नहीं केवल जम्मू तथा कश्मीर राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों के लिए एक ही प्रकार की संवैधानिक व्यवस्था की गई है।
2. **शक्ति विभाजन केंद्र के पक्ष में**– संविधान के अंतर्गत शक्तियों का जो विभाजन किया गया है वह भी केंद्रीय सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। उदाहरणस्वरूप, संघ (केन्द्र) सूची में शासन के 97 विषय हैं जबकि राज्य सूची में केवल 66 विषय सम्मिलित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त समवर्ती सूची में 47 विषयों पर भी संघीय कानूनों को राज्यों के कानूनों के ऊपर प्राथमिकता प्रदान की गई है। अवशिष्ट शक्तियां भी संविधान ने संघ सरकार को ही प्रदान की हैं। संघीय पद्धति के अंतर्गत सामान्यतः इकाइयों की सरकारों को ही अधिक शक्तियां प्रदान की जाती हैं। परंतु भारतीय संघ के अंतर्गत शक्तियों के विभाजन के द्वारा केंद्रीय सरकार को ही अधिक शक्तिशाली बनाया गया है।
3. **इकहरी नागरिकता**– सामान्यतः संघीय व्यवस्था के अंतर्गत दो प्रकार की नागरिकताएं पाई जाती हैं। एक ओर व्यक्ति सम्पूर्ण संघ का नागरिक होता है दूसरी ओर वह किसी विशेष इकाई का नागरिक होता है। परंतु भारतीय संविधान के अंतर्गत द्वैध नागरिकता का अभाव है। सभी व्यक्ति केवल भारतीय नागरिक हैं।

4. **इकाइयों की भौगोलिक अस्थिरता**– सामान्यतः संघ शासन के अंतर्गत इकाइयों की भौगोलिक सीमाएं स्थाई होती हैं और यदि उनमें कोई परिवर्तन होता भी है तो वह इकाइयों की सहमति से ही होता है। परंतु भारतीय संविधान के अंतर्गत संघ सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह–(1) किसी राज्य की सीमा में परिवर्तन कर उसके क्षेत्रफल को कम या अधिक कर सकती है, (2) राज्यों के नामों में परिवर्तन कर सकती है तथा (3) किसी राज्य से उसका प्रदेश पृथक करके अथवा दो या अधिक राज्यों के क्षेत्रों को मिलाकर किसी नवीन राज्य की स्थापना कर सकती है। इस प्रकार भारतीय संघ के अंतर्गत इकाइयों का पूर्ण अस्तित्व ही संघ सरकार पर निर्भर है।

5. **एकीकृत प्रशासन**– अन्य संघों की भांति भारतीय संविधान ने भी दो प्रकार की प्रशासनिक सेवाओं की व्यवस्था की है। एक है केंद्र की भारतीय प्रशासनिक सेवाएं और दूसरी राज्यों की प्रशासनिक सेवाएं। परंतु व्यवहार में दोनों ही सेवाओं के कर्मचारी संघ/केन्द्र तथा इकाइयों/राज्यों दोनों की शासन व्यवस्था का संचालन करते हैं। संघ पद्धति के अंतर्गत केन्द्र का प्रशासन तथा राज्यों का प्रशासन उनके पृथक–पृथक कर्मचारियों के द्वारा किया जाता है जिसकी व्यवस्था भारतीय संघ में नहीं है।

6. **एकीकृत न्याय व्यवस्था**– भारत में न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में भी संविधान ने एकीकृत व्यवस्था की स्थापना की है। केंद्र में एक उच्चतम न्यायालय की तथा राज्यों में उच्च न्यायालयों की व्यवस्था की गई है परंतु इन सबकी स्थापना संघ/केन्द्र सरकार के द्वारा ही की जाती है। संघ पद्धति के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों, दोनों के पृथक–पृथक न्यायालय तथा न्याय व्यवस्थाएं होती हैं जिनका भारत में अभाव है।

7. **इकाइयों/राज्यों का असमान प्रतिनिधित्व**– संघात्मक शासन के अंतर्गत संघीय व्यवस्था में इकाइयों को उच्च सदन (राज्यसभा) में समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है जबकि निचले सदन (लोकसभा) में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के अनुपात में होता है। इस प्रकार छोटी और बडी इकाइयों के प्रतिनिधित्व में संतुलन की स्थापना की जाती है। परंतु भारत में राज्यसभा में भी प्रतिनिधित्व का आधार जनसंख्या ही है और इस प्रकार राज्यों की समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है।

8. **राज्याध्यक्ष/राज्यपाल संघ का प्रतिनिधि**– भारतीय संघ के अंतर्गत राज्यों के संवैधानिक अध्यक्ष को राज्यपाल कहा जाता है। परंतु राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है और वह केंद्रीय सरकार के प्रति ही उत्तरदायी होता है। राज्य का अध्यक्ष होते हुए भी राज्यपाल के ऊपर राज्य का कोई नियंत्रण नहीं होता।

9. **केंद्रीय विधायी नियंत्रण**– विधायी क्षेत्र में यद्यपि राज्यों को समवर्ती सूची तथा राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त होता है, फिर भी केंद्र का सीमित नियंत्रण राज्यों की विधि निर्माण शक्तियों पर भी होता है।

टिप्पणी

राज्य सूची के कुछ विषय ऐसे होते हैं जिन पर राज्यों की व्यवस्थापिकाओं (विधानसभा) द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति का अनुमोदन प्राप्त होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार यदि राज्यसभा दो–तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास कर दे तो केंद्र को एक वर्ष के लिए राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अंत में किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संधि अथवा समझौते को क्रियान्वित करने के लिए भी केंद्र राज्य सूची के विषय पर कानून बना सकता है।

10. **राज्य की कमजोर आर्थिक स्थिति**– केंद्र की तुलना में राज्यों के आर्थिक साधन सीमित हैं। इसलिए संविधान ने केंद्र द्वारा राज्यों को आर्थिक अनुदान तथा ऋण देने की व्यवस्था की है। इनके द्वारा केंद्र राज्यों के ऊपर दबाव डाल सकता है।

11. **आपातकालीन शक्तियां**– संविधान के अंतर्गत तीन प्रकार की आपात–स्थितियों की घोषणा की व्यवस्था है। प्रथम, बाह्य आक्रमण, आंतरिक अशांति अथवा इनमें से किसी की आशंका, द्वितीय किसी राज्य में संवैधानिक व्यवस्था की असफलता तथा तृतीय, वित्तीय आपात–स्थिति। इन तीनों ही दशाओं में केंद्र यदि चाहे तो राज्य प्रशासन अपने हाथों में लेकर संविधान की संघात्मक व्यवस्था को पूर्णतया एकात्मक व्यवस्था का रूप दे सकता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि आपात–स्थिति की घोषणा कब की जाएगी और कब इसे समाप्त किया जाएगा यह निर्णय करने की शक्ति पूर्णतः केंद्र के हाथों में है और इस संबंध में राज्यों से राय लेने की कोई व्यवस्था संविधान ने नहीं की है।

निष्कर्ष– राज्यों के ऊपर अनेक केंद्रीय नियंत्रणों को देखते हुए, अनेक विद्वान भारतीय व्यवस्था को पूर्णरूपेण एक शुद्ध संघीय व्यवस्था के रूप में स्वीकार नहीं करते, उदाहरणस्वरूप– डी.एन. बनर्जी के अनुसार, ''भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है यद्यपि इसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।''

जी.एन. जोशी के शब्दों में, ''भारतीय संघ निश्चित रूप से एक संघ राज्य न होकर एक अर्द्ध संघात्मक राज्य है जिसमें एकात्मकता के कुछ महत्वपूर्ण तत्व हैं।''

के.सी. व्हीयर के अनुसार, ''भारत एक एकात्मक राज्य है जिसमें संघात्मक तत्व गौण है, न कि एक संघात्मक राज्य जिसमें एकात्मक तत्व गौण हो।''

इन सब विद्वानों के कथनानुसार भारत पूर्णतः एक संघ नहीं है लेकिन ऐसा मानना तर्कसंगत नहीं है। भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान हैं। लेकिन यह भी सही है कि इसमें अनेक तत्व ऐसे भी हैं जो केंद्रीय सरकार की तुलना में इकाइयों की स्थिति कमजोर कर देते हैं। अतएव, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान ने एक संघीय राज्य की स्थापना तो की है परंतु यह एक ऐसा संघ है जिसमें केंद्रीय सरकार अधिक शक्तिशाली है।

2.3.3 केंद्र–राज्य संबंध और उसके कार्य

संघीय पद्धति की स्थापना भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है। संघीय व्यवस्था के अंतर्गत दो प्रकार की सरकारें होती हैं– एक केंद्रीय अथवा संघीय सरकार और

दूसरी संघ की विभिन्न इकाइयों की सरकारें। भारतीय संघ में मुख्य 28 इकाइयां हैं जिन्हें राज्य कहा जाता है तथा 8 केन्द्रशासित प्रदेश हैं। संघीय पद्धति को उचित रूप में समझने के लिये यह आवश्यक है कि केंद्र और राज्यों के संबंधों को समझा जाए। नीचे हम विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों के संबंधों की विवेचना करेंगे–

1. विधायी संबंध

(i) संविधान की सातवीं अनुसूची के अंतर्गत शासन संबंधी विषयों का विभाजन केंद्र तथा राज्यों के मध्य सूचियों के अंतर्गत किया गया है। प्रथम, संघ सूची है जिसमें राष्ट्रीय महत्व के 97 विषय हैं और इन पर विधि निर्माण की शक्ति केंद्रीय सरकार को प्राप्त है। दूसरी, वित्तीय राज्य सूची है जिसके 66 विषयों पर राज्य सरकारों को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त है। तीसरी, समवर्ती सूची है जिसके 47 विषयों पर केंद्र तथा राज्य दोनों सरकारों को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त है, परंतु संविधान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर केंद्र और राज्य दोनों ही कानून बनाएं तो ऐसी स्थिति में केंद्र के कानून को राज्य के कानून के ऊपर प्राथमिकता दी जाएगी। इसके अतिरिक्त संविधान ने अवशिष्ट शक्तियां केंद्रीय सरकार को प्रदान की हैं।

(ii) संविधान के अनुच्छेद 294 के अंतर्गत राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करके एक बार में एक वर्ष के लिये राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति केंद्रीय सरकार को दे सकती है।

(iii) अनुच्छेद 352 के अंतर्गत राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा होने पर राज्य सूची के विषयों पर विधि निर्माण की शक्ति केंद्र को प्राप्त हो जाती है।

(iv) अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राज्य की विधानसभा भंग होने की स्थिति में भी केंद्रीय संसद उस राज्य के लिये कानून बना सकती है।

(v) दो या अधिक राज्यों की व्यवस्थापिकाएं (विधानसभाएं) यदि ऐसा आग्रह करें तो संसद उन राज्यों के लिये राज्य–सूची के विषयों पर कानून बना सकती है।

(vi) केंद्रीय सरकार अपने अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों की पूर्ति के लिये ऐसे विषयों पर भी कानून बना सकती है जिनका संबंध राज्य सूची के विषयों से हो।

2. प्रशासनिक संबंध

(i) राज्य के मुख्य अधिशासनिक अधिकारी अर्थात् राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति अथवा केंद्र द्वारा की जाती है।

(ii) अनुच्छेद 356 के अंतर्गत किसी राज्य में राज्यपाल की रिपोर्ट के अंतर्गत (वहां संविधान के अनुसार शासन करना कठिन हो गया है) आपातकाल की घोषणा की जाती है। ऐसी स्थिति में केंद्र उस राज्य के प्रशासन का संचालन भी करता है।

(iii) अखिल भारतीय प्रशासनिक, पुलिस तथा कुछ अन्य सेवाओं के सदस्यों का चयन, प्रशिक्षण तथा नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती है। परंतु वह राज्यों के क्षेत्रों में भी कार्य करते हैं। इसी प्रकार राज्य कर्मचारियों को भी केंद्रीय सेवा में लिया जा सकता है।

टिप्पणी

(iv) निर्वाचन आयोग केंद्रीय संस्था है पर वह केंद्र और राज्य, दोनों क्षेत्रों में और दोनों के अधिकारियों के सहयोग से निर्वाचनों की व्यवस्था करता है।

(v) न्याय के क्षेत्र में एकीकृत न्याय व्यवस्था है। अमेरिका की भांति केंद्र तथा राज्यों के पृथक–पृथक न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था भारत में नहीं की गई है।

(vi) वित्तीय लेखा परीक्षण के लिये भारत में एक ही संगठन है जो केंद्र तथा राज्य दोनों ही सरकारों से संबद्ध है।

(vii) अनुच्छेद 256 तथा 257 के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्यों को प्रशासनिक निर्देश दे सके।

(viii) राज्य सरकारों के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी नीतियों का संचालन इसप्रकार करें जिससे उनके क्षेत्रों में केंद्रीय कानून को समुचित ढंग से लागू किया जा सके।

(ix) केंद्र सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह विभिन्न राज्यों के लिये अंतर्राज्जीय परिषदों की स्थापना करें।

(x) निम्न वर्ग तथा अन्य पिछड़ी जातियों की स्थिति की जांच करने तथा उनमें सुधार के सुझाव देने के लिये केंद्र सरकार एक आयोग की स्थापना कर सकती है।

3. वित्तीय संबंध

(i) संघ तथा राज्य सूचियों में सम्मिलित विषयों से संबद्ध करों की राशि पूर्णतया संबंधित सरकारों के पास रहती है।

(ii) संघ सूची के कुछ विषयों से संबंधित क्षेत्रों में कुछ कर संघ द्वारा लगाए जाते हैं परंतु इनकी वसूली तथा विनियोजन राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। कुछ कर संघ द्वारा लगाए तथा वसूल किए जाते हैं, परंतु उनकी पूर्ण राशि राज्यों को दे दी जाती है। कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए तथा वसूल किए जाते हैं, परंतु उनकी आय का विभाजन केंद्र तथा राज्यों के मध्य किया जाता है।

(iii) संघ सरकार द्वारा राज्यों को विभिन्न प्रकार के अनुदान देने की व्यवस्था भी संविधान ने की है।

(iv) अनुच्छेद 275 के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय साधनों पर रिपोर्ट देने के लिये राष्ट्रपति द्वारा एक वर्ष पश्चात् एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने की व्यवस्था भी संविधान ने की है।

(v) अनुच्छेद 282 के अंतर्गत संविधान ने यह व्यवस्था की कि संसद किसी भी सार्वजनिक उद्देश्य के निमित्त अनुदान स्वीकार कर सकती है, चाहे वह विषय केंद्र का हो, अथवा राज्य का। परिणामस्वरूप पंचवर्षीय योजनाओं के क्षेत्र में राज्यों के ऊपर केंद्रीय नियंत्रण बहुत बढ़ गया है।

(vi) केंद्र द्वारा राज्यों को ऋण देने की भी व्यवस्था है जिसके कारण राज्यों के ऊपर केंद्र के नियंत्रण, निर्देशन तथा निरीक्षण की शक्तियों में भी वृद्धि हुई है।

टिप्पणी

को चुनने की बारी आई। लाल बहादुर शास्त्री ने नए प्रधानमंत्री के रूप में पद संभाला परंतु उनके चयन की विशेषता यह थी कि उसमें केंद्रीय नेताओं के अतिरिक्त कांग्रेस के राज्य स्तरीय नेताओं ने भी सक्रिय भूमिका निभाई। इस द्वितीय काल की एक अन्य विशेषता यह रही कि कांग्रेस के अंदर वैचारिक मतभेद उभरने प्रारंभ हो गए और उसके फलस्वरूप पृथकत्व की भावना सतह पर आने लगी। कांग्रेस से बाहर निकलकर अनेक लोगों ने राज्य स्तर पर छोटे–छोटे दलों का गठन भी किया। उदाहरणस्वरूप, केरल में केरल कांग्रेस, बंगाल में बांग्ला कांग्रेस, राजस्थान में जनता पार्टी आदि की स्थापना हुई। यद्यपि यह दल स्थायी नहीं रह पाए और इन्होंने राज्यों की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया, फिर भी यह स्पष्ट हो गया कि राज्यों की राजनीति पर अब कांग्रेस का एकाधिकार अधिक समय तक चलने वाला नहीं है।

3. **राज्यों में गैरकांग्रेसी शासन का काल**– लाल बहादुर शास्त्री अधिक समय तक प्रधानमंत्री के पद पर कार्य नहीं कर पाए और उनकी असमय मृत्यु के पश्चात् श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। इसके साथ ही राज्यों की राजनीति में भी तीव्रता के साथ परिवर्तन प्रारंभ हो गए। 1967 के आम चुनावों का परिणाम आश्चर्यजनक रहा क्योंकि आठ राज्यों यथा– उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, राजस्थान, केरल, तमिलनाडु तथा पश्चिम बंगाल में गैर कांग्रेस सरकारों की स्थापना हुई। इस काल की एक अन्य विशेषताएं यह रही कि इनमें से अधिकांश राज्यों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाया और परिणाम स्वरूप अधिकांश राज्यों में विभिन्न दलों ने मिलकर सरकार का गठन किया, जैसा कि सामान्यतः इस प्रकार की सरकारों के साथ होता है इनमें सम्मिलित दलों के मध्य शीघ्र ही मतभेद उभरने लगे और इसके फलस्वरूप इनमें से अधिकांश सरकारें अधिक समय तक कार्य नहीं कर पाईं। इस काल की एक अन्य विशेषता यह रही कि राज्यों में बडे पैमाने पर दल बदल की घटनाएं हुई कांग्रेस के अंतर्गत भी इस अवधि में मतभेद उभरे जिसके फलस्वरूप 1969 में कांग्रेस का दो भागों में विभाजन हो गया। विभिन्न राज्यों में इस काल में अनेक समस्याओं को लेकर जनआंदोलन भी हुए। इन सब घटनाओं के फलस्वरूप राज्यों की राजनीति में इस काल में अस्थिरता आनी प्रारंभ हो गई। राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकारों की स्थापना के कारण इस अवधि में पहली बार केंद्र तथा राज्यों के मध्य तनाव के लक्षण भी उभरने लगे।

4. **केंद्रीय नियंत्रण काल**– 1970 के पश्चात् राज्यों की राजनीति के स्वरूप तथा प्रवृत्तियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। 1971 के आम निर्वाचनों में श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रभाव में अत्यन्त वृद्धि हुई क्योंकि केंद्र तथा अधिकांश राज्यों में कांग्रेस पार्टी ने बडे बहुमत से विजय प्राप्त की तथा अपनी सरकारों का गठन किया। श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में राज्यों की राजनीति पर केंद्र का दबाव बहुत बढ़ गया। श्रीमती गांधी के शासन के अंतर्गत राज्यों की राजनीति में केंद्रीय नेताओं का हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया यहां तक कि राज्यों के मुख्यमंत्रियों का चयन भी राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के बहुमत द्वारा न किया जाकर प्रधानमंत्री द्वारा किया जाने लगा। राज्यों में केंद्रीय हस्तक्षेप निरन्तर

बढ़ता ही चला गया जिसके विरुद्ध राज्यों की जनता तथा विरोधी दलों में असंतोष बढ़ता ही चला गया। इस असंतोष को दबाने के लिए 1975 में देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गयी और 1977 तक, जब तक आपातकाल लागू रहा, भारत का संघीय ढांचा व्यवहार में एकात्मक हो गया। इन परिस्थितियों में राज्यों की राजनीतिक सक्रियता भी समाप्त हो गई क्योंकि राज्य सरकारें केंद्रीय प्रतिनिधि के रूप में केंद्र के राजनीतिक निर्णयों को क्रियान्वित करने में ही लगी रहीं।

5. **राज्यों में नवचेतना काल**– आपातकालीन स्थिति की घोषणा के विरुद्ध राज्यों में जनता में असंतोष बढ़ता ही चला गया और विरोधी दलों ने इस असंतोष को व्यापक और संगठित करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। परिणामस्वरूप, 1977 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी की घोर पराजय हुई और केंद्र तथा अनेक राज्यों में विरोधी दलों द्वारा गठित जनता पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ। इसी के साथ राज्यों की राजनीति में एक नए अध्याय का प्रारंभ हुआ। प्रथम बार केंद्र तथा अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई जिसके परिणामस्वरूप राज्यों की राजनीति में कांग्रेस विरोध की प्रवृत्ति उभरने लगी, लेकिन सत्ता में आने के साथ ही जनता पार्टी में मतभेद उभरने लगे। इस पार्टी के अंदर विभिन्न गुटों के मध्य लोलुपता के कारण तीन वर्षों के भीतर ही जनता पार्टी का विघटन हो गया और देश में एक बार पुनः आम निर्वाचन हुए।

6. **क्षेत्रवाद का काल**– 1980 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी ने पुनः एक बार अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। केंद्र तथा अधिकांश राज्यों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई। परिणामस्वरूप एक बार फिर राज्यों की राजनीति में केंद्रीय हस्तक्षेप की परंपरा प्रारंभ हो गई। इस काल की एक अन्य विशेषता यह रही कि अनेक राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय हुआ और कुछ राज्यों में तो यह अत्यंत प्रभावशाली भी बन गए। उदाहरणस्वरूप, आंध्र में तेलगूदेशम, असम में असम गण परिषद, पंजाब में अकाली दल, तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक मुनेत्र कडगम तथा जम्मू और कश्मीर में राष्ट्रीय कांफ्रेंस जैसे क्षेत्रीय दलों ने सरकारों का गठन किया। क्षेत्रीय दलों के सत्ता में आने के साथ ही राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न पुनः उभरने लगा और केंद्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों के मध्य पुनः तनाव बढ़ने लगा। विभिन्न राज्यों में गठित गैरकांग्रेसी सरकारों ने परस्पर मिलकर राज्यों की स्वायत्तता के पक्ष में जमानत का निर्माण प्रारंभ कर दिया।

1983 में श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या हो गई और उनके पश्चात् प्रधानमंत्री का पद उनके पुत्र राजीव गांधी ने संभाला। राजीव गांधी के शासन में आते ही राज्यों की राजनीति में बढ़ते हुए असंतोष को कुछ ठहराव प्राप्त हुआ। प्रारम्भिक दौर में राजीव गांधी को राज्यों में उत्पन्न असंतोष को दूर करने की दिशा में बहुत सफलता प्राप्त हुई। उदाहरणस्वरूप पंजाब, आसाम, मिजोरम आदि की समस्याओं को सुलझाने में कुछ समय के लिए ही सही, केंद्र को सफलता प्राप्त हुई। परंतु शीघ्र ही, सरकार के विरुद्ध असंतोष बढ़ने और अपने द्वितीय

टिप्पणी

कार्यकाल में राजीव गांधी को प्रधानमंत्री का पद छोड़कर विरोधी दल के नेता के रूप में कार्य करना पड़ा। इस अवधि में राज्यों में केंद्र की कांग्रेस सरकार के विरुद्ध असंतोष बढ़ता ही चला गया।

7. **वर्तमान काल**– राजीव गांधी की हत्या के पश्चात् हुए निर्वाचनों में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत तो प्राप्त हो पाया परंतु लोकसभा में सबसे बडा दल होने के नाते पी. वी. नरसिंह राव के प्रधानमंत्रित्व में कांग्रेस ने ही सरकार का गठन किया। इस निर्वाचन की एक विशेषता यह रही है कि उत्तर भारत के राज्यों में कांग्रेस का सफाया हो गया। प्रथम बार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी जबकि बिहार और उडीसा में जनता दल ने और पश्चिम बंगाल में वामपंथी मोर्चे की सरकार का गठन हुआ। दक्षिण के अधिकांश राज्यों में कांगेस ही सरकार गठित करने में सफल हुई। वर्तमान काल में राज्यों की राजनीति का स्वरूप पूर्णरूपेण ही परिवर्तित हो गया है। भारतीय जनता पार्टी ने अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण को अपनी राजनीति का मुख्य आधार बनाया जिसके फलस्वरूप 06 दिसम्बर 1992 को आयोध्या स्थित विवादित ढांचा ध्वस्त कर दिया गया। इस घटना के कारण देश के विभिन्न भागों में सांप्रदायिक दंगे हुए और चार राज्यों की भारतीय जनता पार्टी सरकारों को केंद्र ने पदमुक्त कर वहां राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

वर्तमान समय में राज्यों की राजनीति में गुटबन्दी, भ्रष्टाचार, संकुचित दृष्टिकोण, धार्मिक उन्माद और सांप्रदायिक विद्वेषों का बोलबाला है। परिणामस्वरूप राज्यों की राजनीति में अस्थिरता उत्पन्न हो गई है जो देश की एकता तथा आर्थिक विकास के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. संविधान की किस अनुसूची के अंतर्गत शासन संबंधी विषयों का विभाजन किया गया है?

   (क) अनुसूची पांचवीं (ख) अनुसूची सातवीं

   (ग) अनुसूची नौवीं (घ) अनुसूची बारहवीं

4. किस सन् में कांग्रेस का विभाजन दो भागों में हुआ?

   (क) सन् 1961 (ख) सन् 1963

   (ग) सन् 1965 (घ) सन् 1969

2.4 राज्य स्वायत्तता की मांग

स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् भारत में एक संघ की स्थापना की गई जिसके अंतर्गत एक केंद्रीय सरकार तथा कुछ इकाइयों की स्थापना की गई। नए संविधान के अंतर्गत दो प्रकार की इकाइयों की व्यवस्था की गयी है– एक संघ के राज्य और दूसरे केंद्र शासित प्रदेश। चौथे आम चुनावों के पहले तक केंद्र तथा राज्यों के संबंध मित्रतापूर्ण

बने रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस समय तक केंद्र तथा राज्यों में एक ही दल अर्थात कांग्रेस की सरकारें थीं और पार्टी की नीतियों तथा अनुशासन के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों में एक ही दल अर्थात कांग्रेस की सरकारों के मध्य पारस्परिक तालमेल रखने में कोई कठिनाई नहीं थी। चौथे आम चुनावों में अनेक राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई और इसके साथ ही संविधान लागू होने के पश्चात् केंद्र और राज्य संबंधों के मध्य तनाव प्रारंभ हो गया। तमिलनाडु में स्थापित द्रविड़ मुनेत्र कडगम की सरकार ने प्रथम बार राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न उठाया।

22 सितम्बर, 1969 को तमिलनाडु सरकार ने मद्रास उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश डा. पी.वी. राजमंनार की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की। इस समिति में दो और सदस्य थे– डॉ. ए. रामास्वामी मुदालियर और बी. चेन्नारेड्डी। समिति का उद्देश्य केंद्र और राज्य संबंधों का परीक्षण करना तथा उनके संबंध में सुझाव देना था। समिति की रिपोर्ट में अंतर्राज्य परिषदों की स्थापना की बात कही गई थी। समिति के अन्य सुझाव थे– राज्यपाल की नियुक्ति राज्य सरकारों के सहयोग से की जाए राज्यों को आयकर एकत्रित करने की शक्ति प्राप्त हो, समवर्ती सूची में विषयों की संख्या कम की जाए और अवशिष्ट शक्तियां राज्यों को प्रदान की जाएं आदि। 1971 के लोकसभा निर्वाचनों के पश्चात् केंद्र और तमिलनाडु के मध्य स्वायत्तता के प्रश्न को लेकर तनाव में वृद्धि ही हुई।

राज्य स्वायत्तता की मांग : एक विवेचना

तमिलनाडु द्वारा पहल करने के पश्चात् अन्य राज्यों ने भी स्वायत्तता की मांग का समर्थन करना प्रारंभ कर दिया। 1977 के पश्चात् तो यह मांग और जोर पकड़ती गई जब पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार तथा जम्मू और कश्मीर की नेशनल कांफ्रेस सरकार ने भी राज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न का समर्थन करना प्रारंभ कर दिया।

पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार ने तो राज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न पर एक परिपत्र तैयार किया जो सभी राज्य सरकारों को भेजा गया। इस परिपत्र की प्रमुख मांगें निम्नलिखित थी–

1. संविधान की प्रस्तावना में भारत के लिए प्रयुक्त यूनियन शब्द के स्थान पर फेडरेशन शब्द रखा जाए।
2. केंद्र और राज्यों के मध्य शक्तियों के विभाजन का पुनर्निरीक्षण किया जाए, परिपत्र ने सुझाव दिया कि केंद्र के पास केवल प्रतिरक्षा, विदेश नीति, विदेश व्यापार, मुद्रा, आर्थिक समन्वय आदि विषय रहें। बाकी सभी विषय, अवशिष्ट शक्तियों सहित राज्यों के पास रहे।
3. राज्यपाल पूर्णरूपेण एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संविधान की धारा 357 को समाप्त कर दिया जाए।
4. राज्यों की व्यवस्थापिका (विधानसभा) द्वारा पारित किसी भी विधेयक पर राष्ट्रपति के अनुमोदन की आवश्यकता न रहे।
5. केंद्रीय सरकार की आय का 75 प्रतिशत अंश राज्यों के मध्य वितरित किया जाए।

टिप्पणी

6. राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन भी लोकसभा के सदस्यों की भांति प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा हो और दोनों सदनों को समान शक्तियां प्रदान की जाएं।
7. योजना आयोग के स्वरूप तथा गठन का निर्णय राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा किया जाए।

1977 में जम्मू और कश्मीर के तत्कालीन मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला ने भी केंद्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय संबंधों पर पुनर्विचार करने की मांग उठाई। इस समय केंद्र में जनता दल की सरकार थी और उसने इन मांगों के प्रति सहानुभूति तो दिखलाई परंतु उन्हें पूरा करने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया। 1980 में सत्ता में परिवर्तन हुआ और केंद्र में पुनः कांग्रेस सरकार की स्थापना हुई। इसी वर्ष स्वायत्तता के संदर्भ में अकाली दल ने आनंदपुर साहिब प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव का मूल और अधिकृत रूप कभी प्रस्तुत नहीं किया गया। अनुमान यह है कि यह प्रस्ताव भारत की एकता और अखण्डता पर प्रहार करता है और इस कारण इसे अन्य दलों का समर्थन प्राप्त नहीं हो पाया। वास्तविकता यह है कि राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न कोई सैद्धांतिक प्रश्न न रहकर केवल एक राजनैतिक हथियार बनकर रह गया। समय–समय पर इसका उपयोग उन राज्यों ने, जहां विपक्षी दलों की सरकारें हैं, केंद्रीय सरकार को परेशानी में डालने के लिए किया है। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रश्न के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक आधारों पर सार्वजनिक रूप से बहस हो, तभी राज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न को गंभीरता से लिया जा सकता है।

सरकारिया आयोग प्रतिवेदन

राज्यों की स्वायत्तता की मांग के संदर्भ में जून, 1983 में केंद्रीय सरकार ने केंद्र–राज्य संबंधों के पुनर्निरीक्षण के उद्देश्य से एक आयोग की स्थापना की। न्यायमूर्ति सरकारिया इस आयोग के अध्यक्ष थे और इसमें दो और सदस्य थे। नवम्बर, 1987 में सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट केंद्रीय सरकार को सौंप दी। सरकारिया आयोग रिपोर्ट की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित थीं–

1. सरकारिया आयोग ने प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि देश की अखण्डता तथा एकता की रक्षा के लिए केंद्र का शक्तिशाली होना आवश्यक है।
2. आयोग ने यह भी सिफारिश की कि आपातकालीन उपलब्धों के अंतर्गत अनुच्छेद 356 का उपयोग राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए अत्यंत सावधानीपूर्वक किया जाए। आयोग के अनुसार राज्यों में राष्ट्रपति शासन तभी लागू किया जाए जब इसका अन्य कोई विकल्प नहीं हो।
3. आयोग के अनुसार संबंधित राज्य की विधानसभा को तभी भंग किया जाए जब अनुच्छेद 356 की उद्घोषणा का अनुमोदन संसद दो माह के भीतर कर दें।
4. आयोग ने सुझाव दिया कि समवर्ती विषयों पर विधि–निर्माण के क्षेत्र केंद्र तथा राज्यों के मध्य विचार–विनिमय होना चाहिए।
5. आयोग ने योजना आयोग तथा वित्त आयोग के मध्य अधिक समन्वय पर बल दिया। साथ ही इसने यह भी सुझाव दिया कि राज्यों को केंद्रीय ऋण देने की पद्धति पर पुनर्विचार किया जाए।

6. राज्यों में केंद्रीय सुरक्षा बलों की नियुक्ति के संबंध में सरकारिया आयोग ने केंद्र को पूर्ण स्वतंत्रता देने का सुझाव दिया।
7. आयोग ने कुछ नई अखिल भारतीय सेवाएं गठित करने का भी सुझाव दिया।
8. आयोग के अनुसार राष्ट्रीय विकास परिषद को और सशक्त तथा अधिक सक्रिय बनाने की आवश्यकता है।
9. आयोग का एक अन्य सुझाव यह भी था कि प्रधानमंत्री, सभी केंद्रीय मंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्रियों को सम्मिलित कर एक उच्चस्तरीय मंत्रिपरिषद का गठन किया जाए और केंद्र–राज्यों से संबंधित समस्याओं पर यह विचार करे।
10. आयोग ने अंर्तराज्य परिषदों की स्थापना तथा उन्हें अधिक सशक्त तथा सक्रिय बनाने पर जोर दिया।
11. आयोग के अनुसार राज्यपाल के पद पर किसी निष्पक्ष और विशिष्ट व्यक्ति को नियुक्त किया जाना चाहिए और यह नियुक्ति राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह से हो। आयोग के अनुसार राज्यपाल पद से अवकाश लेने के पश्चात उसके राजनीति में भाग लेने पर प्रतिबंध लगाना उचित होगा।

निष्कर्ष– सरकारिया आयोग ने जो सुझाव दिए है उनमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन की बात नहीं कही गई है। वास्तव में केंद्र–राज्य संबंध सुधारने की दिशा में संविधान एक बाधा नहीं है और इस संदर्भ में इसमें महत्वपूर्ण संशोधन की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यों की वास्तविक समस्याओं का निराकरण किया जाए और इस क्षेत्र में उचित अभिसमयों को जन्म दिया जाए।

अपनी प्रगति जांचिए

5. राज्य स्वायत्तता की मांग के अनुसार केंद्र सरकार की आय का कितना प्रतिशत अंश राज्यों के मध्य वितरित किया जाता है?

   (क) 25 प्रतिशत (ख) 50 प्रतिशत

   (ग) 75 प्रतिशत (घ) 90 प्रतिशत

6. किस सन् में सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट केंद्रीय सरकार को सौंप दी?

   (क) नवम्बर, 1985 (ख) नवम्बर, 1987

   (ग) नवम्बर, 1990 (घ) नवम्बर, 1992

2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ग)
3. (ख)
4. (घ)

5. (ग)

6. (ख)

टिप्पणी

2.6 सारांश

संघात्मक व्यवस्था के अंतर्गत एक सर्वोच्च संघीय न्यायालय का होना भी आवश्यक है। भारतीय संविधान ने एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना कर इस आवश्यकता को पूरा किया है। उच्चतम न्यायालय सर्वोच्च है क्योंकि इसके निर्णय के विरुद्ध अन्य किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती।

भारत में न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में भी संविधान ने एकीकृत व्यवस्था की स्थापना की है। केंद्र में एक उच्चतम न्यायालय की तथा राज्यों में उच्च न्यायालयों की व्यवस्था की गई है परंतु इन सबकी स्थापना संघ/केन्द्र सरकार के द्वारा ही की जाती है।

भारतीय संघ के अंतर्गत राज्यों के संवैधानिक अध्यक्ष को राज्यपाल कहा जाता है। परंतु राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है और वह केंद्रीय सरकार के प्रति ही उत्तरदायी होता है।

भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान हैं। लेकिन यह भी सही है कि इसमें अनेक तत्व ऐसे भी हैं जो केंद्रीय सरकार की तुलना में इकाइयों की स्थिति कमजोर कर देते हैं। अतएव, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान ने एक संघीय राज्य की स्थापना तो की है परंतु यह एक ऐसा संघ है जिसमें केंद्रीय सरकार अधिक शक्तिशाली है।

संविधान के अनुच्छेद 294 के अंतर्गत राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करके एक बार में एक वर्ष के लिये राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति केंद्रीय सरकार को दे सकती है।

अखिल भारतीय प्रशासनिक, पुलिस तथा कुछ अन्य सेवाओं के सदस्यों का चयन, प्रशिक्षण तथा नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती है। परंतु वह राज्यों के क्षेत्रों में भी कार्य करते हैं। इसी प्रकार राज्य कर्मचारियों को भी केंद्रीय सेवा में लिया जा सकता है।

संघ सूची के कुछ विषयों से संबंधित क्षेत्रों में कुछ कर संघ द्वारा लगाए जाते हैं परंतु इनकी वसूली तथा विनियोजन राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। कुछ कर संघ द्वारा लगाए तथा वसूल किए जाते हैं, परंतु उनकी पूर्ण राशि राज्यों को दे दी जाती है। कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए तथा वसूल किए जाते हैं, परंतु उनकी आय का विभाजन केंद्र तथा राज्यों के मध्य किया जाता है।

केंद्र और राज्यों के मध्य शक्तियों के विभाजन का पुनर्निरीक्षण किया जाए, परिपत्र ने सुझाव दिया कि केंद्र के पास केवल प्रतिरक्षा, विदेश नीति, विदेश व्यापार, मुद्रा, आर्थिक समन्वय आदि विषय रहें। बाकी सभी विषय, अवशिष्ट शक्तियों सहित राज्यों के पास रहे।

राज्यों की स्वायत्तता की मांग के संदर्भ में जून, 1983 में केंद्रीय सरकार ने केंद्र–राज्य संबंधों के पुनर्निरीक्षण के उद्देश्य से एक आयोग की स्थापना की। न्यायमूर्ति

सरकारिया इस आयोग के अध्यक्ष थे और इसमें दो और सदस्य थे। नवम्बर, 1987 में सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट केंद्रीय सरकार को सौंप दी।

टिप्पणी

2.7 मुख्य शब्दावली

- **संशोधन** : विधायिनी सभा में किसी विधेयक में परिवर्तन, सुधार अथवा उसे निर्दोष बनाने की प्रक्रिया।
- **संघवाद** : शासन की वह व्यवस्था जिसमें किसी देश के अवयव इकाइयों और एक केंद्रीय शक्ति के बीच सत्ता की साझेदारी हो।
- **सरकारिया आयोग** : केंद्र–राज्य संबंधों पर 1983 में केंद्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश आर.एस. सरकारिया की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया जिसे सरकारिया आयोग के नाम से जाना जाता है।

2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संविधान संशोधन से आप क्या समझते हैं?
2. किस आधार पर संविधान के संशोधन की आलोचनाएं की गई?
3. संघवाद से क्या तात्पर्य है?
4. संघीय सूची के अंतर्गत आने वाले विषयों को बताइए।
5. आपातकालीन शक्तियों से आप क्या समझते हैं?
6. सरकारिया आयोग रिपोर्ट को संक्षेप में समझाइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. किन कारणों से किसी भी देश के संविधान में संशोधन की आवश्यकता हो जाती है?
2. संविधान संशोधन की प्रक्रिया को समझाइए।
3. भारतीय संविधान में संघात्मक पद्धति के कौन–कौन से गुण विद्यमान हैं? विवेचना कीजिए।
4. भारत की संघात्मक व्यवस्था के सम्मुख जो चुनौतियां हैं उनका उल्लेख कीजिए।
5. केंद्र और राज्यों के संबंधों और उनके कार्यों की विवेचना कीजिए।
6. राज्य स्वायत्तता की मांग के संदर्भ में सरकारिया आयोग रिपोर्ट की सिफारिशों की विवेचना कीजिए।

2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जी. ऑस्टीन, *वर्किंग ऑफ ए डेमोक्रेटिक कान्स्टीट्यूशन : द इंडियन एक्सपीरियंस, दिल्ली,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 2000.
2. डी.डी. बसु, *एन इंटरोडक्शन टू द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया,* नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल, 1994.
3. डी.डी बसु एंड बी पारेख (एजूकेशन) *क्राइसिस एंड चेंज इन कन्टेमप्ररेरी इंडिया,* नई दिल्ली, सागा, 1994.
4. सी.पी. भाम्बरी, *द इंडियन स्टेट : फिस्टी इयर्स,* नई दिल्ली, शिप्रा 1997.
5. पी. ब्रास, *पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिन्स इंडिपेंडेंस, हैदराबाद,* ओरियंट लौंगमैन, 1990.
6. एस. कोर्ब्रिज एंड जे. हैरिस, *रिइंवेंटिंग इंडिया : लीबरेलजाइशन, हिंदू नेशनल्जिम एंड पापुलर डेमोक्रेसी,* दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2001.
7. एन.जी. जायल (एजुकेशन) *डेमोक्रेसी इन इंडिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2011.
8. एस. कौशी (एजुकेशन) इंडियन गवर्मेंट एंड पॉलिटिक्स दिल्ली यूनिवर्सिटी, डायरेक्टरेट ऑफ इंप्लिमेंटेशन, 1990.
9. ए. कोहली, *डेमोक्रेसी एंड डिस्कटेट : इंडियाज ग्रोइंग क्राइसिस ऑफ गोवर्नएबिलिटी कैम्ब्रिज,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस 1991.

इकाई 3 संघीय सरकार और सर्वोच्च न्यायालय

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 राष्ट्रपति
3.3 प्रधानमंत्री
3.4 मंत्रिपरिषद और संसद
3.5 सर्वोच्च न्यायालय और संवैधानिक प्रक्रिया
3.6 न्यायिक सक्रियता
3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.8 सारांश
3.9 मुख्य शब्दावली
3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

भारतीय संविधान भारत में संसदीय सरकार की स्थापना करता है। संसदीय सरकार में राष्ट्रपति संवैधानिक रूप से प्रधान होता है परन्तु वास्तविक शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित होती है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री व उसकी मंत्रिपरिषद होती है। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है परन्तु वह इसका प्रयोग स्वयं न करके प्रधानमंत्री और उसके मंत्रिमण्डल के परामर्श से करेगा। इस प्रकार संघीय कार्यपालिका में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री होंगे। राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान होता है और मंत्रिपरिषद कार्यपालिका की वास्तविक प्रधान होती है। औपचारिक प्रधान होने के कारण भारतीय संघ के राष्ट्रपति का पद सत्ता और गरिमा से तो युक्त है किन्तु उसमें वास्तविक शक्तियां नहीं हैं। राष्ट्रपति का पद गौरव, गरिमा और प्रतिष्ठा का प्रतीक है। संविधान द्वारा जो संसदात्मक व्यवस्था अपनाई गई है उसमें वास्तविक प्रधान प्रधानमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद होती है। भारतीय व्यवस्था में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों ही निर्वाचित होते हैं। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से तथा प्रधानमंत्री का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है। प्रायः ऐसे व्यक्ति को प्रधानमंत्री चुना जाता है जो लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त हो या जो लोकसभा के बहुमत दल का विश्वास प्राप्त करने की स्थिति में हो। संविधान में अन्तरिम प्रधानमन्त्री का कोई उपबन्ध नहीं है। कभी–कभी राज्य सभा का लोकसभा के बहुमत का विश्वास और समर्थन प्राप्त हो तथा वे उसे अपना नेता चुन सकें।

भारतीय संविधान–निर्माता एक ऐसा अखिल भारतीय सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय बनाने के लिए कृतसंकल्प थे जिसे फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त हो। सर्वोच्च न्यायालय इसी संकल्प की पूर्ति करता है। हमारी न्याय व्यवस्था के शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है जो भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य

टिप्पणी

न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। उसका क्षेत्राधिकार अत्यन्त व्यापक है। वह अभिलेख न्यायालय है और उसके क्षेत्राधिकार में प्रारम्भिक, अपीलय और परामर्शीय सभी प्रकार के मामले आ जाते हैं। वस्तुतः भारत में संविधान और लोकतन्त्र की रक्षा का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय का ही है। स्वाधीन भारत में सर्वोच्च न्यायालय का कार्यकाल बहुत गौरवमयी रहा है। तथा आम जनता में व्यक्ति के संवैधानिक अधिकारों तथा स्वाधीनता के प्रहरी के रूप में उसके प्रति अटूट श्रद्धा और सम्मान है।

भारतीय संविधान में 'न्यायिक पुनर्विलोकन' अर्थात् कानूनों की वैधानिकता के परीक्षण की शक्ति का भी प्रावधान किया गया है। इसके दो सशक्त आधार हैं– संघात्मक व्यवस्था और मौलिक अधिकार। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का विस्तार ही न्यायिक सक्रियता कहलाता है। न्यायिक सक्रियता के कुछ प्रमुख रूप व मान्यताएं हैं– जनहितकारी अभियोगों का मान्यता देना, आर्थिक–सामाजिक न्याय को भी बल देना, शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण करना तथा शासन को आवश्यक निर्देश देना आदि। न्यायिक सक्रियता का महत्वपूर्ण विषय भी इस इकाई की एक विशेषता है। साथ ही उच्चन्यायालय एवं अन्य भारतीय न्यायालयों का विवरण भी इसमें दिया गया है।

इस इकाई में राष्ट्रपति के निर्वाचन, उनकी शक्तियों, प्रधानमंत्री के चयन, कार्य के विविधताओं में उसकी भूमिका, मंत्रिपरिषद तथा मंत्रिमंडल में अंतर आदि को विस्तार से समझाया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति और शक्तियों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- राष्ट्रपति के निर्वाचन पद्धति से भली–भांति परिचित हो पाएंगे;
- संसदात्मक व्यवस्था में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण स्थिति का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- मंत्रिपरिषद तथा संसद के कार्यों का आकलन कर पाएंगे;
- सर्वोच्च न्यायालय के कार्यों की विवेचना कर पाएंगे;
- न्यायपालिका की स्वतंत्र और निष्पक्ष कार्यप्रणाली की विवेचना कर पाएंगे;
- न्यायिक सक्रियता का अर्थ, विभिन्न रूप, सीमाएं तथा महत्व को समझ पाएंगे।

3.2 राष्ट्रपति

भारतीय संविधान के अंतर्गत संसदात्मक शासन पद्धति की स्थापना की गई है जिसमें दो प्रकार की कार्यपालिकाएं विद्यमान होती हैं। इनमें से एक नाम मात्र की कार्यपालिका के रूप में कार्य करती है और संविधान के अंतर्गत उसे ही कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त होती हैं। दूसरी वास्तविक कार्यपालिका के रूप में कार्य करती है और व्यवहार में कार्यपालिका शक्तियों का उपयोग इसके ही द्वारा किया जाता है। भारतीय संविधान

के अंतर्गत भी दो प्रकार की कार्यपालिकाएं हैं। संवैधानिक अथवा नाम मात्र की कार्यपालिका के रूप में भारतीय राष्ट्रपति कार्य करता है और वास्तविक कार्यपालिका के रूप में प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद कार्य करते हैं।

टिप्पणी

योग्यताएं

संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है –

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो।
3. वह लोकसभा का सदस्य होने की योग्यता रखता हो।
4. वह भारत में केंद्र अथवा किसी राज्य की सरकार के अंतर्गत लाभ के पद पर नहीं हो।

कार्यकाल

संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति 5 वर्षों तक अपने पद पर कार्य कर सकता है। इससे पूर्व भी वह अपने पद से त्यागपत्र दे सकता हैं इसके अतिरिक्त महाभियोग द्वारा अपदस्थ किए जाने तथा मृत्यु हो जाने पर भी राष्ट्रपति का पद रिक्त हो सकता है। किसी भी स्थिति में राष्ट्रपति का पद रिक्त होने की स्थिति में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद पर कार्य करता है परंतु संविधान के अंतर्गत छः महीने के अंतर्गत नए राष्ट्रपति का निर्वाचन आवश्यक है।

वेतन तथा अन्य सुविधाएं

अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति को 1,00,000 (एक लाख रुपया) मासिक वेतन, निःशुल्क आवास तथा अन्य संबद्ध सुविधाएं प्राप्त होती हैं। कार्यकाल की समाप्ति के पश्चात उसे आजीवन 6,00,000 रुपये वार्षिक पेंशन प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त उसे वार्षिक पेंशन भत्ता भी प्राप्त होता है।

राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति

संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति पद के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई है। निर्वाचन के लिए एक निर्वाचक मंडल का गठन किया जाता है। इस निर्वाचन मंडल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित किए जाते हैं। विभिन्न राज्यों को राष्ट्रपति के मतदान के समान न मानकर उनके मतों की संख्या का निर्धारण विभिन्न राज्यों की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर किया गया है। इसके लिए प्रत्येक राज्य की जनसख्या को उस राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से विभाजित करने के पश्चात उसे पुनः 1000 से विभाजित किया जाता है। इस प्रकार जो भागफल आता है उस राज्य के प्रत्येक विधानसभा के सदस्य की मत संख्या उतनी ही मानी जाती है। इसका फार्मूला इस प्रकार है –

टिप्पणी

$$\frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या} \times 1000}$$

उदाहरणस्वरूप, यदि किसी राज्य की जनसंख्या 3 करोड़ है और उस राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 300 है तो उसकी मत संख्या इस प्रकार निकाली जाएगी –

$$\frac{3,00,00,000}{300 \times 1000}$$

इस प्रकार इस राज्य के प्रत्येक विधानसभा की मत संख्या 100 होगी। विभाजन में यदि 500 से अधिक है तो उसे एक मत माना जाएगा और 500 से कम होने पर उसकी उपेक्षा कर दी जाएगी।

संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की मत संख्या निकालने के लिए विधानसभा के सदस्यों की कुल मत संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचन सदस्यों की संख्या से विभाजित किया जाएगा और जो भागफल आएगा प्रत्येक संसद सदस्य के उतने ही मत होंगे।

फार्मूला इस प्रकार है –

$$\frac{\text{विधान सभा के सदस्यों की कुल संख्या}}{\text{संसद के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} = \text{प्रत्येक संसद–सदस्य की मत संख्या}$$

उदाहरणस्वरूप, यदि राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचन सदस्यों के मतों का योग 400000 मान लिया जाए और संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 750 मान ली जाए तो मतसंख्या इस प्रकार रहेगी।

$$\frac{4,00,000}{750} = 533$$

इस प्रकार, इस उदाहरण के अंतर्गत, संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों में प्रत्येक की मतसंख्या 533 मानी जाएगी। संविधान के 11 वें संशोधन के अनुसार संसद के दोनों सदनों अथवा राज्यों की विधानसभाओं में यदि किसी सदस्य का स्थान रिक्त भी हो, तब भी राष्ट्रपति का निर्वाचन अवैध नहीं माना जाएगा। संविधान ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित प्रत्येक विवाद का निर्णय, उच्चतम न्यायालय ही करेगा।

मतदान तथा मत गणना

संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन समानुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मतदान प्रणाली के अंतर्गत किया जाएगा। इसके अंतर्गत राष्ट्रपति पद के लिए वही उम्मीदवार विजय प्राप्त कर सकता है जिसे कुल वैध मतों का स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो। मतदान में पूर्ण गोपनीयता बरती जाती है। सामान्यतः संसद सदस्य दिल्ली में और विधानसभाओं के सदस्य अपने अपने राज्य की राजधानियों में मतदान करते हैं।

पहले से अनुमति लेकर कोई संसद सदस्य अपने राज्य की राजधानी में भी मतदान कर सकता है।

महाभियोग पद्धति

टिप्पणी

आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रहित में, संविधान ने, राष्ट्रपति को उसके पद से हटाने का अधिकार संसद को प्रदान किया है। संसद यह कार्य महाभियोग के द्वारा करती है। महाभियोग संबंधी व्यवस्था संविधान के 61वें अनुच्छेद में की गई है। संसद के दोनों सदनों को राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की शक्ति प्राप्त है। महाभियोग लगाने वाले सदन के एक चौथाई सदस्यों का समर्थन उस प्रस्ताव के लिए आवश्यक है। महाभियोग लगाने के 14 दिन के पश्चात यदि महाभियोग लगाने वाला सदन उसे दो तिहाई बहुमत से पास कर दे तो यह प्रस्ताव सुनवाई के लिए दूसरे सदन के पास जाएगा। दूसरे शब्दों में यदि लोकसभा महाभियोग लगाती है तो राज्य सभा इसकी सुनवाई करेगी और यदि राज्य सभा महाभियोग लगाती है तो इसकी सुनवाई लोकसभा द्वारा होगी। सुनवाई के दौरान राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्वयं अथवा किसी वकील के द्वारा अन्यथा अन्य किसी व्यक्ति द्वारा अपना स्पष्टीकरण सुनवाई करने वाले सदन के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता है। यदि सुनवाई करने वाला सदन भी दो तिहाई मतों से महाभियोग संबंधी प्रस्ताव को पास कर देता है तो उसी दिन से राष्ट्रपति का पद रिक्त मान लिया जाएगा। इस प्रकार जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को यह अधिकार दिया गया है कि वह राष्ट्र की रक्षा के लिए राष्ट्रपति को उसके पद से हटा दें।

राष्ट्रपति की शक्तियां

संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति कार्यपालिका का अध्यक्ष है और इस दृष्टि से उसे अनेक शक्तियां प्राप्त हैं। संविधान द्वारा प्रदत्त राष्ट्रपति की शक्तियों पर हम विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत आगे विचार करेंगे।

1. **कार्यपालिका शक्तियां** – राष्ट्रपति देश का मुख्य अधिशासनिक अधिकारी है और इस दृष्टि से उसे कार्यपालिका के क्षेत्र में अनेक शक्तियां प्राप्त हैं। संघीय प्रशासन के समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम पर ही संपन्न किए जाते हैं वह देश की जल, थल और वायु सेनाओं का सर्वोच्च सेनानायक होता है और इस दृष्टि से उसे युद्ध की घोषणा करने तथा शांति स्थापित करने का अधिकार प्राप्त है कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते प्रमुख प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति करने का अधिकार उसे प्राप्त है। उदाहरणस्वरूप, प्रधानमंत्री तथा उसकी अथवा मुख्य आयुक्त, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश, भारत का महान्यायवादी और महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्य आदि राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

   प्रधानमंत्री से मंत्रिमंडल के विभिन्न निर्णयों तथा कार्यों के संबंध में सूचना प्राप्त करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। भारत की विदेश नीति के क्षेत्र में अन्य देशों में भारतीय राजदूतों की नियुक्ति तथा अन्य देशों के राजदूतों को भारत में मान्यता राष्ट्रपति द्वारा ही दी जाती है। राज्य का अध्यक्ष होने के कारण

टिप्पणी

नागरिकों को विभिन्न अलंकरण, सम्मान और पुरस्कार भी राष्ट्रपति द्वारा ही प्रदान किए जाते हैं।

2. **विधायी शक्तियां** – व्यवस्थापिका के क्षेत्र में राष्ट्रपति संसद के कार्यों से भी संबद्ध है। वर्ष में कम से कम दो बार राष्ट्रपति संसद की बैठकें बुलाता है। उसे संसद के दोनों अथवा किसी भी सदन को स्थगित करने तथा लोक सभा को भंग करने की शक्ति भी प्राप्त हैं संसद के दोनों सदनों की बैठक को वह संबोधित कर सकता है अथवा उन्हें संदेश भेज सकता है। राज्य सभा के विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्टता प्राप्त किए हुए बारह सदस्यों को वह मनोनीत करता है। आंग्ल भारतीय के हितों को सुरक्षित रखने के लिए वह इस समुदाय से दो सदस्यों को लोक सभा में मनोनीत कर सकता है। संसद के दोनों सदनों के मध्य मतभेद होने की स्थिति में वह उनका संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। संसद द्वारा पारित कोई भी विधेयक राष्ट्रपति के अनुमोदन के बिना कानून नहीं बन सकता। राष्ट्रपति विधेयक का अनुमोदन करना अस्वीकार कर सकता है परंतु उसका यह निषेधाधिकार अस्थाई है। यदि संसद उस विधेयक को दूसरी बार पारित कर दे तो फिर राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने की भी शक्ति प्राप्त होती है। परंतु यह आवश्यक है कि संसद की बैठक प्रारंभ होने के 6 सप्ताह के भीतर उस अध्यादेश का अनुमोदन संसद द्वारा किया जाए, अन्यथा वह समाप्त हो जाएगा।

3. **वित्तीय शक्तियां** – वित्तीय क्षेत्र में राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह प्रतिवर्ष संघ सरकार के आय–व्यय का लेखा, जिसे बजट कहते हैं, तैयार करवा कर, संसद के सम्मुख प्रस्तुत करवाए। कोई भी वित्त विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। प्रति 5 वर्ष के पश्चात राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की नियुक्ति करता है। भारत की आकस्मिक निधि का संचालन राष्ट्रपति द्वारा ही किया जाता है। केंद्र तथा राज्यों के मध्य करों से प्राप्त आय के वितरण के संबंध में राष्ट्रपति उचित निर्देश जारी कर सकता है।

4. **न्यायिक शक्तियां** – राष्ट्र का अध्यक्ष होने के कारण न्यायिक क्षेत्रों में भी राष्ट्रपति को कुछ औपचारिक अधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रपति किसी दंडित व्यक्ति के दंड को कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है तथा उसे पूर्ण क्षमादान प्रदान कर सकता है यदि–

   (अ) दंड सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो।

   (ब) दंड किसी ऐसे अपराध के संबंध में प्रदान किया गया हो जिसका संबंध संघ की विधियों से हो, तथा

   (स) दंड मृत्यु का हो।

राष्ट्र का अध्यक्ष होने के कारण अपने पद से संबंधित कार्यों के लिए राष्ट्रपति किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं है। पद पर आसीन रहने की अवधि में राष्ट्रपति के विरुद्ध कोई फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। किसी प्रकार का दीवानी मुकदमा चलाने के पूर्व राष्ट्रपति को इस संबंध में दो महीने का नोटिस देना आवश्यक है।

आपातकालीन शक्तियां

टिप्पणी

राष्ट्राध्यक्ष और कार्यपालिका के प्रमुख रूप में इन सामान्य शक्तियों के अतिरिक्त संविधान ने राष्ट्रपति को कुछ आपातकालीन शक्तियां भी प्रदान की हैं। संविधान में आपातकालीन शक्तियों का उल्लेख अनुच्छेद 352 से अनुच्छेद 360 तक किया गया है। संविधान ने तीन परिस्थितियों की चर्चा की है जिनमें राष्ट्रपति द्वारा आपातकालीन उद्घोषणा की जा सकती है।

(अ) युद्ध आक्रमण, आंतरिक अशांति अथवा इनमें से किसी की आशंका से उत्पन्न आपातकालीन स्थिति।

(ब) राज्यों में संवैधानिक संकट से उत्पन्न आपात स्थिति।

(स) किसी राज्य में उत्पन्न वित्तीय आपात स्थिति।

इन तीनों प्रकार की आपात स्थितियों की विवेचना हम आगे करेंगे–

(अ) युद्ध, आक्रमण, आंतरिक अशांति अथवा इनमें से किसी की आशंका से उत्पन्न आपातकालीन स्थिति– मूल रूप से संविधान की धारा 352 के अंतर्गत राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया था कि वह युद्ध, आक्रमण, आंतरिक अशांति अथवा इनमें से किसी की आशंका होने पर वह आपातकालीन उद्घोषणा जारी कर सकता है। मूलतः इस प्रकार की उद्घोषणा छः महीने तक जारी रह सकती है परंतु इसके पश्चात भी संसद इसे छः–छः महीने की अवधि के लिए बढ़ा सकती है। यह भी आवश्यक था कि उद्घोषणा होने के दो माह के भीतर संसद इसका अनुमोदन कर दे। यदि इस बीच में लोक सभा को भंग कर दिया हो तो बढ़ाने की अवधि अथवा अनुमोदन राज्य सभा करती है। परंतु नई लोक सभा के गठन के दो माह के अंदर इसके द्वारा इसका अनुमोदन होना आवश्यक है।

संविधान के 44 वें संशोधन, जो 1978 में किया गया, के अंतर्गत इस उद्घोषणा के अंतर्गत निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं –

1. प्रारंभ में आंतरिक अशांति के स्थान पर सशस्त्र विद्रोह शब्द जोड़ दिया गया है।
2. राष्ट्रपति प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल की लिखित प्रार्थना के बिना इस प्रकार की उद्घोषणा जारी नहीं कर सकता।
3. संसद द्वारा अनुमोदन की दो मास की अवधि को घटाकर एक मास कर दिया गया है।
4. संसद आपातकालीन उद्घोषणा का अनुमोदन अथवा छः माह तक बढ़ाए जाने की संपुष्टि कुल सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से ही कर सकेगी। पहले वह सामान्य बहुमत से ही ऐसा कर सकती थी।
5. लोकसभा कभी भी साधारण बहुमत से पारित प्रस्ताव के द्वारा राष्ट्रपति को आपातकालीन स्थिति समाप्त करने के लिए कह सकती है। पहले एक बार अनुमोदन करने के पश्चात लोकसभा को इस प्रकार का आदेश देने का कोई अधिकार न था।

टिप्पणी

6. लोकसभा की कुल सदस्य संख्या 1/10 सदस्य चौदह दिन के भीतर लोकसभा की विशेष बैठक की मांग आपातकालीन उद्घोषणा अथवा उसे बनाए रखने के संकल्प को प्रस्तावित करने के लिए कर सकते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 352 के अंतर्गत राष्ट्रपति द्वारा आपात स्थिति की उद्घोषणा करने के निम्नलिखित परिणाम हो सकते हैं –

(i) राष्ट्रपति राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार संसद को दे सकता है।

(ii) संघीय सरकार राज्यों को उनकी कार्यपालिका संबंधी शक्तियों के उपयोग के संबंध में उचित निर्देश दे सकता है।

(iii) राष्ट्रपति संविधान में दिए गए उन वित्तीय उपबंधों को स्थगित कर सकता है जिनका संबंध केंद्र तथा राज्यों के मध्य करों के वितरण से संबंधित आय हो।

(iv) संविधान के अनुच्छेद 19 के अंतर्गत स्वतंत्रता से संबंधित मौलिक अधिकारों को स्थगित करने की शक्ति भी संविधान ने राष्ट्रपति को आपातकाल में दी थी। परंतु संविधान के 44 वें संशोधन के अंतर्गत अब इस अधिकार को केवल उस परिस्थिति में ही स्थगित किया जा सकता है जब आपातकालीन उद्घोषणा युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण के आधार पर की गई हो दूसरे शब्दों में, सशस्त्र विद्रोह के आधार पर लागू की गई आपात स्थिति में यह अधिकार बने रहेंगे। दूसरी व्यवस्था इस संशोधन के अंतर्गत यह की गई है कि केवल वही विधियां अनुच्छेद 19 को सीमित कर सकती हैं जिनमें यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया हो कि उनका संबंध आपातकालीन उद्घोषणा से है अन्य विधियों को आपातकाल में भी अनुच्छेद 19 की सीमा में रहना पड़ेगा।

(ब) राज्यों में संवैधानिक संकट से उत्पन्न आपात स्थिति – यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल से इस आशय की रिपोर्ट प्राप्त हो कि उस राज्य में संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य करना कठिन हो गया है तो राष्ट्रपति उस राज्य के संबंध में आपातकालीन उद्घोषणा जारी कर सकता है। सामान्य भाषा में इसे राष्ट्रपति का शासन के नाम से जाना जाता है। यह आवश्यक है कि उद्घोषणा जारी होने के दो महीने के भीतर संसद उसका अनुमोदन कर दे। यदि इस बीच लोकसभा को भंग कर दिया गया हो तो राज्य सभा द्वारा दो महीने के भीतर उसका अनुमोदन आवश्यक है। परंतु, नई लोकसभा की बैठक आरंभ होने के एक माह के भीतर उसके द्वारा उसका अनुमोदन होना आवश्यक है। इस प्रकार की आपातकालीन उद्घोषणा एक बार में छः महीने के लिए जारी रह सकती है। परंतु संसद चार–चार महीने के लिए इसकी अवधि बढ़ा सकती हैं लेकिन किसी भी दशा में यह उद्घोषणा तीन वर्ष से अधिक जारी नहीं रह सकती। संविधान के 44 वें संशोधन के अंतर्गत इसमें कुछ परिवर्तन किए गए हैं इस संशोधन के अनुसार जिस समय इस उद्घोषणा को एक वर्ष की अवधि के लिए बढ़ाया जाएगा वह तब राज्य में प्रभावी होगा जब

निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित करे कि उस राज्य में निर्वाचन कराने में कठिनाई के कारण इस उद्घोषणा की अवधि बढ़ाना आवश्यक है।

इस प्रकार की आपातकालीन उद्घोषणा के अंतर्गत संवैधानिक स्थिति में निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं –

टिप्पणी

1. राष्ट्रपति उस राज्य के विधानमंडल को स्थगित कर सकता है अथवा विधानसभा को भंग कर सकता है।
2. उस राज्य के लिए कानून बनाने का अधिकार संसद को प्रदान कर सकता है।
3. उस राज्य का प्रशासन अपने हाथ में लेकर राज्यपाल अथवा प्रशासकों के माध्यम से स्वयं चला सकता है।

(स) किसी राज्य में उत्पन्न वित्तीय आपात स्थिति – संविधान के अनुच्छेद 360 के अंतर्गत राष्ट्रपति वित्तीय आपातकाल की घोषणा कर सकता है यदि वह संतुष्ट हो कि संपूर्ण भारत अथवा उसके किसी भाग की आर्थिक अवस्था खराब हो गई है। संविधान के 38वें संशोधन के अंतर्गत राष्ट्रपति के इस आदेश को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। संसद द्वारा इसका भी उसी रूप में अनुमोदन आवश्यक है जिस प्रकार प्रथम प्रकार की आपातकालीन उद्घोषणा का अनुमोदन किया जाता है।

आर्थिक आपात की उद्घोषणा होने पर निम्नलिखित कदम केंद्रीय सरकार द्वारा उठाए जा सकते हैं –

1. राज्य सरकारों को अर्थव्यवस्था से संबंधित निर्देश केंद्र द्वारा दिए जा सकते हैं।
2. राष्ट्रपति अन्य निर्देश भी दे सकता है जो अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक है।
3. राष्ट्रपति केंद्र और राज्य कर्मचारियों, जिनमें उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश भी सम्मिलित हैं, के वेतन तथा भत्तों में कटौती कर सकता है।
4. राष्ट्रपति राज्यों को निर्देश दे सकता है कि उनके विधान मंडलों द्वारा पारित सभी वित्त विधेयकों को उसके पास अनुमोदन के लिए भेजा जाए।

राष्ट्रपति की स्थिति का मूल्यांकन

यदि केवल संविधान को ध्यान में रखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति को अथाह शक्तियां तथा अधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रपति पद ग्रहण करते समय संविधान का संरक्षण, रक्षण तथा प्रतिरक्षण करने की शपथ लेता है। अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और इसका उपयोग वह संविधान के अनुसार करेगा। अनुच्छेद 74 के अनुसार राष्ट्रपति को अपनी शक्ति के प्रयोग में सलाह तथा सहायता देने के लिए प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद होगी।

व्यावहारिक स्तर पर राष्ट्रपति की स्थिति एक नाममात्र के शासक की है। ब्रिटेन की भांति भारत ने भी संसदात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया है। इस व्यवस्था में दो

टिप्पणी

प्रकार की कार्यपालिकाएं होती हैं– एक संवैधानिक अथवा नाममात्र की और दूसरी वास्तविक। संविधान के अंतर्गत संपूर्ण शक्तियां नाममात्र की कार्यपालिका को प्राप्त होती है, परंतु व्यवहार में उनका उपयोग वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। भारत में राष्ट्रपति नाममात्र की और प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका के रूप में कार्य करते हैं। इस दृष्टि से भारत के राष्ट्रपति की स्थिति औपचारिक है। संविधान के 42वें संशोधन के अंतर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद और प्रधानमंत्री की राय मानने को बाध्य है। संविधानसभा में राष्ट्रपति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ. अंबेडकर ने कहा था, ''वह राज्य का अध्यक्ष है कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है पर उस पर शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। शासन में उसका स्थान एक औपचारिक मुहर के समान है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय प्रकट किए जाते हैं। सामान्यतः वह मंत्रियों की राय मानने को बाध्य है। वह उनकी राय के विरुद्ध तथा उनकी राय के बिना भी कुछ नहीं कर सकता।''

वास्तव में भारत के राष्ट्रपति की स्थिति शक्तियों की नहीं, प्रभाव की है। बेजहाट ने ब्रिटेन के शासक के लिए कहा था कि उसे राय देने, प्रोत्साहित करने तथा चेतावनी के अधिकार प्राप्त हैं। यही बात बहुत हद तक भारतीय राष्ट्रपति के लिए भी सही हैं अपने प्रभाव का उपयोग राष्ट्रपति किस सीमा तक पाएगा, यह उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करेगा। जी.एन. जोशी के शब्दों में ''भारत के निर्णयों में राष्ट्रपति का वास्तव में क्या योगदान रहेगा यह उसके अपने व्यक्तित्व पर निर्भर करेगा।

अपनी प्रगति जांचिए

1. संविधान में आपातकालीन शक्तियों का उल्लेख कितने अनुच्छेद तक किया गया है?
   (क) अनुच्छेद 342 से अनुच्छेद 350 तक
   (ख) अनुच्छेद 352 से अनुच्छेद 360 तक
   (ग) अनुच्छेद 362 से अनुच्छेद 370 तक
   (घ) इनमें से कोई नहीं
2. संविधान के किस संशोधन के अंतर्गत राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद और प्रधानमंत्री की राय मानने को बाध्य है?
   (क) 40वें संशोधन (ख) 41वें संशोधन
   (ग) 42वें संशोधन (घ) 43वें संशोधन

3.3 प्रधानमंत्री

केंद्रीय शासन के अंतर्गत प्रधानमंत्री का पद सबसे महत्वपूर्ण है। वह सरकार का प्रतीक है, राष्ट्र का नेता है और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश का सर्वोच्च प्रतिनिधि है। प्रशासन की सफलता प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। प्रधानमंत्री के पद पर हम विभिन्न दृष्टियों से विचार करेंगे।

टिप्पणी

प्रधानमंत्री की नियुक्ति

संविधान के अंतर्गत प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। सामान्यतः इसमें राष्ट्रपति को अपने विवेक का उपयोग नहीं करना पड़ता क्योंकि लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही वह प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करता है। परंतु यदि लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो तब राष्ट्रपति की इस शक्ति का महत्व बहुत बढ़ जाता है। उसे अपने विवेक के अनुसार यह निर्णय लेना पड़ता है कि किस व्यक्ति को लोकसभा में अधिक से अधिक सदस्यों का विश्वास प्राप्त है और उसको ही प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करता है। संविधान ने प्रधानमंत्री पद के लिए किसी विशेष योग्यता का निर्धारण नहीं किया है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह संसद का सदस्य हो। यदि नियुक्ति के समय प्रधानमंत्री संसद का सदस्य नहीं है तो नियुक्ति के छः मास के अंदर उसे संसद के दोनों सदनों में से किसी भी सदन का सदस्य होना आवश्यक है, ऐसा न होने पर उसकी नियुक्ति निष्प्रभावी हो जाएगी।

प्रधानमंत्री के कार्य

संवैधानिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से प्रधानमंत्री को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इन पर हम नीचे विचार करेंगे।

1. व्यावहारिक स्तर पर प्रधानमंत्री ही शासन का प्रमुख है। वह सरकार का प्रमुख प्रतिनिधि है और इस दृष्टि से शासन द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य का संवैधानिक उत्तरदायित्व उसका ही है।
2. शासन के समस्त कार्यों की सूचना उसे राष्ट्रपति को देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अन्य कोई सूचना भी उससे प्राप्त कर सकता है।
3. मंत्रिपरिषद का गठन तथा मंत्रियों के मध्य विभागों का वितरण प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है। इस संबंध में समस्त निर्णय प्रधानमंत्री द्वारा लिए जाते हैं और राष्ट्रपति केवल उनकी औपचारिक घोषणा करता है।
4. मंत्रिपरिषद की बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री द्वारा की जाती है। इन बैठकों में उठने वाली समस्याओं पर अंतिम निर्णय प्रधानमंत्री का ही होता है।
5. विभिन्न मंत्रालयों के कार्यों के मध्य एकरूपता की स्थापना प्रधानमंत्री द्वारा ही की जाती है। वह मंत्रियों को उनके कार्यों के संबंध में उचित निर्देश दे सकता है।
6. किसी भी मंत्री को उसके आचरण अथवा अनुचित कार्य के कारण प्रधानमंत्री त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है। त्यागपत्र न देने की दशा में प्रधानमंत्री राष्ट्रपति से सिफारिश कर संबंधित मंत्री को अपदस्थ करवा सकता है।
7. शासन के क्षेत्र में उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के सुझाव पर ही की जाती है।
8. विदेश नीति के क्षेत्र में प्रधानमंत्री ही सर्वोच्च है। विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर सरकार की नीति का निर्धारण प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में प्रधानमंत्री देश का प्रमुख वक्ता तथा प्रतिनिधि होता है।

टिप्पणी

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद मिलकर वास्तविक कार्यपालिका के रूप में कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद के सदस्यों की सूची तैयार करता है और राष्ट्रपति उनकी औपचारिक नियुक्ति करता है। मंत्रियों की नियुक्ति में प्रधानमंत्री के ऊपर कोई संवैधानिक बंधन नहीं है फिर भी उसे मंत्रिपरिषद का गठन करते समय अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। अपने दल के प्रमुख सदस्यों की वह उपेक्षा नहीं कर सकता और उन्हें उसे अपनी मंत्रिपरिषद में स्थान देना ही पड़ता है। भारत जैसे देश में प्रधानमंत्री को यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों तथा राज्यों को मंत्रिपरिषद में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। विभिन्न समुदायों और धर्मों के प्रतिनिधियों को भी प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद में उचित राजनैतिक संतुलन बनाए रखने के लिए स्थान देता है।

मंत्रियों के मध्य विभागों के वितरण के क्षेत्र में प्रधानमंत्री बहुत सीमा तक स्वतंत्र है। वह किसी भी मंत्री को कोई भी विभाग देने तथा किसी भी समय किसी भी मंत्री के विभाग में परिवर्तन करने की सिफारिश राष्ट्रपति से कर सकता है। मंत्रिपरिषद की बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री द्वारा की जाती है। विभिन्न समस्याओं के संबंध में मंत्रिपरिषद में विचार विमर्श के दौरान प्रधानमंत्री का मत ही अंतिम होता है, यदि कोई मंत्री प्रधानमंत्री की राय से सहमत नहीं है तो उसके सामने मंत्रिपरिषद से त्यागपत्र देने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं रह जाता। प्रधानमंत्री का विरोध करने के पश्चात यदि मंत्री त्यागपत्र नहीं देता तो प्रधानमंत्री राष्ट्रपति से सिफारिश कर उसे मंत्रिपरिषद से निकाल सकता है।

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के लिए कहा जाता है कि वह स्थानों में प्रथम है। यही बात भारत के प्रधानमंत्री पर भी लागू होती है। मंत्रिपरिषद के सभी सदस्य उसके समान हैं फिर भी उसका स्थान इन सबसे श्रेष्ठ है। वह मंत्रिपरिषद का अफसर भले ही नहीं हो, परंतु उसका नेता अवश्य है। प्रधानमंत्री का त्यागपत्र संपूर्ण मंत्रिपरिषद का त्यागपत्र माना जाता है। इस दृष्टि से भारतीय प्रधानमंत्री पर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के ऊपर की गई यह टिप्पणी अधिक चरितार्थ होती है कि वह (प्रधानमंत्री) तारागणों में चंद्रमा के समान है।

प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति

संवैधानिक दृष्टि से संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है परंतु व्यवहार में संसदात्मक पद्धति की परंपराओं के अनुसार राष्ट्रपति की इन समस्त शक्तियों का उपयोग प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद की राय से किया जाता है। मौलिक रूप से संविधान में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति को राय तथा सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी। प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष होने के कारण राष्ट्रपति का मुख्य परामर्शदाता है। परंपरानुसार राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रधानमंत्री की राय के अनुसार कार्य करे। संविधान के अंतर्गत भी राष्ट्रपति के लिए

टिप्पणी

मंत्रिपरिषद की राय मानना आवश्यक है। इस प्रकार व्यावहारिक स्तर पर अब शासन के क्षेत्र में प्रधानमंत्री की स्थिति राष्ट्रपति से श्रेष्ठ है। राष्ट्रपति राज्य का अध्यक्ष है और इस दृष्टि से उसकी शक्तियां केवल औपचारिक हैं दूसरी ओर प्रधानमंत्री शासन का प्रधान है और इस प्रकार उसकी शक्तियां वास्तविक हैं। राष्ट्रपति शासक है पर वह शासन नहीं करता, प्रधानमंत्री शासन करता है परंतु वह वास्तविक शासक नहीं हैं इस प्रकार प्रधानमंत्री पद का महत्व राष्ट्रपति की तुलना में बहुत बढ़ गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रधानमंत्री का पद राजनीतिक तथा प्रशासनिक दृष्टि से देश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद है। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री की भांति भारतीय प्रधानमंत्री को भी जब तक लोकसभा में बहुमत प्राप्त है तब तक उसकी स्थिति किसी तानाशाह से कम नहीं है। लोकसभा का विश्वास और अपने दल का समर्थन प्राप्त होने पर प्रधानमंत्री विधायिका तथा कार्यपालिका के क्षेत्र में कुछ भी करवा सकता है। फिर भी यह कहना अधिक ठीक होगा कि भारतीय प्रधानमंत्री के पद का प्रभाव और महत्व उस पद को धारण करने वाले के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। पंडित जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनसे प्रधानमंत्री पद की गरिमा बहुत बढ़ गई थी। लालबहादुर शास्त्री के समय में भी प्रधानमंत्री पद के महत्व में वृद्धि ही हुई। श्रीमती इंदिरा गांधी ने प्रधानमंत्री पद को महत्व और शक्ति दोनों ही प्रदान की। अतः प्रधानमंत्री के पद में क्या महत्व रहेगा यह उस व्यक्ति पर निर्भर रहेगा जो उस कुर्सी पर बैठेगा।

अपनी प्रगति जांचिए

3. संविधान के अंतर्गत प्रधानमंत्री की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?

   (क) संसद द्वारा (ख) राष्ट्रपति द्वारा

   (ग) उच्चतम न्यायालय द्वारा (घ) राज्य सभा द्वारा

4. शासन के क्षेत्र में उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किसके सुझाव पर की जाती है?

   (क) न्यायाधीश (ख) मुख्यमंत्री

   (ग) मुख्य सचिव (घ) प्रधानमंत्री

3.4 मंत्रिपरिषद और संसद

संसदात्मक शासन पद्धति में व्यावाहारिक स्तर पर कार्यपालिका शक्ति का उपयोग एक मंत्रिपरिषद द्वारा किया जाता है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 74 के अनुसार राष्ट्रपति को शासन में राय और सहयोग देने के लिए प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद होगी। मंत्रिपरिषद के गठन, शक्तियों तथा कार्यों की व्याख्या हम आगे करेंगे।

टिप्पणी

मंत्रिपरिषद का गठन

संविधान के अंतर्गत मंत्रिपरिषद के संबंध में अधिक विस्तार से चर्चा नहीं की गई है। संविधान के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और उसकी सलाह से राष्ट्रपति अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है परंतु संसदात्मक शासन के अभिसमयों के अंतर्गत मंत्रिपरिषद के गठन में राष्ट्रपति की शक्तियां औपचारिक हैं। लोकसभा के निर्वाचन के पश्चात राष्ट्रपति बहुमत प्राप्त करने वाले दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है। उसके पश्चात प्रधानमंत्री द्वारा प्रस्तुत सूची के अनुसार वह मंत्रियों की नियुक्ति करता है तथा उनके बीच में प्रधानमंत्री की राय से विभागों का वितरण करता है।

भारत में तीन प्रकार के मन्त्रियों की सामान्यतः नियुक्ति होती है। प्रथम स्तर पर मंत्रिमंडल विभागों के अध्यक्ष होते हैं। दूसरे स्तर पर राज्यमंत्री तथा तीसरे स्तर पर उपमंत्री होते हैं। मंत्रियों के विभागों के संबंध में कोई स्थाई व्यवस्था भारत में नहीं है। आवश्यकतानुसार विभागों का पुनर्गठन कर लिया जाता है। एक मंत्री को एक या अधिक विभागों का कार्यभार भी सौंपा जा सकता है। सामान्यतः मंत्रिमंडल के अंतर्गत निम्नलिखित प्रमुख विभाग है– विदेश मंत्रालय, गृह मंत्रालय, वित्त, मानव संसाधन, वाणिज्य, उद्योग, कृषि, खाद्य, कानून, यातायात, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय आदि। इनमें से अनेक मंत्रालयों को राज्य स्तर के मंत्रियों के अंतर्गत अनेक उपविभागों में विभाजित किया जाता है। मासिक वेतन के अतिरिक्त मंत्रियों को उनके स्तर के अनुसार निवास स्थान कार, वैयक्तिक कर्मचारियों तथा अन्य सुविधायें प्राप्त होती हैं।

मंत्रिपरिषद की शक्तियां तथा कार्य

भारत में मंत्रिपरिषद को प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इनकी चर्चा निम्न प्रकार से है–

1. **नीति निर्माण** – कार्यपालिका की शक्तियों का उपयोग करने के कारण मंत्रिपरिषद सर्वोच्च नीति निर्माण संस्था है। मंत्रिपरिषद की बैठकें गोपनीय होती हैं। बैठकों में जो वार्ता होती है उसे बाहर प्रकट नहीं किया जाता। बैठकों में मंत्रीगण किसी विषय की आलोचना कर सकते हैं और उसका विरोध भी कर सकते हैं, परंतु एक बार मंत्रिपरिषद द्वारा निर्णय ले लिये जाने के पश्चात प्रत्येक मंत्री का यह कर्तव्य होता है कि वह सार्वजनिक रूप से उसका समर्थन करें। असहमत होने वाले मंत्री के सामने एक ही रास्ता है और वह है मंत्रीपद से त्यागपत्र देना।
2. **प्रशासन के कार्य** – मंत्रियों को अपने अपने विभागों से संबंधित शासन के अनेक कार्य भी करने पड़ते हैं। संसद द्वारा पारित कानूनों तथा मंत्रिपरिषद द्वारा निर्धारित नीतियों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व विभिन्न मंत्रालयों का होता है। इस दृष्टि से मंत्रिपरिषद के सदस्यों को अपने विभागों की प्रशासनिक नीति का निर्धारण करना पड़ता है। साथ ही मंत्री अपने विभागों के प्रशासन का संचालन करते हैं तथा आवश्यक निर्देशन, निरीक्षण तथा नियंत्रण करते हैं।
3. **विधायी कार्य** – विधायन के क्षेत्र में भी मंत्रिपरिषद को अनेक महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। मंत्रिपरिषद द्वारा ही संसद के अधिवेशनों का कार्यक्रम निर्धारित

टिप्पणी

किया जाता है। संसद का अधिवेशन बुलाने, सरकारी विधेयकों को प्रस्तुत करने की तिथियों का निर्धारण, विधायकों को अंतिम रूप प्रदान करना, उन्हें संसद में प्रस्तुत करना, उन्हें पास कराने के लिए संसद में वाद विवाद में भाग लेना आदि कार्य भी मंत्रियों द्वारा ही किए जाते हैं।

4. **वित्तीय कार्य** – राष्ट्र के वार्षिक बजट अर्थात आय–व्यय के विवरण को तैयार करवाने तथा उसे संसद के सम्मुख प्रस्तुत करने का कार्य भी मंत्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता है। वित्त विधेयक संसद में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति भी मंत्रिपरिषद द्वारा ही प्राप्त की जाती है। विभागों द्वारा धन के उपयोग के संबंध में निर्देश देने तथा नियंत्रण रखने का कार्य भी मंत्रिपरिषद का ही है।

5. **विदेश नीति से संबंधित कार्य** – भारत की विदेश नीति तथा अन्य राज्यों के साथ संबंध के कार्य भी मंत्रिपरिषद द्वारा किए जाते हैं। राजदूतों की नियुक्ति के संबंध में मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को सलाह देती है। विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर देश की नीति क्या होगी, इसका निर्धारण भी मंत्रिपरिषद ही करता है। विभिन्न देशों में स्थित भारतीय दूतावासों को उनके कार्यों के संबंध में उचित तथा आवश्यक निर्देश मंत्रिपरिषद द्वारा ही दिए जाते हैं।

राष्ट्रपति तथा मंत्रिपरिषद

संवैधानिक दृष्टि से मूलरूप से राष्ट्रपति की स्थिति मंत्रिपरिषद से श्रेष्ठ है। प्रधानमंत्री तथा उसकी राय से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। परंतु राष्ट्रपति की यह शक्ति एक औपचारिकता है, अभिसमयानुसार राष्ट्रपति लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमंत्री नियुक्त करता है। यदि लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं हो तो राष्ट्रपति उस व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है, जिसे लोकसभा के अधिक से अधिक सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो। अन्य मंत्रियों के नामों का निर्धारण प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति उन व्यक्तियों को औपचारिक रूप से नियुक्त कर देता है।

संविधान के अनुसार मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत अपने पदों पर कार्य कर सकते हैं। परंतु व्यवहार में मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है और लोकसभा का विश्वास प्राप्त होने तक अपने पद पर कार्य कर सकती है। विभिन्न मंत्री प्रधानमंत्री के अंतर्गत कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री से मतभेद होने की स्थिति में उन्हें अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। प्रधानमंत्री किसी भी मंत्री को, राष्ट्रपति को इस आशय की राय देकर पद विमुक्त करवा सकता है।

संविधान के अंतर्गत अनुच्छेद 74 के अनुसार मंत्रिपरिषद का कार्य प्रशासन में राष्ट्रपति को राय तथा सहायता देना है। संविधान में मूलरूप से यह कहीं नहीं कहा गया था कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की राय मानने के लिए बाध्य है। परंतु संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद की राय स्वीकार करनी पड़ेगी। इस नई व्यवस्था के द्वारा मंत्रिपरिषद की स्थिति अधिक प्रभावशाली हो गई है और राष्ट्रपति की स्थिति केवल एक औपचारिक प्रधान की रह गई है।

टिप्पणी

संसद

मंत्रिपरिषद अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदाई होती है। व्यवहार में यह उत्तरदायित्व संसद के निचले सदन लोकसभा के प्रति होता है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों के लिए संसद का सदस्य होना आवश्यक होता है। यदि कोई व्यक्ति मंत्री बनते समय संसद का सदस्य नहीं है तो उसे 6 महीने के अंदर संसद के दोनों में से किसी एक सदन का सदस्य बनना आवश्यक है अन्यथा 6 महीने के पश्चात वह मंत्री अपने पद पर कार्य नहीं कर सकेगा।

संसद तथा मंत्रिपरिषद के बीच घनिष्ठ संबंध होते हैं। मंत्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। किसी एक मंत्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाने की स्थिति में संपूर्ण मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ता है। मंत्रिपरिषद तभी तक कार्य कर सकती है जब तक उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। अविश्वास का प्रस्ताव पास कर लोकसभा कभी भी मंत्रिपरिषद को समाप्त कर सकती है। इस प्रकार प्रतीत यह होता है कि लोकसभा मंत्रिपरिषद के ऊपर पूर्ण नियंत्रण रखती है परंतु व्यवहार में ऐसा है नहीं। मंत्रिपरिषद का जब तक लोकसभा में पूर्ण बहुमत है तब तक वह लोकसभा से कुछ भी करवाने में समर्थ होती है। दूसरी और मंत्रिपरिषद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राष्ट्रपति से सिफारिश कर कभी भी लोकसभा को भंग करवा सकती है।

संसद तथा मंत्रिपरिषद के संबंधों का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि मंत्रिपरिषद के दल की स्थिति लोकसभा में क्या है, यदि मंत्रिपरिषद दल को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो तो मंत्रिपरिषद की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह लोकसभा का इच्छानुसार निर्देशन कर सकती है और परिणामस्वरूप लोकसभा की तुलना में मंत्रिपरिषद की स्थिति श्रेष्ठ हो जाती है।

संसद गठन

संविधान के अनुच्छेद 79 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि भारतीय संघ की एक संसद होगी जिसका निर्माण राष्ट्रपति तथा दो सदनों से मिलकर होगा। एक निम्न सदन होगा और एक उच्च सदन होगा। निम्न सदन का नाम लोकसभा होगा तथा उच्च सदन का नाम राज्यसभा होगा। भारतीय संविधान ने ब्रिटिश प्रतिमान के आधार पर राज्य के औपचारिक प्रधान को संसद का अंग माना है। 1919 तथा 1935 के भारत सरकार अधिनियम में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गई थी और वर्तमान समय में लगभग सभी विधानों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की जाती है। इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए भारतीय संविधान ने भी संघात्मक व्यवस्था में एक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की है। जिसके निम्न सदन लोकसभा में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते है तथा उच्च सदन (राज्यसभा) में राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। दोनों सदनों का क्रमवार वर्णन आगे दिया गया है।

लोकसभा

भारतीय संसद के लोकप्रिय सदन या निम्न सदन को लोकसभा कहते हैं। लोकसभा की सदस्य संख्या समय–समय पर परिवर्तित होती रहती है। संविधान के उपबन्ध के अनुसार लोकसभा के 500 से प्रारम्भ होकर इस सदस्य संख्या में निरन्तर वृद्धि होती

रहती है और अब 'गोवा, दमन और द्वीप पुनर्गठन अधिनियम 1987' द्वारा निश्चित किया गया है कि अधिकतम 530 सदस्य राज्यों के निर्वाचित क्षेत्रों से व अधिकतम 20 सदस्य केन्द्र शासित क्षेत्रों से निर्वाचित किए जा सकेंगे एवं 2 सदस्य मनोनीत किए जाएंगे। ये 2 सदस्य आंग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुने जाते हैं। इस प्रकार लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या (530+20+2) = 552 हो सकती है। वर्तमान में इसकी सदस्य संख्या (530+13+2) = 545 है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 82 में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक जनगणना के पश्चात 'परिसीमन आयोग' (Delimitation Commission) संसद के आदेशानुसार विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रो के प्रतिनिधित्व में आवश्यक परिवर्तन करेगा। निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन निर्वाचन आयोग की देखरेख और संसद की अन्तिम स्वीकृति के अधीन किया जाता है। 1971 की जनगणना के आधार पर 'परिसीमन आयोग' के द्वारा अगली लोकसभा की सदस्य संख्या के संबंध मे निर्णय लिये गए है। 42वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार अनुच्छेद 82 में संशोधन करते हुए व्यवस्था की गई थी कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन क्षेत्र 2001 तक वही रहेंगे जो 1971 की जनगणना के आधार पर निर्धारित किए गए थे। अब 84वें संविधान संशोधन 2002 (91वें संविधान संशोधन विधेयक) के आधार पर लोकसभा के स्थानों तथा राज्यवार प्रतिनिधित्व की संख्या 2026 तक यथावत रखने का निर्णय किया गया है। इस संख्या को यथावत रखते हुए राज्य में पुनर्सीमन किया जा सकेगा। पुनर्सीमांकन के आधार पर आरक्षित सीटों की संख्या में परिवर्तन हो सकता है, आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र को सामान्य निर्वाचन क्षेत्र को आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र बनाया जा सकत है। अब यह निश्चित हो गया है कि यह पुनर्सीमांकन 2001 ई. की जनगणना पर आधारित होगा।

लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर 1988 तक 21 वर्ष के व्यक्ति को वयस्क माना जाता था उसे ही मताधिकार प्राप्त था लेकिन 1988–89 में भारतीय संविधान में 61वें संविधान संशोधन के द्वारा यह निश्चित कर दिया गया कि 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को व्यस्क माना जायेगा और उसे मताधिकार प्राप्त होगा। अब लोकसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र 'एकल सदस्यीय' (Single Member Constituencies) रखे गए हैं। ये निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित किए जाएंगे कि लोकसभा का एक सदस्य कम से कम 5 लाख जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करे। इस संबंध में अधिकतम सीमा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित की जाती रहेगी। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु 10 वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखने थे, किन्तु बाद में यह अवधि बढ़ायी जाती रही। संविधान में 95वें संविधान संशोधन विधेयक (2010) के अनुसार अब उनके लिए 25 जनवरी, 2020 तक स्थान आरक्षित कर दिए गए है।

निर्वाचन तथा सदस्यों की योग्यताएं

लोकसभा के चुनाव में उन सभी सदस्यों को मतदान का अधिकार होगा जो भारत के नागरिक हैं, जिनकी आयु 18 वर्ष या उससे अधिक है, जो पागल या दिवालिया नहीं है और जिन्हें संसद के कानून द्वारा किसी अपराध, भ्रष्टाचार या गैर कानूनी व्यवहार

टिप्पणी

के कारण मतदान से वंचित नहीं कर दिया गया है। लोकसभा की सदस्यता के लिए संविधान के अनुसार निम्नलिखित योग्यताएं होनी आवश्यक है–

1. वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो।
3. भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण न किए हुए हो।
4. वह किसी न्यायालय द्वारा दिवालिया न ठहराया गया हो तथा पागल न हो।

इन योग्यताओं के अलावा अन्य योग्यताएं निर्धारित करने का अधिकार संविधान के द्वारा संसद को दिया गया है। इस अधिकार के अन्तर्गत संसद ने 1951 में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम' (People's Representation Act) पास कर संसद के सदस्यों के लिए निम्न योग्यताएं निश्चित की हैं–

1. अनुसूचित जातियों से संबंधित सुरक्षित स्थानों के उम्मीदवारों के लिए आवश्यक है कि वे अनुसूचित के सदस्य हों। इसी प्रकार जनजाति से संबंधित सुरक्षित स्थान के उम्मीदवारों के लिए आवश्यक है कि वे अनुसूचित जनजाति के सदस्य हो। ये व्यक्ति समस्त भारतीय क्षेत्र में किसी भी स्थान से अनुसूचित जाति या जनजाति के सदस्य हो सकते हैं।
2. आसाम की जनजाति के लिए सुरक्षित स्थान के उम्मीदवार बनने हेतु उसी जनजाति का होना तथा उस संसदीय क्षेत्र का या उस जिले के किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है।
3. अन्य किसी स्थान से उम्मीदवार होने के लिए भारत में किसी भी संसदीय निर्वाचक क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है अर्थात किसी भी निर्वाचन क्षेत्र से उसका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए।
4. निर्वाचन संबंधी अपराध के लिए दोषी पाये गये व्यक्ति की निर्वाचन आयोग द्वारा एक निश्चित समय अथवा जीवन भर के लिए संसद का चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य घोषित किया जा सकता है।
5. उसने किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक सजा ना पायी हो और न सरकार से संबंधित किसी कारखाने में उसका हित होना चाहिए।
6. उसे बेईमानी या राजद्रोह के कारण सरकारी नौकरी से न निकाला गया हो। इस प्रकार के अपराध के 5 वर्ष बाद ही वह सदस्यता प्राप्त कर सकता है।

1988 में जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 में संशोधन करते हुए व्यवस्था की गई कि अब आतंकवादी गतिविधि, तस्करी, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, खाद्य पदार्थों एवं दवाओं में मिलावट करने वाले, 'विदेशी मुद्रा नियमन अधिनियम' (FERA) का उल्लंघन करने वाले तथा महिलाओं के खिलाफ अपराध करने वाले व्यक्तियों को भी जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अन्तर्गत चुनाव लड़ने के अयोग्य माना जायेगा।

जन–प्रतिनिधि संस्थाओं में अपराधियों के प्रवेश पर रोक हेतु व्यवस्था–आपराधिक रिकार्ड सहित पृष्ठभूमि की जानकारी नामांकन पत्र के साथ ही प्रस्तुत करना अनिवार्य : पिछले तीन दशकों से भारतीय राजनीति में अपराधीकरण की प्रवृत्ति बहुत तेजी से बढ़

टिप्पणी

रही है। भारतीय राजनीति का स्वरूप निरन्तर विकृत होता जा रह है और इसका प्रमुख कारण है–जन प्रतिनिधि संस्थाओं में अपराधिक तत्वों का प्रवेश। बुद्धिजीवी वर्ग ने जब इस ओर सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान आकृष्ट किया, तब सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि, "संविधान का अनुच्छेद 19 (1) जनता को उम्मीदवारों की आपराधिक पृष्ठभूमि, सम्पत्ति, दायित्व और शैक्षणिक योग्यता से संबंधित जानकारियां हासिल करने की अधिकार देता है।" अतः चुनाव आयोग ने 31 मार्च, 2003 को निर्देश जारी किए कि राज्यसभा, लोकसभा, विधानसभा और विधानपरिषद का नामांकन पत्र भरते समय उम्मीदवारों को शपथ पत्र पर निम्न विषयों पर पूरी जानकारी देनी होगीः

1. क्या प्रत्याशी किसी आपराधिक मामले में नामजद, दोषमुक्त या बरी हुआ है। यदि हां तो उस पर अर्थदण्ड लगा अथवा उसे कैद की सजा सुनायी गयी।
2. नामांकन से 6 माह पूर्व तक के समय में क्या प्रत्याशी दो वर्ष या इससे ज्यादा कैद योग्य किसी लम्बित प्रकरण में आरोपित था, जिसमें उस पर आरोप लगाए जा चुके हों, और अदालत द्वारा संज्ञान लिया जा चुका हो। यदि हां तो उका विवरण।
3. प्रत्याशी उसके पति या पत्नी तथा उसके आश्रितों के नाम की चल तथा अचल सम्पत्तियों के ब्यौरे।
4. उत्तरदायित्व, खास तौर पर यदि उन किसी सार्वजनिक वित्तीय संस्था अथवा सरकार का कोई बकाया है, तो उसका विवरण।
5. प्रत्याशी की शैक्षणिक योग्यता।

नामांकन पत्र के साथ दी गई जानकारी में कोई अपूर्णता होने या दी गई जानकारी की असत्यता के आधार पर नामांकन पत्र रद्द नहीं किया जा सकेगा, लेकिन इस आधार पर निर्वाचित व्यक्ति के निर्वाचन को चुनौती दी जा सकेगी तथा शपथ पत्र में असत्यता का मुकदमा भी दायर किया जा सकेगा। निर्वाचन अधिकारी उम्मीदवार द्वारा शपथ पत्र पर प्रदत्त जानकारी को अपने कार्यालय नोटिस बोर्ड पर प्रदर्शित करेगा।

कार्यकाल–लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है। प्रधानमंत्री के परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति के द्वारा लोकसभा को समय से पूर्व भी भंग किया जा सकता है। ऐसा अब तक 9 बार हो चुका है। (1970, 77, 79, 1984, 89, 91, 97, 99, 2004) संकटकाल की घोषणा लागू होने पर संसद विधि के द्वारा लोकसभा के कार्यकाल में वृद्धि कर सकती है जो एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगी। 1976 में लोकसभा के कार्यकाल दो बार एक–एक वर्ष के लिए बढ़ाया गया था। लोकसभा के अधिवेशन राष्ट्रपति के द्वारा ही बुलाये तथा स्थगित किए जाते हैं तथा इस संबंध में नियम यह है कि लोकसभा की एक बैठक की अन्तिम तिथि और दूसरी बैठक की प्रथम तिथि में 6 माह से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। लोकसभा और राज्यसभा दोनों की गणपूर्ति कुल संख्या का दसवां भाग है।

संसद सदस्यों के विशेषाधिकार–संसद सदस्यों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त है जिससे कि ये अपने कर्तव्यों का निवर्हन अधिक कुशलता के साथ कर सके। संसदीय विशेषाधिकार का उद्देश्य संसद की स्वतंत्रता, प्राधिकार और गरिमा की रक्षा करना है।

टिप्पणी

इन विशेषाधिकारों के अभाव में संसद सदस्य अपने दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकते। संविधान के अनुच्छेद 105 में संसद के सदनों तथा उनके सदस्य के विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तता का उल्लेख किया गया है। इस अनुच्छेद के खण्ड (3) में उपबन्ध किया गया है कि "संसद के प्रत्येक सदन और उन सदस्यों तथा समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियां वही होंगी जो कि संसद समय–समय पर कानून बना कर परिभाषित करे और जब तक ऐसी परिभाषा नहीं की जाती ये वैसी ही होगी जैसी कि इस संविधान के प्रारंभ अर्थात 26 जनवरी 1950 को ब्रिटेन के 'हाउस ऑफ कॉमन्स', उसके सदस्यों और उसकी समितियों की थी।" अभी तक इन विशेषाधिकारों के संबा में संसद ने कोई व्यापक कानून नहीं बनाया है। अतः ऐसे किसी कानून के अभाव में संसद सदस्यों को वे ही विशेषाधिकार प्राप्त है जो कि ब्रिटेन के संसद सदस्यों को प्राप्त है। 23 मार्च, 1967 को लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष ने कहा कि, "संसद के विशेषाधिकारों की परिभाषा करने के लिए कानून बनाया जाए तो यह अच्छी बात है।" संसदीय कार्यमंत्री ने भी कहा कि, "विशेषाधिकारों की परिभाषा करने का प्रश्न विचाराधीन है।" संविधान के अनुच्छेद 105 में संसद के सदनों तथा संसद सदस्यों के विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है। ये विशेषाधिकार इस प्रकार हैं–

1. संसद में या उसकी समिति में कही हुई किसी बात या दिए गए मत के आधार पर किसी भी न्यायालय की कार्यवाही से उन्मुक्ति।
2. न्यायालयों को संसद की कार्यवाही की जांच करने का निषेध।
3. सभा के सत्र के दौरान तथा उसके चालीस दिन पहले और चालीस दिन बाद तक दीवानी मामलों में सदस्यों की गिरफ्तारी से उन्मुक्ति।
4. किसी सदस्य की गिरफ्तारी, निरोध, कारावास तथा रिहाई के संबंध में तुरन्त सूचना प्राप्त करने का सदन को अधिकार है।
5. संसद सदस्यों को जूरी सदस्यों के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता है।
6. जब सदन गोपनीय बैठक के लिए बैठता है तो उस समय कोई भी व्यक्ति, जो सदन का सदस्य नहीं है, सभाकक्षों और दीर्घाओ, इत्यादि में नहीं रह सकता।
7. सदन के सदस्यों को विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है।

प्रत्येक सदन स्वयं अपने विशेषाधिकारों का रक्षक है। न केवल यह किसी ऐसे विषय का एकमात्र निर्णायक है जो किसी प्रकार विशेषाधिकार के भंग करता हो बल्कि यदि वह उचित समझे तो किसी भी ऐसे व्यक्ति को कारावास का दण्ड दे सकता है या उसकी भर्त्सना कर सकता है, जिसे वह अपमान का दोषी समझता हो। सभा की किसी ऐसे व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति जो सभा का अपमान करे या उसके किसी विशेषाधिकार को भंग करे सबसे महत्वपूर्ण विशेषाधिकार है। इसी शक्ति के कारण संसद के विशेषाधिकार वास्तविक बनते हैं।

सांसदों का वेतन एवं सुविधाएं–संसद सदस्यों के वेतन और भत्तों के बारे में संविधान के अनुच्छेद 106 में कहा गया है कि "संसद के प्रत्येक सदन के सदस्य ऐसे वेतन भत्ते प्राप्त करने के हकदार होंगे, जिन्हें संसद समय–समय पर निर्धारित करें।' वेतन भत्तों के अतिरिक्त इन्हें अन्य अनेक सुविधाएं भी प्राप्त होगी तथा समय–समय

पर इनके वेतन भत्ते तथा सुविधाओं में वृद्धि होती रहेगी। संसद सदस्यों के लिए पेंशन और पारिवारिक पेंशन की भी व्यवस्था की गई है।

टिप्पणी

इन सबके अतिरिक्त 'स्थानीय क्षेत्र विकास योजना' के अन्तर्गत प्रत्येक सांसद को दो करोड़ रुपये विकास कार्यों के सुझाव देने का अधिकार प्राप्त है। इस योजना के अन्तर्गत लोकसभा सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र में तथा राज्यसभा सदस्य अपने राज्य के चुनिन्दा क्षेत्र में अपने पसन्द की विकास परक योजनाएं सुझा सकेंगे। कोई भी परियोजना 10 लाख रुपये से अधिक की नहीं होगी और एक वर्ष में अधिकतम दो करोड़ रुपये तक की योजनाएं सुझाई जा सकेगी। संसद सदस्य सुझाव देंगे और योजना का क्रियान्वयन सरकारी एजेन्सियों के माध्यम से ही होगा। 23 दिसम्बर 1993 को जब पहली बार यह योजना घोषित की गई, तब सांसद को प्रतिवर्ष एक करोड़ रुपये के विकास के कार्यों का सुझाव देने का अधिकार दिया गया था। योजना के पांच वर्ष पूरे हो जाने पर धनराशि को बढ़ाकर दो करोड़ रुपये कर दिया गया है।

लोकसभा की शक्तियां और कार्य

भारत में द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका केन्द्रीय विधानमण्डल के रूप में कार्य करती है। जिसमें से लोकसभा निम्न सदन है इसे लोकप्रिय सदन भी कहते है इसमें प्रतिनिधियों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के द्वारा किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह शाश्वत नियम है कि कानून निर्माण और प्रशासन पर नियंत्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त होती है। भारतीय संविधान द्वारा भी लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में उच्च स्थिति प्रदान की गई है। संसद लोकसभा, राज्यसभा तथा राष्ट्रपति से मिलकर बनती है, लेकिन लोकसभा संसद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है। लोकसभा की शक्तियां तथा उसके कार्यों का अध्ययन निम्न रूपों में कर सकते हैं–

1. **विधायी शक्ति**–संविधान के अनुसार भारतीय संवद संघीय सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण गैर वित्तीय विधेयकों के संबंध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्ति प्रदान की गई है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं और सदनों से पारित होने पर ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजे जाऐंगे। यदि किसी विषय पर दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाए तो राष्ट्रपति के द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाने की व्यवस्था की गयी है। लोकसभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण के संबंध में अन्तिम शक्ति लोकसभा के पास है और राज्यसभा साधारण विधेयक को 6 महीने तक रोके रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती है। व्यावहारिक रूप से अब तक महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते रहे हैं।
2. **वित्तीय शक्तियां**–भारतीय संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र के संबंध में शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गई और इस संबंध में राज्यसभा की स्थिति बहुत ही गौण है। अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा से पारित होने के बाद वित्त

टिप्पणी

विधेयक राज्यसभा में भेजा जाता है तथा राज्यसभा के लिए यह व्यवस्था की गई कि वह वित्त विधेयक की प्राप्ति की तिथि के 14 दिन के अन्दर–अन्दर विधेयक को लोकसभा को वापस कर दे। राज्यसभा विधेयक में संशोधन के लिए सुझाव दे सकती है लेकिन इन सुझावों को स्वीकार करना या न करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान यह भी व्यवस्था करता है कि यदि वित्त विधेयक प्राप्त होने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा सिफारिशों सहित या बिना सिफारिशों के लोकसभा को न लौटाए, तो निश्चित अवधि के बाद वह दोनों सदनों में पारित मान लिया जाएगा। वार्षिक बजट और अनुदान संबंधी मांग भी लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती है और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती है और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोकसभा को ही प्राप्त है।

3. **कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति**–भारतीय संविधान भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना करता है अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात मंत्रिमण्डल संद के प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर बने रह सकता है जब कि कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मंत्रियों से सरकारी नीतियों के संबंध में व सरकार के कार्यों के संबंध में प्रश्न या पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा उनकी आलोचना कर सकते हैं। संसद सरकारी विधेयक या गजट को स्वीकार करके मंत्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में ऐसा कोई संशोधन करके जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। वह कामरोको प्रस्ताव पास करके भी सरकार नीतियों की गलतियों को प्रकाश में ला सकती है। अन्तिम च्प से लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात मंत्रिपरिषद को उसके पद से हटाया जा सकता है। कार्यपालिका नियन्त्रण की शक्ति के अन्तर्गत ही लोकसभा संघ लोक सेवा आयोग, भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, भाषा आयोग व अनुसूचित जाति व जनजाति राष्ट्रीय आयोग आदि की रिपोर्ट पर भी विचार कर सकती है।

4. **संविधान संशोधन संबंधी शक्ति**–लोकसभा को संविधान में संशोधन करने की भी शक्ति प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन का कार्य संसद के द्वारा ही किया जाता है। इसी अनुच्छेद में इसकी प्रक्रिया का भी उल्लेख मिलता है। संविधान के संशोधन के संबंध में लोकसभा और राज्यसभा की स्थिति समान है। संविधान में संशोधन का विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है तथा उन्हें तभी पारित समझा जाएगा, जबकि उन्हें संसद के दोनों सदन अलग–अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित कर दें। संविधान के अधिकांश प्रावधानों में अकेली संघीय संसद के द्वारा ही

टिप्पणी

परिवर्तन किया जा सकता है, केवल कुछ ही प्रावधानों में संशोधनों के लिए भारतीय संघ के आधे राज्यों विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। भारतीय संसद की संविधान में संशोधन की शक्ति हमेशा से वाद–विवाद का विषय रही है। इस प्रकार के वाद विवाद का प्रमुख बिन्दु रहा है, संसद के द्वारा मौलिक अधिकारों को सीमित करने वाला संवैधानिक संशोधन, कि संसद यह संशोधन कर सकती है अथवा नहीं। 1951 और 1965 में तो सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में संसद की शक्ति को स्वीकार किया था लेकिन 1967 को गोलकनाथ विवाद में बहुमत से निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'संसद कोई ऐसा संवैधानिक संशोधन नहीं कर सकती, जो मौलिक अधिकारें को सीमित करता है या उनका निलम्बन करता है।' 1971 में 24वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किए गए निर्णय को रद्द कर दिया गया। 24वें संवैधानिक संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई लेकिन अप्रैल 1973 के ऐतिहासिक निर्णय में इसे वैध घोषित किया गया, साथ ही साथ इस निर्णय में यह भी कहा गया कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के मूल ढांचे में फेरबदल कर दे या उसे नष्ट कर दे।

5. **निर्वाचक मण्डल के रूप में कार्य**–लोकसभा निर्वाचन मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा के सदस्यों तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते है। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करती है। लोकसभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को भी निर्वाचित किया जाता है। लोकसभा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को पदच्युत भी कर सकती है।

6. **जनता की शिकायतों की निवारण**–लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप में जनता के द्वारा निर्वाचित होकर सदन में आते है, अतः उनके द्वारा जनता की भावनाएं, विचार और शिकायतें सरकार तक पहुंचायी जाती है। लोकसभा के सदस्य इस बात की चेष्टा करते हैं कि सरकार अपनी नीतियों का निर्माण एवं कार्यों का सम्पादन जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए करे। यदि सैद्धान्तिक अध्ययन के स्थान पर वास्तविक अध्ययन किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि लोकसभा सबसे प्रमुख रूप में यही कार्य सम्पादित करती है।

7. **विविध कार्य**–लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है। जो इस प्रकार है–

   (i) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती है।

   (ii) उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए राज्यसभा प्रस्ताव पास कर दे तो इस प्रस्ताव को लोकसभा में अनुमोदित करना आवश्यक होता है।

   (iii) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास कर सकती है।

टिप्पणी

(iv) राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा को दो महीने की अवधि के अन्दर स्वीकार करना आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की उद्घोषणा दो महीने के बाद स्वतः समाप्त मान ली जाती है।

(v) यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा देना चाहे तो उसकी स्वीकृति संसद में लेनी आवश्यक है।

लोकसभा की शक्तियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि संसद देश की व्यवस्थापिका का सर्वोच्च अंग है तो लोकसभा संसद का सबसे शक्तिशाली और सर्वोच्च अंग है। जनता का प्रतिनिधि सदन होने के कारण लोकसभा संसद का सबसे शक्तिशाली एवं प्रभावशाली अंग है। व्यावहारिक दृष्टि से लोकसभा में ही संसद के सबसे अधिक कार्य सम्पन्न होते हैं अतः यह संसद का पर्याय है।

लोकसभा के अध्यक्ष का पद

लोकसभा के अध्यक्ष का पद संसदीय शासन व्यवस्था में बहुत ही महत्वपूर्ण पद है। विश्व में वहां पर संसदात्मक शासन व्यवस्था है वहां संसद के निम्न सदन के स्पीकर अर्थात लोकसभा के अध्यक्ष को विशेष महत्व तथा दर्जा प्राप्त होता है। संविधान के अनुसार, अध्यक्ष का निर्वाचन लोकसभा स्वयं करती है।

अध्यक्ष का कार्यकाल—लोकसभा का अध्यक्ष निर्वाचन से लेकर उस लोकसभा के विघटन के बाद अगली लोकसभा की पहली बैठक से फौरन पहले तक अपने अपने पद पर रहता है। वह दोबारा भी चुना जा सकता है। अध्यक्ष यदि लोकसभा का सदस्य न रहे तो उसे अपना पद छोड़ना पड़ता है। लोकसभा के विघटन पर यद्यपि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों लोकसभा के सदस्य नहीं रहते, केवल उपाध्यक्ष ही अपना पद छोड़ता है। जब भी अध्यक्ष का पद खिन्न हो जाता है, इस संबंध में एक अधिसूचना गजट में प्रकाशित की जाती है। अध्यक्ष को अपने सारे कार्यकाल में अपने पद के कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है। अपने स्थान अनुपस्थित होने या बिमारी की दशा में वह अपने काम उपाध्यक्ष को नहीं सौंप सकता। अध्यक्ष किसी भी समय उपाध्यक्ष को पत्र लिखकर अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है।

अध्यक्ष द्वारा शपथ ग्रहण—अध्यक्ष को अपना पद संभालने पर शपथ नहीं लेनी पड़ती है ओर न ही प्रतिज्ञा ही करनी पड़ती है। वह लोकसभा का सदस्य होने के नाते ही शपथ ग्रहण करता है।

लोकसभा अध्यक्ष के कार्य और शक्तियां—लोकसभा का सबसे महत्वपूर्ण रुढ़िगत और औपचारिक प्रधान लोकसभा का अध्यक्ष होता है। सभा में उसका अधिकार सर्वोच्च होता है। यह प्राधिकार अध्यक्ष की अनन्य निष्पक्षता पर आधारित है। भारतीय लोकसभा के अध्यक्ष का वे ही शक्तियां प्राप्त है जो ब्रिटेन में हाउस ऑफ कॉमन्स के स्पीकर को प्राप्त है। उसकी शक्तियों और उसके कर्तव्यों का उल्लेख 'संसदीय प्रक्रिया तथा कार्य संचालन के नियम 1950' (Rules of procedure and Conduct in Business Parliament 1950) में मिलता है, जो निम्न प्रकार है—

1. वह सदन के नेता परामर्श से विभिन्न विषयों के संबंध में वाद—विवाद का समय निश्चित करता है।

टिप्पणी

2. वह राष्ट्रपति के उद्घाटन भाषण के उत्तर में दिए जाने वाले भाषणों के समय की अवधि तय करता है।
3. वह सदन के नेता से परामर्श करके सदन का कार्यक्रम निश्चित करता है।
4. किसी भी सार्वजनिक महत्व के विषय पर प्रस्तुत किया जाने वाला 'कार्य स्थगन प्रस्ताव' उसकी अनुमति मिलने पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है।
5. यदि उसकी आज्ञा से कोई विधेयक गजट में प्रकाशित हो जाता है, तो उसे पेश करने के लिए किसी प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं रहती।
6. किसी विचाराधीन विधेयक पर वाद–विवाद स्थगित करने का प्रस्ताव उसकी अनुमति से ही पेश हो सकता है।
7. वह संसद की कुछ सीमितियों का पदेन सभापति होता है। वह प्रवर समितियों के सभापतियों को भी नियुक्त कर सकता है। इन समितियों के द्वारा निर्देशन में ही कार्य किया जाता है। मॉरिस जोन्स ने इस संबंध में कहा है कि, "संसदीय समितियों की समस्त कार्यवाहियों अध्यक्ष के नेतृत्व में सम्पादित होती है जो कभी–कभी विशेष निर्देश देता है जिसके पास चिन्तित अध्यक्ष (समिति) हर अवसर पर परामर्श के लिए जाता है।"
8. वह बजट संबंधी भाषणों के लिए समय सीमा निश्चित करता है।
9. संसद और राष्ट्रपति के बीच समस्त पत्र व्यवहार उसके माध्यम से होता है।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त सदन शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने का कार्य भी अध्यक्ष द्वारा ही किया जाता है। संसद के सदस्यों को भाषण देने की अनुमति वही देता है। भाषणों का क्रम भी उसी के द्वारा निश्चित किया जाता है। प्रक्रिया संबंधी विवादों पर उसका निर्णय अंतिम होता है। वह भिन्न–2 विधेयक व प्रस्ताव आदि पर मतदान कराकर परिणाम घोषित करता है। यदि सदन के किसी सदस्य का आचरण सदन में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला हो तो वह उसे सदन से बाहर भेज सकता है। यदि कोई सदस्य उसकी आज्ञायें न माने व सदन की कार्यवाही में निरन्तर बाधा डाले तो वह उसकी सदस्यता को निलम्बित कर सकता है। वह अपने विवेक के अनुसार सदन की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को निकाल देने का आदेश दे सकता है जो उसकी समझ में अशिष्ट अथवा असंसदीय हो। वह दर्शकों के प्रवेश को नियन्त्रित कर सकता है और किसी भी समय उन्हें बाहर जाने का आदेश दे सकता है।

इसके अतिरिक्त कार्यपालिका व शासन की अन्य सत्ताओं से सदन के सदस्यों के अधिकारियों की रक्षा कार्य अध्यक्ष के द्वारा ही किया जाता है। उसकी एक विशेष शक्ति यह है कि वह आवश्यकता पड़ने पर इस बात का निर्णय करता है कि कोई विधेयक है या नहीं।

इस प्रकार लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियां काफी विस्तृत है अतः वह सदन की शक्ति, प्रतिष्ठा, तथा गौरव का द्योतक होता है। भारतीय लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम.एन. कौल के शब्दों में "यद्यपि साधारणतया अध्यक्ष केवल अध्यक्षता करता है, निगरानी करता है तथा विवादों को नियन्त्रित करता है, लेकिन उसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि किसी भी संकट में उसकी शक्तियां राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है–प्रश्नों, संशोधनों आदि के प्रस्तावों को स्वीकृति देना तथा कार्यविधि के

टिप्पणी

नियमों को सख्ती से लागू करना। ये शक्तियां साधारण प्रतीत होती है, लेकिन संकट की स्थिति में उसकी शक्तियां तथा संसद पर उसका प्रभाव बहुत अधिक होता है।" सुश्री माया दुबे ने अपने विशेष अध्ययन के आधार पर लिखा है कि "यद्यपि भारतीय स्पीकर" का पद ब्रिटिश स्पीकर के नमूने पर आधारित है, लेकिन भारतीय स्पीकर की शक्तियां इंग्लैण्ड के स्पीकर की तुलना में बहुत ज्यादा है।"

भारतीय लोकसभा अध्यक्ष की इंग्लैण्ड और अमेरिका के अध्यक्षों से तुलना

भारत में लोकसभा के अध्यक्ष का स्थान बहुत गौरवशाली है। उसे भारत में पदानुक्रमणिका में सातवां स्थान प्राप्त है, जो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बराबर है। हमारे देश में अध्यक्ष के पद के संबंध में काफी सीमा तक इंग्लैण्ड में पचलित परम्पराओं को अपनाने का प्रयत्न किया गया है। ब्रिटेन के प्रसिद्ध विधि वेत्ता ऑस्टिन ने ब्रिटिश स्पीकर के संबंध में लिखा है, "सभा भवन के अन्दर ही नहीं, बल्कि बारह भी ब्रिटिश स्पीकर दलबन्दियों की छायामात्र से अलग रहता है। सार्वजनिक रूप से दलगत प्रश्नों पर वह अपना मत व्यक्त नहीं करता, वह अपने दल की सभा में कभी नहीं आता है। उसके दल का समाचार पत्रों से कोई संबंध नहीं रहता है, वह अपने पुनर्निर्वाचन के लिए भी अभियान नहीं करता।" इसके विपरीत अमेरिका की प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष पूर्णतः बहुमत दल से संबंधित होता है। वह चुनाव अभियान में बहुमत दल की सहायता से चुना जाता है, चुने जाने के बाद वह राजनीति से अपना संबंध विच्छेद नहीं करता है और सदन में भी आवश्यकतानुसार अपने दल के साथ पक्षपात करता है।

स्पीकर की निष्पक्षता की व्यवस्था– भारत की संसदीय परम्पराओं पर ब्रिटिश प्रभाव साफ–साफ परिलक्षित होता है। अतः स्वाभाविक है कि हमारे संविधान निर्माता यह चाहते थे कि स्पीकर के द्वारा निष्पक्षता के आधार पर कार्य किया जाए। स्पीकर की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए संविधान में ही व्यवस्था की गई है। संविधान के निम्न अनुच्छेदों में वह व्यवस्था इस प्रकार हैः

1. अनुच्छेद 112(3) में उपबन्ध है कि स्पीकर के वेतन और भत्ते संघ की संचित द्वारा वहन किए जाएंगे।
2. अनुच्छेद 100(3) में उपबन्ध है कि उसे केवल समान मत आने की स्थिति में ही सदन में मतदान करने का अधिकार है।
3. अनुच्छेद 94 में उपबन्ध है कि उसे उसके पद से ऐसे प्रस्ताव के आधार पर ही हटाया जा सकता है जो कि सदन के द्वारा विशेष बहुमत से पारित किया गया हो।

संविधान में तो स्पीकर व्यवस्थाओं पर उतना निर्भर नहीं करती है, जितना उस परम्परा पर कि संबंधित व्यक्ति इस पद पर निर्वाचित होने के बाद अपने दल से त्यागपत्र दे दे और दलीय राजनीति से कोई संबंध न रखे। भारत में इस परम्परा को नहीं अपनाया गया है। इसी कारण भारत में कभी तो स्पीकर सदन के सभी पक्षों का विश्वास प्राप्त करने में सफल होता है और कभी कुछ पक्षों द्वारा उसके आचरण को संदेहास्पद दृष्टि से देखा जाता है। भारत में अध्यक्ष की स्थिति अमेरिका और इंग्लैण्ड के अध्यक्षों के बीच की है। इसका कारण यह है कि भरत में लोकसभा का अध्यक्ष न तो अपना संबंध राजनीतिक दलो और राजनीति इतना तोड़ लेता है जितना इंग्लैण्ड में,

टिप्पणी

और न ही चुनाव के बाद अपने राजनीतिक दल का इतना पक्षपात करता है जितना अमेरिका की प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष। भारत में स्पीकर अपने चुनाव के बाद आने दल से पूर्णतया संबंध विच्छेद नहीं करता बल्कि वह अपने दल की सदस्यता रखता है, वह सक्रिय राजनीति में भाग नहीं लेता है और सदन में अपने दल के साथ पक्षपात नहीं करता। वह सदन में विभिन्न दलों को बोलने का अवसर प्रदान करता है और सदन की कार्यवाही का निष्पक्षतापूर्वक संचालन करता है। जो व्यवस्थाएं संविधान ने की है तथा जिन परम्पराओं को इस पद के साथ अपेक्षित समझा जाता है विभिन्न लोकसभा अध्यक्षों ने उनका निर्वाह करने का पूरी तरह प्रयास भी किया है। बाबू पुरुषोत्तम पक्ष टण्डन ने उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष निर्वाचित होने के पश्चात भी इस प्रकार की दृष्टिकोण अपनाया कि सदन में स्पीकर निदलीय व्यक्ति की तरह आचरण करे, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएं रख सकता है। लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष जी.वी. मावलकर ने भी इसी मार्ग को अपनाया। व्यवहार में इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में लोकसभा के अध्यक्ष को वह सम्मान और प्रतिष्ठा प्रान्त नहीं हुई जो ब्रिटेन में हाउस ऑफ कॉमन्स के अध्यक्ष को प्राप्त होती है। 18 दिसम्बर 1954 को लोकसभा के अध्यक्ष के विरुद्ध एक प्रस्ताव लाया गया। प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने इस प्रस्ताव की निन्दा की तथा यह प्रस्ताव पास न हो सका, किन्तु इससे अध्यक्ष पद की गरिमा और सम्मान को गहरा आघात पहुंचा था इससे इंग्लैण्ड तथा भारत के अध्यक्ष पद की स्थिति का अन्तर स्पष्ट हो गया। 1987 में भी अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तावित किया गया। मॉरिस जोन्स ने अपनी पुस्तक (Parliament in India) में एक स्थान पर लिखा है कि, "अध्यक्ष पदाधारी व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह निष्पक्षतापूर्वक आचरण करे और सभी व्यक्तियों को उसकी निष्पक्षता में पूर्ण विश्वास हो।" अध्यक्ष की निष्पक्षता से भी व्यक्तियों को पूर्ण विश्वास हो, इसके लिए आवश्यक है कि लोकसभा के सदस्य द्वारा अध्यक्ष चुने जाने के बाद अपनी दलगत निष्ठाओं का त्याग कर दिया जाए। भारत में अध्यक्ष पद पर आसीन व्यक्तियों ने इस स्थिति को नहीं अपनाया है। इस तथ्य के बावजूद भारत में लोकसभा के स्पीकर का पद बहुत सम्मान का है।

भारतीय संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया

व्यवस्थापिका अर्थात संसद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य कानून बनाना है। कानून निर्माण के सभी प्रस्ताव विधेयकों के रूप में संसद के सामने आने चाहिए। प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होते हैंः पहले वाचन से अभिप्राय है–विधेयक को प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव, जिसके पास होने पर विधेयक पेश किया जाता है अथवा विधेयक का पेश किया जाना, जो कि पहले ही गजट में प्रकाशित हो चुका है। दूसरे वाचन में विधेयक के सिद्धान्तों और उसके उपबन्धों पर सामान्य रूप से चर्चा की जाती है और तीसरे वाचन में इस प्रस्ताव पर चर्चा होती है कि विधेयक पास किया जाए।

विधेयकों का वर्गीकरण–विधेयक दो प्रकार के होते हैं–सरकारी विधेयक और गैरसरकारी विधेयक। विधेयकों का वर्गीकरण इस तथ्य पर आधारित होता है कि विधेयक किसके द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है, उसे कोई मंत्री प्रस्तुत कर रहा है या कोई गैर सरकार सदस्य। सरकारी विधेयक दो प्रकार के होते हैं– (1) धन विधेयक और (2) साधारण विधेयक। धन विधेयक के कुछ विशेष पहलू होते हैं। अतः उस पर

कानून बनाने की प्रक्रिया साधारण विधेयक की निर्माण प्रक्रिया से भिन्न होती है। विधेयकों के वर्गीकरण को निम्न चार्ट द्वारा आसानी से समझा जा सकता है–

टिप्पणी

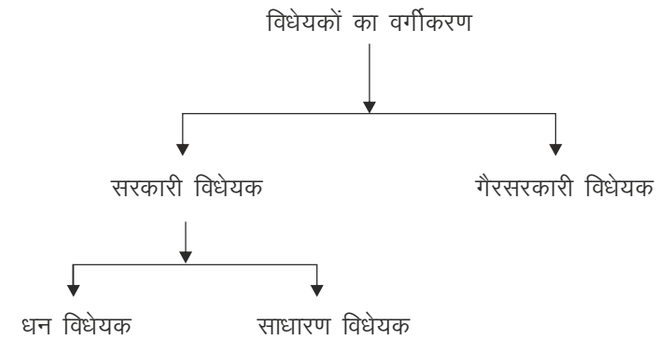

1. धन विधेयक–साधारण आय व्यय से संबंधित सभी विधेयक धन विधेयक कहे जाते हैं। संविधान के अनुच्छेद 110 में धन विधेयक को परिभाषित किया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार यदि किसी विधेयक में निम्नलिखित विषयों में से अथवा किसी से संबंध रखने वाले प्रावधान हो तो वह धन या वित्त विधेयक कहलायेगा–

(i) किसी कर का आरोपण, उत्पादन परिहार, परिवर्तन या विनियम,

(ii) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का अथवा कोई प्रत्याभूति देने का विनियमन अथवा भारत सरकार द्वारा लिए गए अथवा लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय आभारों से संबंद्ध विधि का संशोधन,

(iii) भारत की संचित निधि अथवा आकस्मिक निधि की रक्षा, ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमें से धन निकालना,

(iv) भारत की संचित निधि में धन का विनियोग

(v) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना।

(vi) भारत की संचित निधि के या भारत के लोक लेखा के लिए धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना अथवा संघ या राज्य के लेखों का लेखा परीक्षण, अथवा

(vii) अनुच्छेद 110 के उपखण्ड क से च तक में उल्लिखित विषयों में से किसी का आनुषांगिक कोई विषय।

कोई विधेयक केवल इस कारण से धन विधेयक नहीं समझा जाना चाहिए कि वह जुर्मानों या अन्य अर्थदण्डों के आरोप का अथवा अनुज्ञप्तियों के लिए फीसों की या अभियाचना का उपबन्ध करता है। यदि इस संबंध में कोई प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमुक विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस संबंध में लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है। जब अध्यक्ष किसी विधेयक के बारे में यह निर्णय दे दे कि वह धन विधेयक है तो उसे एक प्रमाण पत्र देना होता है। धन विधयक केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। लेकसभा द्वारा पास किए जाने के पश्चात वह राज्यसभा की सिफारिश के लिए भेजा जाता है और राज्यसभा से यह अपेक्षा की जाती है कि

टिप्पणी

विधेयक प्राप्त होने के 14 दिन की अवधि के भीतर, वह अपनी सिफारिशों सहित, यदि कोई हो, उस विधेयक को लोकसभा को लौटा दे। लोकसभा राज्यसभा द्वारा की गयी सभी या किसी सिफारिश को स्वीकार कर सकती है या उन्हें अस्वीकार कर सकती है। यदि राज्यसभा 14 दिन की निश्चित अवधि में उस विधेयक को नहीं लौटाती है तब भी यह मान लिया जाता है कि विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित हो चुका है।

धन विधेयक के पेश करने के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक है। कोई धन विधेयक सदनों की संयुक्त समिति को नहीं सौंपा जा सकता है। धन विधेयकों के संबंध में राष्ट्रपति के अधिकार भी सीमित हैं। धन विधेयक को राष्ट्रपति सामान्य विधेयक की भांति पुनर्विचार के लिए नहीं लौटा सकते।

2. साधारण विधेयक—साधारण विधेयक मंत्रियों अथवा संसद के निजी सदस्यों द्वारा संसद के किसी भी सदन में रखे जा सकते हैं। इन विधेयकों को पारित होने के लिए निम्न प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है—

(i) विधेयक का प्रथम वाचन (विधेयक को प्रस्तावित करना)—जिस दिन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया जाना निश्चित होता है उससे लगभग एक सप्ताह पूर्व विधि मंत्रालय से विधेयक की दो प्रमाणित प्रतियां प्राप्त होती है। किसी विधेयक के प्रभारी सदस्य की प्रार्थना पर अध्यक्ष यह आदेश भी दे सकता है कि विधेयक को गजट में प्रकाशित कर दिया जाए। जो मंत्री कोई विधेयक प्रस्तावित करवाना चाहे तो से विधेयक को प्रस्तावित करने के लिए सभा की अनुमति मांगने के प्रस्ताव की लिखित सूचना सात दिन पूर्व देनी पड़ती है। विधेयक को प्रस्तावित करने के लिए नियत तिथि को अध्यक्ष प्रभारी मंत्री को बुलाता है और वह विधेयक को प्रस्तावित करने की अनुमति का प्रस्ताव रखता है। जब अध्यक्ष इस प्रस्ताव को मतदान के लिए रखता है और प्रस्ताव स्वीकार हो जाता है, तब मंत्री द्वारा विधेयक प्रस्तावित किया जाता है। यदि विधेयक को प्रस्तावित करने की अनुमति के प्रस्ताव का विरोध किया जाये तो अध्यक्ष प्रस्ताव रखने वाले सदस्य और उसका विरोध करने वाले सदस्यों का संक्षिप्त भाषण करवा सकता है। परम्परा यह है कि विधेयक को प्रस्तावित करने का विरोध नहीं किया जाता है। इस प्रकार विधेयक को प्रस्तावित करना ही विधेयक का प्रथम वाचन कहलाता है। इसके बाद उसे सरकारी गजट में प्रकाशित किया जाता है। सदन का अध्यक्ष प्रस्तावक की प्रार्थना पर उस विधेयक को सदन में प्रस्तावित किए जाने के पूर्व ही सरकारी गजट में छपवा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रस्तावित करने की उपर्युक्त लम्बी प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(ii) विधेयक का द्वितीय वाचन—ज्यों ही किसी विधेयक को प्रस्तावित करने की प्रक्रिया पूरी हो जाती है और उस विधेयक की प्रतियां सदन के सदस्यों को बांट दी जाती है, उसका दूसरा वाचन शुरु हो जाता है। साधारणतया किसी विधेयक को प्रस्तावित करने तथा द्वितीय वाचन में दो दिन का अन्तर रखा जाता है परनतु यदि अध्यक्ष विधेयक को महत्वपूर्ण समझे तो उस विधेयक के दूसरे वाचन की तुरन्त आज्ञा दे देता है। उस समय विधेयक का प्रस्तावक निम्न प्रस्तावों में से कोई एक प्रस्ताव रखता है— (1) विधेयक का तुरन्त वाचन कराया जाए, (2) विधेयक प्रवर समिति के पास भेजा जाए, (3) विधेयक पर जनमत जानने के लिए

टिप्पणी

उसे प्रसारित किया जाए तथा (4) विधेयक को राज्यसभा की सहमति से दोनों सदनों की प्रवर समिति को सौंप दिया जाए।

साधारणतया अति आवश्यक सरकारी या विवाद रहित विधेयकों को छोड़कर अन्य विधेयकों पर तत्काल विचार नहीं किया जाता है।

(iii) समिति स्तर–यदि सदन विधेयक को प्रवर समिति में भेजने का प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। तो विधेयक पर एक समिति नियुक्त की जाती है। समिति के सदस्यों के नाम प्रस्ताव में निश्चित कर दिए जाते है। इस समिति में विधेयक का प्रस्तावक अवश्य होता है। प्रवर समिति का सभापति सदन के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है। प्रवर समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करती है और उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन करती है। जब प्रवर समिति विधेयक का प्रत्येक धारा पर विचार कर चुकी होती है, तो वह अपनी रिपोर्ट सदन को पेश करती है तथा इस रिपोर्ट पर सभापति के हस्ताक्षर होते हैं।

(iv) प्रतिवेदन स्तर–समिति का प्रतिवेदन प्राप्त होने पर उसे तथा संशोधित विधेयक को छाप दिया जाता है तथा इसकी प्रतियां सदन के सभी सदस्यों को बांट दी जाती है। इसके बाद विधेयक का प्रस्तावक निम्न प्रस्ताव रख सकता है– (1) प्रवर समिति द्वारा रिपोर्ट किए हुए विधेयक पर विचार किया जाए, (2) समिति के पास विधेयक को पुनः भेजा जाए, (3) विधेयक को जनमत जानने के लिए पुनः प्रसारित किया जाए।

यदि सदन विधेयक पर उसी रूप में विचार करना स्वीकार कर लेता है जिस तरह प्रवर समिति द्वारा संशोधित रूप में पेश किया गया हो तो फिर उसकी प्रत्येक धारा पर बहुत सूक्ष्म रूप से सदन में विचार होता है। इस अवस्था में सदन में बहुत जोरदार बहस होती है। विधेयक की यह अवस्था सबसे महत्वपूर्ण होती है। इसके बाद विधेयक की प्रत्येक धारा पर मतदान लिया जाता है।

(v) तृतीय वाचन–यह विधेयक की एक सदन में अन्तिम अवस्था होती है। इस अवस्था में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर बहस होती है और भाषा की अशुद्धियों को दूर करने के लिए कुछ संशोधन रखे जा सकते हैं। इसके बाद पूरे विधेयक पर मतदान होता है। इस अवस्था में विधेयक प्रायः अस्वीकार नहीं किए जा सकते हैं।

(vi) विधेयक दूसरे सदन में–दूसरे सदन में सामान्यतया विधेयक के संबंध में वही प्रक्रिया अपनायी जाती है। दूसरे सदन द्वारा विधेयक को अस्वीकार कर दिए जाने पर यह उसमें ऐसे संशोधन किए जाने पर जो कि प्रथम सदन को स्वीकार्य न हो तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुला सकता है और संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर निर्णय लिया जाता है।

(vii) राष्ट्रपति की अनुमति–जब कोई विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास हो जाता है तो उस पर राष्ट्रपति की अनुमति लेना परमावश्यक है। जब कोई विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है तो राष्ट्रपति या तो अपनी अनुमति दे देते हैं या व अपने संदेश सहित विधेयक को संसद के पास पुनर्विचार के लिए

वापस भेज देते हैं, किन्तु यदि संसद उसे पुनः पारित कर दे तो राष्ट्रपति को अपनी अनुमति देनी पड़ती है। राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात ही वह विधेयक कानून बन जाता है।

टिप्पणी

राज्यसभा में प्रारम्भ होने वाले विधेयकों पर लोकसभा में प्रक्रिया

ज्यों ही कोई विधेयक राज्यसभा में प्रस्तावित किया जाता है, उसकी प्रतियां यथाशीघ्र लोकसभा के सदस्यों को उसकी जानकारी के लिए बांट दी जाती है। राज्यसभा में प्रस्तावित किसी विधेयक को दोनों सदनों की संयुक्त समिति को सौंपने का राज्यसभा प्रस्ताव पारित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा पारित विधेयक को लोकसभा के सभापटल पर रखे जाने के बाद किसी भी समय संबद्ध मंत्री उस पर विचार करने की सूचना दे सकता है। जिस दिन प्रस्ताव कार्य सूची में रखा गया हो, उस मंत्री यह प्रस्ताव रखता है कि विधेयक पर विचार किया जाए। उसके बाद विधेयक के सिद्धान्त तथा उसके सामान्य उपबन्धों पर चर्चा होती है। विधेयक किसी समिति को सौंपा जा सकता है। संशोधन के संबंध में नियमों में दी गयी है। यदि विधेयक को बिना किसी संशोधनों के पास कर दिया जाए, तो राज्यसभा को एक सन्देश के माध्यम से सूचना भेजी जाती है और यदि संशोधनों के सहित विधेयक को पास कियागया है तो राज्यसभा से कहा जाता है कि वह संशोधनों से सहमत हो।

लोकसभा और राज्यसभा की तुलना एवं पारस्परिक संबंध

लोकसभा और राज्यसभा का तुलनात्मक अध्ययन तथा दोनों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए सरलता से किया जा सकता है–

1. **नामकरण की दृष्टि से**–भारतीय संसद के दो सदन हैः लोकसभा तथा राज्यसभा। लोकसभा संसद का प्रथम सदन अथवा निम्न सदन है और राज्यसभा द्वितीय तथा उच्च सदन है। लोकसभा को 'लोकप्रिय सदन' और राज्यसभा को 'वरिष्ठ सदन' भी कहा जाता है।
2. **प्रतिनिधित्व की दृष्टि से**–लोकसभा भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करती है, राज्यसभा भारतीय संघ की इकाइयों अर्थात राज्यों और संघीय क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि राज्यसभा में भारतीय संघ के सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है।
3. **सदस्य संख्या की दृष्टि से**–लोकसभा और राज्यसभा की सदस्य संख्या में भारी असमानता है। लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 552 हो सकती है वर्तमान समय में यह सदस्य संख्या 545 है। राज्यसभा में अधिक से अधिक 250 हो सकते हैं जिनमें से 12 सदस्य मनोनीत और 238 अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होंगे। वर्तमान समय में यह संख्या (233 + 12) = 245 है। इस प्रकार लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगनी से भी अधिक है। संयुक्त बैठक में यह सदस्य संख्या ही लोकसभा की शक्ति का आधार है।
4. **निर्वाचन के संबंध में**–लोकसभा के सदस्यों का चुनाव व्यस्क मताधिकार के आधार पर और प्रत्यक्ष निर्वाचन के तारीके से होता है। राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है।

टिप्पणी

5. **कार्यकाल के संबंध में**—लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष लेकिन राज्यसभा एक स्थायी सदन है। यह कभी विघटित नहीं होता है। राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्षों के बाद पद निवृत हो जाते है तथा नए सदस्य स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

6. **साधारण विधेयक के संबंध में**—सैद्धान्तिक दृष्टि से साधारण या गैर वित्तीय विधेयक के संबंध में दोनों सदनों की शक्तियां लगभग बराबर है। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पहले पेश किया जा सकता है और यदि दोनों सदनों में से किसी भी सदन में विधेयक के बारे में मतभेद उत्पन्न हो जाए तो अनुच्छेद 108 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलायी जा सकती है। संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर उस विधेयक के संबंध में निर्णय लिया जाएगा। लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा से दुगुनी होती है। इस कारण संयुक्त बैठक में लोकसभा की इच्छानुसार कार्य होने की संभावना अधिक रहती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से स्थिति बराबर होने के बाद भी राज्यसभा की स्थिति लोकसभा से बहुत निर्बल है।

7. **संवैधानिक संशोधन के संबंध में**—संसद के दोनों सदनों को इस संबंध में न केवल सैद्धान्तिक रूप से वरन् व्यावहारिक दृष्टि से भी समान शक्ति प्राप्त है। संविधान संशोधन की संबंधित विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है। उसे संसद के दोनों सदनों द्वारा अपने विशेष बहुमत से अलग–अलग पारित किया जाना आवश्यक है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक केवल एक बार (1975 से 40वां संशोधन विधेयक) संविधान संशोधन विधेयक राज्यसभा में प्रस्तावित किया गया है।

8. **वित्तीय विधेयकों के संबंध में**—वित्तीय विधेयकों के संबंध में संविधान के द्वारा ही लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्ति दी गई है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जायेंगे और लोकसभा से पारित होने पर ये विधेयक राज्यसभा में आयेंगे, जिसके द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक ऐसे किसी विधेयक पर विचार किया जा सकता है। राज्यसभा के सुझावों को मानना या न मानना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है।

9. **कार्यपालिका पर नियंत्रण के संबंध में**—संसदात्मक शासन में मंत्रिमण्डल संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होता है, अतः भारत में भी मंत्रिमण्डल लोकसभा के ही प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। राज्यसभा के प्रति नहीं। राज्यसभा के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। उनकी आलोचना भी कर सकते है किन्तु अविश्वास प्रस्ताव के आधार पर मंत्रिमण्डल को पदच्युत करने का अधिकार केवल लोकसभाको ही प्राप्त है। अतः कार्यपालिका पर नियंत्रण की दृष्टि से लोकसभा राज्यसभा की तुलना में निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है।

10. **अन्य कार्यों और अधिकारों के संबंध में**—अग्रलिखित कुछ मामलों में दोनों सदनों की शक्तियां समान है–

    (i) राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में दोनों सदनों के सदस्य समान रूप से भाग लेते हैं।

(ii) राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का अधिकार दोनों ही सदनों को है। एक सदन अभियोग लगाता है और दूसरा उसकी जांच करता है।

(iii) सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक तथा मुख्य चुनाव आयुक्त को पदच्युत करने के लिए दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है।

(iv) राष्ट्रपति द्वारा की गई संकटकालीन उद्घोषणा की स्वीकृति संसद के दोनों सदनों में आवश्यक है।

टिप्पणी

11. **राज्यसभा की अनन्य शक्तियां**–राज्यसभा राज्यों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है इस नाते राज्यसभा को दो अनन्य शक्तियां प्राप्त हैं। प्रथम, अनुच्छेद 249 के अनुसार, राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से घोषित कर सकती है कि राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य सूची के अमुक विषय पर कानून बनाना चाहिए। द्वितीय अनुच्छेद 312 के अनुसार, उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से राज्यसभा नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के लिए प्रस्ताव पास कर सकती है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में कम शक्तियां प्राप्त हैं और यह नितान्त स्वाभाविक है। संसदीय व्यवस्था में अन्तिम निर्णय की शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त हो सकती है। अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित द्वितीय सदन को अन्तिम निर्णय लेने की शक्ति नहीं दी जा सकती है। संविधान निर्माताओं के द्वारा राज्यसभा की अवधारणा एक सहायक सदन के रूप में की गई थी जो प्रशासन के संचालन में लोकसभा का सहयोग करती रहे। न कि प्रतिद्वन्द्वी सदन के रूप में संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न करती है।

राज्यसभा

राज्यसभा संसद की द्वितीय सदन या उच्च सदन है। संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार राज्यसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 250 तक हो सकती है परन्तु वर्तमान में यह 245 है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। ये व्यक्ति ऐसे होते है जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान, समाज सेवा या सहकारिता के क्षेत्र में विशेष ज्ञान और अनुभव प्राप्त होता है। शेष सदस्य जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। ये सदस्य संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते है और इनका चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार संघ की विभिन्न विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। जिन क्षेत्रों में विधानसभाएं नहीं होती हैं वहां पर राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव के लिए विशेष निर्वाचक मण्डल गठित किए जाते हैं।

संघ की इकाइयों को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया जाता है। अमेरिका के समान भारत में संघ की छोटी बड़ी सभी इकाइयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। इस संबंध में संविधान यह व्यवस्था करता है कि एक राज्य के जनसंख्या के प्रथम लाख व्यक्तियों तक हर लाख व्यक्तियों के लिए एक और उसके बाद हर लाख पर एक के हिसाब से प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

टिप्पणी

डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी के अनुसार राज्यसभा के गठन में चार सिद्धान्त निहित हैं–

(i) अर्द्धसंघीय सिद्धान्त, (ii) प्रतिनिधित्व सिद्धान्त, (iii) संयुक्त पुनर्विचार, नियंत्रण और सन्तुलन का सिद्धान्त, तथा (iv) प्रख्यात और विशिष्ट व्यक्तियों को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था से सम्बद्ध करने का सिद्धान्त।

भारत की राज्यसभा की तुलना इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ लॉर्डस के साथ की जाती है। इंग्लैण्ड में भी उच्च सदन का विघटन नहीं होता है वहां उच्च सदन एक स्थायी सदन होता है किन्तु हमारी राज्यसभा हाउस ऑफ लॉर्डस से एकदम भिन्न है–(i) हाउस ऑफ लॉडर्स वंशानुगत पियरों की एक सभा है जो सम्राट द्वारा बनाये जाते हैं जबकि राज्यसभा निर्वाचित सदस्यों की सभा है, (ii) हाउस ऑफ लॉर्डस की सदस्यता जीवन पर्यन्त होती है किन्तु राज्यसभा की सदस्यता केवल 6 वर्षों के लिए होती है तथा (iii) हाउस ऑफ लॉर्डस इंग्लैण्ड का सर्वोच्च न्यायालय भी है, जबकि भारत में राज्यसभा में ऐसी कोई शक्ति निहित नहीं है।

भारत में राज्यसभा की स्थिति कुछ मामलों में अमेरिकी सीनेट से मिलती जुलती है। अमेरिका का प्रत्येक राज्य सीनेट में दो प्रतिनिधि भेजता है। सीनेट भी एक स्थायी सदन है इसका विघटन नहीं होता है। राज्यसभा की भांति सीनेट के भी 1/3 सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर अपने पद से निवृत हो जाते हैं। राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव जनसंख्या के आधार पर होता है परन्तु अमेरिकी सीनेट पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है सीनेट के सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते हैं जबकि राज्यसभा के सदस्य अप्रत्यक्ष निर्वाचन के द्वारा चुने जाते हैं। अमेरिकी सीनेट हमारी राज्यसभा के तुलना में अधिक शक्तिशाली है। सीनेट कांग्रेस की भांति कानून निर्माण कर सकती है। सीनेट धन विधेयक को संशोधित या अस्वीकृत कर सकती है। राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों के लिए सीनेट की सम्मति आवश्यक है।

हमारे देश में राज्यसभा तथा विधान परिषदों को बनाए रखने का अक्सर विरोध होता रहा है तथा यह कहकर कड़ा विरोध किया जाता है कि यह एक कीमती लिबास मात्र है। कई राज्यों में अपनी विधान परिषदों को समाप्त भी कर दिया है। राज्यों के बारे में इस कदम से सहमत हुआ जा सकता है लेकिन राज्यसभा के बारे में यह बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता है कि इस सभा का कोई महत्व नहीं है। यह संसद का एक महत्वपूर्ण अंग है यह निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करती है अतः इसका बना रहना बहुत उपयोगी है–

1. यह ऐसी सभा है जिसमें देश के योग्य एवं अनुभवी राजनीतिज्ञ चुनाव की परेशानियों का सामना किए बिना ही सदस्य बन जाते हैं तथा इस प्रकार देश उनके अनुभव और ज्ञान से लाभान्वित होता रहता है।
2. राज्यसभा लोकसभा द्वारा जल्दबाजी में पारित किए गए कानूनों को रोककर उन पर उसे पुनः विचार करने का अवसर प्रदान करती है।
3. राज्यसभा राज्यों के हितों की संरक्षिका है जो संघीय सिद्धान्त के अनुरूप है। राज्यसभा केवल राज्य के हितों के लिए ही कार्य नहीं करती बल्कि राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर कार्य करती है। यह परिवर्तन सभी संघीय संविधान वाले देशों में दिखाई पड़ता है।

राज्यसभा के सदस्यों की योग्यताएं एवं उनका कार्यकाल

टिप्पणी

राज्यसभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताएं आवश्यक हैं–

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. उसकी आयु 30 वर्ष से कम न हो,
3. वह किसी भी लाभ के पद पर न हो, विकृत मस्तिष्क का न हो और दिवालिया न हो तथा
4. ऐसी अन्य योग्यताएं रखता हो, जो संसद के किसी कानून द्वारा निश्चित की जाएं।

अनुच्छेद 102 के अनुसार संघ अथवा राज्यों के मंत्री पद लाभ के पद नहीं समझे गए है तथा कभी यह प्रश्न उठता है कि संसद के किसी सदन का कोई सदस्य उपर्युक्त योग्यताएं रखता है अथवा नहीं, तो यह प्रश्न निर्णय के लिए राष्ट्रपति को सौंप जाएगा तथा राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय के आधार पर जो निर्णय देगा, वह अन्तिम होगा।

राज्यसभा एक स्थायी सदन होगा और इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष होगा। इसे स्थायी सदन इसलिए माना गया है क्योंकि इसकी अवधि के पूर्व राष्ट्रपति इसे भंग नहीं कर सकते और पूरी राज्यसभा का चुनाव एक साथ नहीं होता है। राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल यद्यपि 6 वर्ष का होता है परन्तु उसमें से 1/3 सदस्य प्रति दो वर्ष पश्चात पदनिवृत हो जाते हैं और उनके स्थान नवीन एक तिहाई सदस्य पद ग्रहण करते हैं।

पदाधिकारी– संविधान के अनुच्छेद 89 (1) के अनुसार भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है तथा राज्यसभा अपने में से किसी एक सदस्य को उपसभापति निर्वाचित करती है। उपराष्ट्रपति को राज्यसभा के सभापति के रूप में 1,25000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें रुपये मासिक भत्ते और केन्द्रीय मंत्रियों को मिलने वाली अन्य सुविधाएं प्राप्त होती है। जब सभापति सभा में अनुपस्थित हो या ऐसे समय में जब उपराष्ट्रपति के दायित्व का निर्वहन कर रहा है, राज्यसभा का उपसभापति सभापति के कर्तव्यों का पालन रता है तथा यदि कभी उपसभापति का स्थान रिक्त हो, तब राज्यसभा का ऐसा सदस्य, जिसे राष्ट्रपति इस कार्य के लिए नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। राज्यसभा का उपसभापति जब सभा का सदस्य नहीं रह जाता, तो उसका पद रिक्त हो जाता है। वह स्वयं भी त्याग पत्र दे सकता है अथवा सभा के सदस्यों द्वारा बहुमत से प्रस्ताव पारित कर उसे उसके पद से हटाया जा सकता है। राज्यसभा के सभापति और उपसभापति को भारत की संचित निधि में से वेतन व भत्ते दिए जाते हैं। राज्यसभा के सभापति एवं उपसभापति को समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं जो सामान्यतया विधानमण्डलों के अध्यक्षों को प्राप्त रहते हैं जैसे– सस्यों को भाषण देने की अनुमति प्रदान करना, कार्यप्रणाली संबंधी प्रश्नों को तय करना, वाद–विवाद को सुसंगत बनाए रखना, विचाराधीन प्रश्न पर मतदान का परिणाम घोषित करना।

टिप्पणी

राज्यसभा के कार्य और शक्तियां तथा लोकसभा से संबंध

राज्यसभा की रचना लोकसभा के सहयोगी और सहायक सदन के रूप में की गई है। राज्यसभा के कार्य और शक्तियों को अग्रलिखित बिन्दुओं के आधार समझा जा सकता है–

1. **विधायी शक्तियां**–विधि निर्माण का कार्य केवल लोकसभा में ही नहीं होते है राज्यसभा भी विधि निर्माण संबंधी कार्य करती है। संविधान के द्वारा गैर वित्तीय विधेयकों के संबंध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियां प्राप्त है। गैर वित्तीय विधेयक लोकसभा या राज्यसभा–दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तुत किये जा सकते हैं और दोनों सदनों में पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जाता है। वास्तविकता यह है कि सामान्यतया सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तुत किए जाते है, राज्यसभा में नहीं।

   यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक के संबंध में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं तो राष्ट्रपति के द्वारा दानों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद यदि 6 महीने की अवधि के अन्दर दूसरे सदन के द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जाता है, तो संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है। संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा के स्पीकर के द्वारा की जाती है तथा संयुक्त बैठक में विधेयक के बारे में निर्णय बहुमत के आधार पर लिया जाता है। इस प्रकार औपचारिक दृष्टि से गैर वित्तीय विधेयक के संबंध में दोनों सदनों के स्तर समान हैं लेकिन व्यवहार में राज्यसभा की स्थिति दो बातें में निर्बल है। प्रथम, संयुक्त अधिवेशन बुलाने की शक्ति राष्ट्रपति को है और राष्ट्रपति यह कार्य मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है। मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है अतः इस बात की प्रबल संभावना होती है कि संयुक्त अधिवेशन बुलाने के संबंध में मंत्रिपरिषद लोकसभा के दृष्टिकोण को ही अधिक ध्यान में रखेगी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई विधेयक राज्यसभा में स्वीकार कर लिया गया है लेकिन लोकसभा ने उसे अस्वीकार कर दिया है तो संभावना इस बात की है कि इस विधेयक पर संयुक्त अधिवेशन नहीं बुलाया जाएगा और विधेयक अपने आप ही समाप्त हो जाएगा। द्वितीय, संयुक्त बैठक में विधेयक पर निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है किन्तु लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा से दुगुनी से भी अधिक होती है इस कारण विधेयक पर निर्णय अर्थात उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति, लोकसभा की इच्छानुसार ही होगी। इस प्रकार कानूनी दृष्टि से गैर वित्तीय विधेयकों के संबंध को संसद के दोनों सदनों समान अधिकार प्राप्त है लेकिन व्यवहार में राज्यसभा किसी विधेयक को पारित कराने में अधिक से अधिक 6 माह का विलम्ब कर सकती है। राज्यसभा लोकसभा द्वारा इच्छित विधेयक के पारित होने में स्थायी बाधा नहीं डाल सकती है। दहेज निषेध विधेयक और बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक को संयुक्त अधिवेशन की बैठक के पश्चात ही पारित किया गया था।

2. **संविधान संशोधन की शक्ति**–संविधान संशोधन के मामले में भी राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त हैं। संविाान में संशोधन का विधेयक

टिप्पणी

संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है। संशोधन प्रस्ताव तभी पारित माना जाता है जबकि संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग–अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित किया जाये। संशोधन प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी स्थिति में संशोधन प्राप्त समाप्त हो जाएगा।

व्यावहारिक तौर पर अब तक तीन बार संविधान संशोधन के प्रस्ताव पर लोकसभा और राज्यसभा में मतभेद की स्थिति उत्पन्न हुई है। सर्वप्रथम , 1970 में प्रिवीपर्स समाप्त करने में संबंधित संविधान संशोधन का प्रस्ताव लोकसभा में पारित होकर जब राज्यसभा में गया, तब राज्यसभा ने उसे अस्वीकार कर दिया था। द्वितीय, 1978 में जब लोकसभा द्वारा 45वें संविधान संशोधन विधेयक को पारित कर राज्यसभा में भेजा गया तो राज्यसभा ने इसे 5 संशोधनों के साथ पारित किया था। ऐसी स्थिति में लोकसभा तथा शासन के सामने दो मार्ग थे– या समस्त विधेयक को छोड़ दिया जाए या उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाए जिस रूप में राज्यसभा ने उसे पारित किया है। तृतीय, 1989 में 64वें तथा 65वें संविधान संशोधन विधेयकों को लोकसभा द्वारा पारित करने के बावजूद राज्यसभा से 2/3 का समर्थन नहीं मिला। इस प्रकार संशोधन के संबंध में राज्यसभा के पास पर्याप्त शक्ति है। अब तक केवल 41वां संविधान संशोधन विधेयक जो कि बाद में छोड़ दिया गया। राज्यसभा में प्रस्तावित किया गया था, शेष सभी लोकसभा में।

3. **वित्तीय शक्ति**–वित्तीय शक्तियों के सन्दर्भ में संविधान ने राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल स्थिति में रखा है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक पहले लोकसभा में प्रस्तावित किए जाएंगे। लोकसभा द्वारा स्वीकृत होने पर ही वित्तीय विधेयक राज्यसभा में भेजे जाएंगे, राज्यसभा अधिक से अधिक 14 दिन तक वित्त विधेयक पर विचार विमर्श कर सकती है। राज्यसभा वित्त विधेयक पर लोकसभा को अपने सुझाव दे सकती है लेकिन उन सुझावों पर अमल करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। पहली बार 1977–78 में राज्यसभा ने वार्षिक बजट में 6 संशोधनों की सिफारिश की थी लेकिन लोकसभा ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया था। वित्तीय शक्तियों के सन्दर्भ में राज्यसभा की स्थिति ब्रिटेन के हाउस ऑफ लॉर्ड्स से भी निर्बल है, हाउस ऑफ लॉड्र्स वित्त विधेयक को 1 माह तक विचार विमर्श के लिए अपने पास रोक सकती है।

4. **कार्यपालिका शक्ति**–संसदात्मक व्यवस्था में मंत्रिपरिषद संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होता है, राज्यसभा के प्रति नहीं। भारत में भी यही स्थिति है, मंत्रिपरिषद केवल लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है न कि राज्यसभा के प्रति। राज्यसभा को अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा मंत्रिपरिषद को अपदस्त करने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है। अतः सरकार पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से लोकसभा राज्यसभा की तुलना में अधिक शक्तिशाली है।

टिप्पणी

5. **विविध शक्तियां**–उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त राज्यसभा को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त है, जिनका प्रयोग वह लोकसभा के साथ मिलकर करती है। ये शक्तियां व कार्य इस प्रकार हैं–

   (i) राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचक मण्डल के सदस्य होते हैं।

   (ii) राज्यसभा के सदस्य लोकसभा के सदस्यों के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करते हैं।

   (iii) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों तथा अन्य कुछ पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग केवल तभी पारित समझा जाता है जब दोनों सदनों में इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है।

   (iv) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने का प्रस्ताव प्रथम बार राज्यसभा से ही पारित होकर लोकसभा के पास जाता है।

   (v) एक माह से अधिक की अवधि तक यदि आपातकाल लागू रखना हो तो इस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा और राज्यसभा दोनों से होना आवश्यक है। लोकसभा के विघटन की स्थिति में केवल राज्यसभा का अनुमोदन ही आवश्यक है। आपातकाल में मौलिक अधिकारों के निलम्बन के लिए दिए गए आदेश को भी यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाना चाहिए।

6. **विशेष अधिकार**–राज्यसभा को दो ऐसे विशेष अधिकार भी प्राप्त है जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है। इनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। इस प्रकार की शक्तियों का संबंध देश के संघीय ढांचे से है और राज्यसभा को राज्यों का एक मात्र प्रतिनिधि होने के नाते इस प्रकार की दो शक्तियां प्राप्त हैंः–

   (i) अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले दो तिहाई सदस्यों के बहुमत से राज्य सूची के विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा ऐसे प्रस्ताव पास कर दिए जाने पर संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए लागू होता है, लेकिन यदि राज्यसभा चाहे तो हर बार इसे एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है।

   (ii) संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा ही अपने दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करके नई अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्र सरकार को दे सकती है। राज्यसभा जब तक इस प्रकार का प्रस्ताव पारित न कर दे, तब तक संसद या भारत सरकार किन्हीं नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था नहीं कर सकती है।

   राज्यसभा की शक्तियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यभा ने केवल द्वितीय सदन वरन् द्वितीय महत्व का सदन है। शक्तियों

टिप्पणी

की दृष्टि से इसकी स्थिति ब्रिटेन के हाउस ऑफ लॉर्ड्स और अमेरिकी सीनेट के बीच की ही है। संविधान निर्माताओं ने राज्यसभा को प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की है। यह लोकसभा का प्रतिद्वंद्वी सदन नहीं है अन्यथा देश संवैधानिक गतिरोधों में ही फंसा रह जाता है। यह लोकसभा की तुलना में निर्बल है परन्तु इसकी शक्तियों और स्थिति का अपना महत्व है। एम.वी. पायली के शब्दों में, "राज्यसभा एक निरर्थक सदन या व्यवस्थापन पर केवल रोक लगाने वाला सदन ही नहीं है। वास्तव में, राज्यसभा शासनतंत्र का एक आवश्यक अंग है, केवल दिखाने मात्र का दूसरा सदन नहीं है।

राज्यसभा का आलोचनात्मक मूल्यांकन

भारतीय शासन व्यवस्था में राज्यसभा की स्थिति पर्याप्त विवाद का विषय रही है। संविधान सभा का बहुत बड़ा वर्ग राज्यसभा की स्थापना के पक्ष में था लेकिन दूसरी ओर वह पक्ष भी था जो इस द्वितीय सदन की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगाने वाले सदस्य का समर्थन पा रहा था। यह सदस्य द्वितीय सदन पर प्रश्नचिह्न लगाने के साथ–साथ एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना का प्रस्ताव भी लाए थे। संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर भी द्वितीय सदन के बहुत अधिक पक्ष में नहीं थे। संविधान लागू होने के बाद भी कई बार इसे समाप्त करने की बात कही गई है। राज्यसभा के प्रति की गई आलोचनाओं को हम दो वर्गों में विभाजित करके इनका अध्ययन कर सकते हैं–(1) रचना संबंधी आलोचनाएं और (2) शक्ति संबंधी आलोचनाएं।

1. रचना संबंधी आलोचनाएं–सर्वप्रथम राज्यसभा की आलोचना इसकी रचना को लेकर की जाती है तथा इस आलोचना के अनेक आधार भी हैं–

(i) **प्रथम**–माना जाता है कि संघवाद के सिद्धान्त के आधार पर द्वितीय सदन का गठन संघात्मकता अर्थात राज्यों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाना चाहिए लेकिन भारत में राज्यसभा के गठन में अमरीकी सीनेट या ऑस्ट्रेलिया के द्वितीय सदन के समान संघात्मकता के सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया है। भारत में राज्यसभा का गठन दलगत आधार पर ही होता है और राज्यसभा नहीं वरन् राज्य विधानमण्डलों के राजनीतिक दलों की एक सभा है।" ऐसी स्थिति में राज्यसभा के गठन का विशेष उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

(ii) **द्वितीय**–राज्यसभा के अधिकांश सदस्य अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर अपना पद ग्रहण करते हैं। ऐसी स्थिति में आशंका यह होती है कि साम, दाम, दण्ड और भेद को अपनाकर किन्हीं अयोग्य व्यक्तियों द्वारा राज्यसभा का चुनाव जीत लिया जाएगा। इस प्रकार की कुछ घटनाएं प्रकाश में भी आई हैं।

(iii) **तृतीय**–राज्यसभा के सदस्य को राज्य विधानसभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। इस संबंध में दोष यह है कि भारतीय संघ के कुछ राज्यों की विधानसभाओं में क्षेत्रीय दलों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त है और आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के कारण ये क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में भी प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं, जिसे राष्ट्रीय हित में नहीं कहा जा सकता है।

टिप्पणी

(iv) **चतुर्थ**–राज्यसभा के 12 सदस्यों को राष्ट्रपति के द्वारा मनोनीत किया जाता है और मनोनयन की यह प्रणाली नितान्त अप्रजातान्त्रिक है, इसमें राजतंत्र का अंश दृष्टिगोचर होता है तथा कार्यपालिका के द्वारा अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है।

(v) **पंचम**–राज्यसभा व्यवस्थापिका में कई ऐसा स्थान है जिसे हम राजनीतिक शरण–गृह के रूप में भी देख सकते हैं। राज्यसभा में प्रायः ऐसे व्यक्तियों की स्थान दिया जाता है, जो राजनीतिक दलों से अवकाश प्राप्त है, विशेष गुटों के प्रतिनिधि है, आयोग्य है, जो प्रत्यक्ष चुनाव से दूर भागते हैं या प्रत्यक्ष चुनाव में जनता ने उन्हें अस्वीकार कर दिया हो। इस प्रकार राज्यसभा तुष्टीकरण की नीति को क्रियान्वित करने का उत्तम स्थान है।

2. शक्ति संबंधी आलोचनाएं–सैद्धान्तिक तौर पर राज्यसभा को संविधान ने जो शक्तियां और अधिकार प्रदान किए है उनके आधार पर इसे एक निरर्थक और अनुपयोगी सदन कहा जा सकता है। वास्तविक स्थिति यह है कि राज्यसभा साधारण विधेयकों को 6 महीने तथा वित्त विधेयकों के संबंध में मात्र 14 दिन की देरी लगा सकती है। यह मंत्रिमण्डल को नाममात्र के लिए ही प्रभावित कर सकती है क्योंकि इसे मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। इन सबके अतिरिक्त राज्यसभा के सदस्य राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं, राज्य सूची के विषयों को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करना और अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था के लिए प्रस्ताव पारित करना आदि। राज्यसभा के शक्ति संबंधी इन कार्यों की कई आधारों पर आलोचना की जा सकती है।

(i) **प्रथम**–केवल इन्हीं कार्यों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक सदन स्थापित करने का कोई औचित्य नहीं है। यह कार्य संविधान द्वारा स्थापित अन्य किन्हीं संस्थाओं और पदाधिकारियों द्वारा भी सम्पन्न कराये जा सकते हैं।

(ii) **द्वितीय**–राज्यसभा को वित्तीय और गैर वित्तीय विधेयकों के संबंध में देर लगाने की शक्ति प्राप्त है वह हानिकारक सिद्ध हुई है और विशेष परिस्थितियों में बहुत अधिक हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

(iii) **तृतीय**–लोकसभा की कार्यप्रणाली और गठन इस प्रकार का है कि इसके द्वारा कानूनों के निर्माण में न तो अनावश्यक जल्दबाजी को अपनाया जा सकता है और न ही निरंकुशता को। अतः लोकसभा पर थोड़ा या अधिक अंकुश रखने राज्यसभा का कोई औचित्य नहीं है। आलोचकों का मानना है कि राज्यसभा की समाप्ति से भारतीय संविधान के कार्यकारण पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा।

लोकसभा और राज्यसभा के मध्य संबंध–व्यावहारिक पक्ष

लोकसभा और राज्यसभा के मध्य संबंध का व्यावहारिक पक्ष यह है कि अनेकों बार लोकसभा और राज्यसभा में आपसी विरोध की स्थिति उत्पन्न होती रही है। मॉरिस जोन्स लिखते हैं, "संस्थाओं का यह स्वभाव होता है कि वे निष्ठाओं को जन्म देती है और जब दो की स्थिति प्रायः समान होती है तो उनमें मतभेदों का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।"

टिप्पणी

सर्वप्रथम विरोध की स्थिति 1953 में उत्पन्न हुई जब राज्यसभा ने अपने सदस्य और तत्कालीन विधि मंत्री श्री विश्वास को लोकसभा में उपस्थित न होने का निर्देश दिया। दूसरी घटना भी 1953 की ही है जब राज्यसभा ने एक प्रस्ताव पास करके मांग की कि राज्यसभाकी अलग लोक लेखा समिति होनी चाहिए अथवा वर्तमान लोक लेखा समिति में राज्यसभा के भी 7 सदस्यों को प्रतिनिधित्व देकर इसे लोकसभा की लोक लेखा समिति के स्थान पर संसद की लोक लेखा समिति का रूप दिया जाना चाहिए। लोकसभा ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और इसे असंवैधानिक बताया। विवाद को समाप्त करने के लिए अन्त में पं. नेहरू ने हस्तक्षेप करते हुए व्यवस्था की कि लोक लेखा समिति तो लोकसभा की ही रहेगी, लेकिन इस समिति को सहयोग देने के लिए राज्यसभा अपने 7 सदस्यों को नामांकित करेगी। 1954 और 1963 में भी ऐसी स्थितियां उत्पन्न हुईं थी।

राज्यसभा अपनी स्थिति के प्रति कुछ आवश्यकता से अधिक सजग रही है और कभी–कभी यह लोकसभा के कार्यों में अनुचित रूप से बाधा डाली है। 1970 में भी इसी प्रकार की स्थिति देखी गई जबकि राज्यसभा ने लोकसभा द्वारा पारित प्रिवीपर्स समाप्ति का संविधान संशोधन विधेयक अस्वीकार कर दिया था। ऐसी स्थिति में अनेक सदस्यों ने राज्यसभा को 'आर्थिक और सामाजिक प्रगति में बाधक' बतलाते हुए इसे समाप्त करने की मांग की। सन् 1977–79 के वर्षों में लोकसभा और राज्यसभा की दलीय संरचना में भेद रहा है और इस स्थिति ने इन दोनों सदनों के बीच विरोध की घटनाओं को जन्म दिया। सर्वप्रथम राज्यसभा ने बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक के संबंध में लोकसभा के सुझावों का विरोध किया और 1977–78 के वार्षिक बजट में भी संशोधन किए। उपर्युक्त दोनों मामलों में राज्यसभा के सुझाव अस्वीकार कर दिए गए। इसके बाद 1978 में लोकसभा ने 44वां संशोधन विधेयक पारित किया गया। यह विधेयक जब राज्यसभा में भेजा गया तब राज्यसभा ने इस विधेयक को 5 संशोधनों सहित पारित किया और लोकसभा को राज्यसभा द्वारा किए गए ये संशोधन स्वीकार करने पड़े। इसी प्रकार, 'विशेष अदालत विधेयक' में भी राज्यसभा के द्वारा जो संशोधन स्वीकार किए गए, लोकसभा ने उन्हें स्वीकार कर लिया।

फरवरी 1980 में भारत में संसदीय इतिहास में पहली बार राज्यसभा ने 'राष्ट्रपति के अभिभाषण पर धन्यबाद प्रस्ताव' में ऐसे वाक्य जुड़वाए, जो नई सरकार की आलोचना करते है। इन संशोधनों का महत्व इतना ही है कि ये वाक्यांश संसदीय कार्यवाही में दर्ज हो गए, पर राजनीतिक दृष्टि से यह राज्यसभा के स्वतंत्र चरित्र को उजागर करते हैं और राजनीतिक स्थिति में हुए भारी परिवर्तन के बावजूद शक्ति संतुलन बनाए रखने की चेष्टा का परिचय देते हैं।

लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल तथा दोनों सदनों के सदस्यों के चुनाव की पद्धतियों का जो भेद है उसके कारण भविष्य में भी इन सदनों की दलीय संरचना में भेद हो सकता है और इसके कारण दोनों सदनों में आपसी विरोध की स्थितियां पैदा हो सकती है।

राज्यसभा का महत्व

मॉरिस जोन्स का कथन शत प्रतिशत सही है कि जब दो संस्थाओं का स्तर लगभग समान होता है तो उसमें मतभेदों का जन्म लेना स्वाभाविक है। लोकसभा और

टिप्पणी

राज्यसभा में पारस्परिक विरोध की घटनाएं अक्सर उत्पन्न होती रही है तथा इस प्रकार घटनाओं के कारण पर्याप्त आलोचनाएं भी होती रही है। आलोचनाओं और विरोधों के बावजूद राज्यसभा का अस्तित्व पर्याप्त उपयोगी और लाभदायक रहा है। राज्यसभा यदि 'देवताओं का सदन' नहीं बन पाई तो इसने अपने आपको 'दुष्टों और प्रतिक्रियावादियों का सदन' भी नहीं बनने दिया है। राज्यसभा एक महत्वहीन संस्था नहीं है इसका महत्व और औचित्य पूर्णतया स्पष्ट है–

1. राज्यसभा को संविधान संशोधन के संबंध में लोकसभा के समान शक्ति प्राप्त है।
2. राज्यसभा में से भी मंत्रियों की नियुक्तियां की जाती है। 1966 में श्रीमती गांधी जब प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त हुई थी, उस समय वे राज्यसभा की सदस्या थीं।
3. केन्द्रीय मंत्री प्रायः राज्यसभा में उपस्थित रहते है तथा विचार विमर्श और वाद–विवाद में भाग लेते हैं। इस परम्परा से भी राज्यसभा का पर्याप्त महत्व पता लगता है।

इस प्रकार राज्यसभा सरकार की नीतियों तथा कार्यों पर प्रभाव डालने में समर्थ है और व्यवहार में अनेक बार इसने प्रशासन की नीतियों तथा कार्यों को प्रभावित किया है। राज्यसभा वे सभी कार्य करती है जो परम्परागत रूप में द्वितीय सदन के द्वारा किए जाते हैं और भारत जैसे विशाल और संघात्मक व्यवस्था वाले देश के लिए व्यवस्थापिका का द्विसदनात्मक होना अत्यन्त आवश्यक है और स्वाभाविक है। सामान्यतया राज्यसभा का कार्यकरण भारतवर्ष में सफल रहा है तथा इसके अस्तित्व के औचित्य पर लोशमात्र संदेह नहीं किया जा सकता है। प्रो. जितेन्द्र रंजन ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है कि, "यह न तो अमेरिकी सीनेट की भांति शक्तिशाली है और न ही ब्रिटिश लार्ड सभा या फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्र की गणतन्त्रीय परिषद की भांति अत्याधिक दुर्बल। जापानी व्यवस्था की तरह द्वितीय सदन की निषेधात्मक शक्ति को हमारे संविधान में स्वीकार नहीं किया गया है। इसे सिर्फ दोहराने की पर्याप्त शक्ति दी गई है, निषेध की नहीं। राज्यसभा न केवल रचना की दृष्टि से विश्व का सबसे अधिक श्रेष्ठ द्वितीय सदन है वरन् यह आधुनिक प्रजातंत्र के योग्य तथा द्वितीय सदन के उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से भी सर्वाधिक सन्तुलित द्वितीय सदन है।"

राज्यसभा की भूमिका और अस्तित्व और भी प्रभावी हो जाएगा यदि राज्यसभा अपने आपको लोकसभा की सहायक और सहयोगी समझे उसकी प्रतिद्वन्द्वी नहीं। पं. जवाहरलाल नेहरू ने मई 1953 को राज्यसभा में बिल्कुल ठीक कहा था कि, "दोनों सदनों के द्वारा परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए क्योंकि इन दोनों में से कोई एक नहीं, वरन् दोनो एक साथ मिलकर ही भारत की संसद का निर्माण करते हैं और भारतीय संसद के रूप में जाने जाते हैं।"

भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियां

भारतीय संसद सम्प्रभु नहीं है किन्तु इसके कार्य क्षेत्र का विस्तार देखते हुए इसकी शक्तिशाली स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है यह अनेक महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करती है तथा अग्रलिखित बिन्दुओं के द्वारा इसके कार्यों और शक्तियों को समझा जा सकता है–

टिप्पणी

1. **मंत्रिमण्डल का गठन संसद के बीच से ही होता है**–भारतीय संसद का यह पहला कार्य है कि वह मंत्रिमण्डल को गठित करवाये तथा उस पर नियंत्रण भी रखे। यद्यपि मंत्रिमण्डल संसद के निम्न सदन के लिए उत्तरदायी होता है लेकिन मंत्रिमण्डल की सदस्यता निम्न सदन तक ही सीमित नहीं होती है, उच्च सदन के सदस्य भी मंत्रिमण्डल के सदस्य हो सकते हैं। विधि निर्माण करना संसद का परम्परागत कार्य है।

2. **व्यवस्थापन संबंधी शक्तियां**–संसद को संघ सूची तथा समवर्ती सूची के सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। संसद को सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। भारतीय संसद संविधान के अधीन राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्थापन संबंधी सर्वोच्च संस्था है। राज्यों को राज्य सूची में विशेष रूप से सौंपे गए विषयों के संबंध में कुछ परिस्थितियों में संसद कानून बना सकती है। आपातकाल की उद्घोषणा के काल में राज्य सूची के विषयों पर संसद कानून बना सकती है। जब दो या दो से अधिक विधानमण्डल प्रस्ताव पास करके संसद से किसी विषय के बारे में कानून बनाने की प्रार्थना करें तो भी संसद कानून बना सकती है। इसी प्रकार जब राज्यसभा दो–तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य सूची के किसी विषय विशेष पर कानून बनाने का अनुरोध करे तो संसद कानून बना सकती है।

   कानून निर्माण करने में संसद की भूमिका अर्थात प्रस्तावित कानून का पुनरीक्षण, निरीक्षण और उस पर चर्चा करने और संभवतया अंतिम रूप में उसे प्रभावित करने का अवसर प्रदान करने की भूमिका बहुत महत्व रखती है लेकिन इसका दूसरा पहलू भी है। ससद विधियों का निर्माण नहीं करती है। विधि निर्माण की प्रक्रिया बहुत लम्बी प्रक्रिया होती है संसद के न तो इसके लिए पर्याप्त समय होता है और न पर्याप्त सूचनाएं। विधि निर्माण के मामले में भी अन्य विषयों की भांति पहल पूर्णतया कार्यपालिका और प्रशासनिक विभागों के द्वारा की जाती है। कार्यपालिका द्वारा सूत्रबद्ध विधायी प्रस्तावों अर्थात विधेयकों, नियमों तथा विनियमों आदि पर संसद केवल विचार करती है, उनका परीक्षण करती है उन पर स्वीकृति देकर उन्हें वैध बनाती है। अतः संसद की भूमिका विधि निर्माण की भूमिका न होकर वैधीकरण की भूमिका है। संसद के समय का केवल 1/5वां भाग विधायी कार्य में प्रयुक्त होता है।

3. **कार्यपालिका शक्तियां**–भारतीय संविधान यहां संसदीय शासन पद्धति स्थापित करता है इसमें मंत्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्रिमण्डल केवल उस समय तक अपने पद पर बने रह सकता है जब तक कि उसे संसद के निम्न सदन का विश्वास प्राप्त हो। इसे सरकार पर संसदीय नियन्त्रण भी कहा जा सकता है, इसे हम निम्न बिन्दुओं द्वारा समझ सकते हैं–

   (i) मंत्रिमण्डल का संसद के निर्वाचित सदन के प्रति सामूहिक दायित्व संबंध संवैधानिक उपबंध

   (ii) बजट पर संसदीय नियंत्रण।

टिप्पणी

उपर्युक्त दोनों ही मामलों में, कार्यपालिका पर संसद का नियंत्रण राजनीतिक स्वरूप है। कार्यपालिका का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष, निरन्तर, समवर्ती एवं दिन प्रतिदिन का है। जब संसद का सत्र चल रहा होता है तो कार्यपालिका का सत्ता में बने रहना हर समय लोकसभा के विश्वास को बनाये रखने पर निर्भर करता है। सदन किसी भी क्षण बहुमत द्वारा सरकार को अपदस्थ करने का निर्णय ले सकता है। यदि सत्ताधारी दल सदन का विश्वास खो देता है तो सरकार अपदस्त हो जाती है और उसके लिए कोई कारण बताना, प्रमाण देना या औचित्य बताना आवश्यक नहीं होता। जब सदन अंतिम और स्पष्ट रूप से कह देता है कि कार्यपालिका को आवश्यक बहुमत प्राप्त नहीं है तो कार्यपालिका को उसी क्षण सत्ता छोड़नी पड़ती है। लोकसभा में सरकार को अविश्वास प्रस्ताव निम्न प्रकारों से व्यक्त किया जा सकता है–

(i) मंत्रिपरिषद में अविश्वास का मूल प्रस्ताव पास करके,

(ii) कोई स्थगन प्रस्ताव पास करके,

(iii) नीति संबंधी किसी बड़े मामले पर सरकार को पराजित करके

(iv) आपूर्ति की स्वीकृति देने से इंकार करने पर या किसी वित्तीय उपाय पर सरकार को पराजित करके।

4. **वित्तीय शक्तियां**–वार्षिक बजट तैयार करने का अधिकार कार्यपालिका को प्राप्त है। संविधान के उपबन्ध के अनुसार अनुमानित प्राप्तियों तथा व्यय का एक वार्षिक विवरण संसद के समक्ष रखा जाएगा। वित्तीय मामलों में हर प्रकार की पहल सरकार ही कर सकती है। परन्तु कार्यपालिका की मनमानी पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से सार्वजनिक वित्त पर संसद अपना नियन्त्रण रखती है अर्थात कर लगाने या उनमें परिवर्तन करने और आपूर्ति तथा अनुदानों को स्वीकृति देने की शक्ति। विधि द्वारा विशिष्ट संसदीय अधिकार के बिना कानूनी तौर पर कोई कर नहीं लगाया जा सकता और न ही और न ही भारत की संचित निधि से कोई व्यय किया जा सकता है। संसद ही प्राक्कलन और लोक लेखा समिति को नियुक्त करती है तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है। व्यावहारिक तथ्य यह है कि लोकसभा अपने बहुमत के द्वारा, सदन को भंग कर देने की शक्ति तथा नए चुनाव कराने की अपनी शक्ति के द्वारा सरकार संसद पर नियंत्रण रखती है।

5. **राज्यों से संबंधित शक्तियां**–संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों की इच्छा के बिना भी उनकी सीमाएं तथा उनके नामों में परिवर्तन कर सकती है तथा किसी राज्य का अस्तित्व भी समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है।

6. **संविधान संशोधान से संबंधित शक्तियां**–संविधान के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान मे भी संशोधन कर सकती है और संविधान के संशोधन की प्रक्रिया को भी संशोधित कर सकती है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संविधान में संशोधन संबंधी विशिष्ट उपलबन्ध किया गया है, संघ की संविधायी शक्ति संसद को प्राप्त है। संविधान में संशोधन करने की

टिप्पणी

प्रक्रिया के कुछ विशेष तत्व है जिनसे संसद की एक विधानमण्डल के रूप में साधारण भूमिका से उसकी संविधायी क्षमता का स्पष्ट भेद किया गया है। प्रथम संविधान में संशोधन की शुरुआत, केवल संसद के किसी एक सदन में विधेयक पेश करके ही जा सकती है, क्योंकि संविधान में संशोधन करने की पहल केवल संसद के लिए रक्षित है। दूसरे, अधिकांशतः संसद द्वारा संविधान के उपबंध में संशोधन विशेष बहुमत से किया जा सकता है अर्थात प्रत्येक सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थिति और मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा। केवल कुछ ही संवैधानिक उपबन्धों जैसे सातवीं अनुसूची की सूचियों, संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व तथा अनुच्छेद 368 से संबंधित उपबंध के संबंध में संसद के प्रत्ये सदन द्वारा निर्धारित विशेष बहुमत में संशोधन विधेयक पास किए जाने के बाद कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों के समर्थन की आवश्यकता होती है। तीसरे संविधान संशोधन विधेयक को विधिवत रूप से पारित किए जाने के पश्चात राष्ट्रपति उसे सदन के पास वापस नहीं भेज सकता है। संविधान का ऐसा कोई भी उपबन्ध नहीं है जिसमें संसद द्वारा संशोधन न किया जा सके। ऐसे किसी भी संशोधन को किसी भी आधार पर किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है यदि उससे संविधान के आधारभूत ढांचे को हानि नहीं पहुंच रही है।

7. **निर्वाचन संबंधी कार्य**—संविधान के अनुच्छेद 54 के अनुसार संसद को कुछ निर्वाचन संबंधी शक्तियां प्रदान की गई। संसद के दोनों सदनों के सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मंडल के सदस्य होते हैं, इसी प्रकार अनुच्छेद 66 के अनुसार संसद सदस्य उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।

8. **महाभियोग का अधिकार**—संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है। इसी प्रकार उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने तथा उन्हें पदच्युत करने का प्रस्ताव पारित करने का अधिकार संसद के पास होता है।

9. **सूचना के तंत्र के रूप में कार्य**—सूचना के तंत्र के रूप में संसद प्रेस या किसी अन्य व्यक्तिगत निकाय से अधिक शक्तिशाली है। संसद के पास अधिकृत सूचनाएं होती है ये सूचनाएं विश्वसीय स्रोतों से प्राप्त होती है। अधिकतर संसद को यह सूचनाएं विशेष रूप से मंत्रियों से पूछे जाने वाले प्रश्नों से प्राप्त होती है। इस प्रकार संसद की उपर्युक्त शक्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय संसद की शक्तियां एवं कार्य विस्तृत है। संसद में सार्वजनिक विषयों पर वाद विवाद होते है, राष्ट्र के लिए हितकारी विधियों का निर्माण होता है, कार्यपालिका पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है जिससे वह निरंकुश न हो जाए, राष्ट्र के आय व्यय पर भी नियन्त्रण रखा जाता है, देश के प्रथम तथा द्वितीय नागरिक का निर्वाचन तथा उनके विरुद्ध महाभियोग का अधिकार भी संसद के पास ही है। इस सबके अतिरिक्त आधुनिक समय में संसद सूचना का तंत्र भी है। इसलिए हम संसद को मात्र वाद–विवाद का स्थल नहीं मान सकते हैं, यह इससे कहीं अधिक है यह लोकतंत्र की भावना का प्रचार प्रसार करती है, राजनीतिक जागरुकता फैलाती है जनता को राजनीतिक व्यवहार की शिक्षा उपलब्ध कराती है।

टिप्पणी

भारतीय संसद की संवैधानिक स्थिति

संविधान के अनुच्छेद 76 में संसद के गठन के बारे में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि संसद राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी। भारतीय संसद के दो सदन होते हैं निम्न सदन और उच्च सदन। निम्न सदन लोकसभा के नाम से जाना जाता है इसमें प्रतिनिधि प्रत्यक्ष निर्वाचन के द्वारा चुनकर आते है जबकि उच्च सदन राज्यसभा के नाम से जाना जाता है इसमें प्रतिनिधि जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं तथा राज्यसभा में 12 व्यक्तियों को कला, साहित्य, विज्ञान, समाज सेवा या सहकारिता के क्षेत्र में विशेष ज्ञान व अनुभव होने के कारण राष्ट्रपति द्वारा नामजद किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति भी भारतीय संसद का अभिन्न अंग होता है।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, "जनतंत्रात्मक प्रणाली का केन्द्र बिन्दु राष्ट्र की संसद है। प्रशासन की बागडोर चाहे किसी भी दल या वर्ग के हाथ में हो, जब तक संसद के अधिकार अक्षुण्ण हैं और कार्यक्षेत्र तथा कार्य संचालन की दृष्टि से उसका स्वरूप सम्प्रभु है वह राष्ट्र बड़े से बड़े संकट का सामना कर सकता है।" संसद की सम्प्रभुता पर विचार ब्रिटिश संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। सर एडवर्ड का इस संबंध में मत बिल्कुल सही है कि, "संसद की शक्ति और अधिकार क्षेत्र इतना सर्वोपरि और पूर्ण है कि इसकी कोई सीमाएं नहीं बांधी जा सकती।" डी. लोमे ने तो ब्रिटिश संसद के बारे में यहां तक कह डाला है कि, "संसद सभी कुछ कर सकती है, सिवाय स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती है।" वस्तुतः ब्रिटिश संसद को जो अप्रतिबन्धित शक्तियां प्राप्त हैं इसे ही 'संसदीय सार्वभौमिकता या सम्प्रभुता' कहा गया है। संसद जो कुछ चाहे, जिस किसी भी रूप में चाहे, विधि निर्माण कर सकती है तथा ब्रिटिश संसद जो कुछ विधि स्वीकृत करेगी वह देश का कानून होगा।

भारत में संसदीय ढांचे वाली शासन पद्धति को अपनाया गया है जिसका स्वरूप बहुत हद तक ब्रिटिश प्रतिमान से मिलता जुलता है लेकिन फिर भी हमारी संसदीय व्यवस्था नितांत संसददीय नहीं है। भारतीय संविधान का स्वरूप किसी विदेशी संविधान का अनुकरण मात्र नहीं और न ही ये भानुमती का पिटारा का है बल्कि अपने आप में अनुपम ओर नवीन प्रयोग है। हमारे संविधान निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि ब्रिटिश प्रतिमान पर आधारित संसदीय व्यवस्था स्वीकार करने में अनेक संस्थानात्मक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती है। वे भारत के लिए व्यावहारिक शासन व्यवस्था अपनाना चाहते थे जो यहां के वातावरण में पोषित हो सके। इसी कारण संविधान निर्माताओं ने भारतीय संसद को ब्रिटिश संसद की भांति सम्प्रभु नहीं बनाया।

भारतीय संसद की सम्प्रभुता का प्रश्न अनके अवसरों पर वाद–विवाद का कारण बना है। केशवानन्द भारती के मामले में श्री पालकीवाला ने इसी प्रश्न को उठाते हुए संसद की शक्तियां को मर्यादित बताया है। संसद में बहुमत की स्थिति हमेशा स्थायित्व लिए हुए नहीं होती है इसमें बदलाव होते रहते है अतः जो स्वयं अस्थायी है वह बुनियादी मानव स्वतंत्रता का हरण कैसे कर सकती है। संसद को संविधान के अनिवार्य और स्थायी तत्वों में संशोधन करने का कोई अधिकार नहीं है। महान्यायवादी नीरेन डे का भी इस संबंध में यही मत है कि संसद के संविधान संशोधन के अधिकार पर कोई सीमा नहीं लगाई जा सकती है। प्रायः भारतीय संसद की स्थिति की तुलना ब्रिटिश संसद से की जाती है, यह उचित नहीं है क्योंकि ब्रिटेन का कोई लिखित संविधान नहीं

टिप्पणी

है और विधि की दृष्टि से संसद को सार्वभौमिक प्रभुता प्राप्त है। डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार, "भारत में प्रभुता केवल जनता में निहित है, संसद के अधिकार संविधान में निर्दिष्ट मात्र है।" नारमन डी. पामर ने लिखा है, "भारतीय संसद विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है तथा महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करती है। यद्यपि इसका मुख्य कार्य भारत राज्य क्षेत्र के लिए विधियों का निर्माण करना है तथापि इस दृष्टि से इसके कार्यों पर अनेक सीमाएं है। संघीय प्रणाली तथा संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान करने से इनकी शक्तियां सीमित हो गई हैं। इसी प्रकार प्रधानमंत्री की वास्तविक शक्तियों तथा कांग्रेस दल के प्रचण्ड बहुमत के कारण भी संसद की शक्तियां सीमित हो गई है।" भारत की परिस्थितियों तथा यहां पर संविधान के प्रावधानों के कारण भारतीय संसद की सार्वभौमिकता पर कुछ सीमाएं लग जाती है, ये सीमाएं इस प्रकार हैं–

1. **लिखित संविधान**–हमारे यहां लिखित संविधान की व्यवस्था है, लिखित संविधान के प्रावधानों के द्वारा संसद की सार्वभौमिकता सीमित होती है। संविधान के अनुच्छेद 245(1) द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग संसद संविधान के अनुसार करेगी। अमरीकी शासन प्रक्रिया के समान भारतीय कानून प्रणाली में भी दो प्रकार के कानूनों के अन्तर पाया जाता है। ये दो प्रकार के कानून 'साधारण कानून' और 'संवैधानिक कानून' के नाम से जाने जाते है। साधारण कानून का निर्माण संवैधानिक कानून के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि संविधान व्यवस्थापिकाएं संविधान के विरुद्ध कानून का निर्माण नहीं कर सकती है।

2. **संघवाद संबंधी प्रावधान**–भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण राज्य सूची के विषयों पर संसद की कानून बनाने की शक्ति सीमित हो गई है। प्रो. टी.के. टोपे ने लिखा है कि, "भारतीय संसद एक संघीय संविधान के अन्तर्गत विधायिका है। ब्रिटिश संसद की तुलना में भारतीय संसद की शक्तियां समिति हैं।"

3. **संविधान संशोधन**–संविधान के कतिपय अनुच्छेदों के संशोधनों हेतु संसद को राज्य विधानमण्डल के पुष्टिकरण पर निर्भर रहना पड़ता है। संविधान के अनुच्छेद जिनका संबंध केन्द्र राज्य संबंधों से है, यदि उनमें कोई संशोधन करना हो तो संसद को कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।

4. **न्यायिक पुनरावलोकन**–संसद द्वार पारित विधि यदि संविधान के विरुद्ध हो तो भारत का सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। संसदीय विधियों को हमारे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा वैद्य घोषित करना आवश्यक होता है। बी.के. मुखर्जी के अनुसार, "यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक कानून वैधानिक है या नहीं।" न्यायालय के इस अधिकार को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति कहते हैं।" यह सर्वविदित है कि गोपालन बनाम मद्रास राज्य, गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, केशवानन्द भारती आदि मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित किया या संसद की

टिप्पणी

शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाए। यह शक्ति संसद को अपनी सीमाओं में बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण उपकरण हैं।

5 **राजनीतिक परिसीमाएं**—राजनीतिक दृष्टि से भी संसद लोकमत के प्रतिकूल विधियों का निर्माण नहीं कर सकती। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी सम्मान करना होता है। संसद पर प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल का भी पर्याप्त नियन्त्रण रहता है। प्रधानमंत्री संसद के निम्न सदन का विघटन करवा सकता है। संसद में जितने भी विधेयक प्रस्तुत किए जाते हैं वह प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल की इच्छानुसार ही प्रस्तुत किए जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हमारी संसद की शक्तियां सबसे अधिक प्रभावी तरह से लिखित संविधान एवं सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति से प्रतिबंधित होती हैं। इसका अभिप्राय यह सर्वथा नहीं है कि संसद केवल अनुमोदन करने वाली संस्था मात्र बनकर रह गई है। बिना संसद के लोकतंत्र की शानदान इमारत खड़ी है। ससद हमारे देश का वह केन्द्र बिन्दु है जहां जनता में सम्प्रभुता के अधिवास के दर्शन होते हैं। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में "संसद एक दल की नहीं है, एक बल की नहीं, किन्तु सभी की है और इसलिए वह सार्वभौम है।"

भारतीय संसद की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि विश्व की अन्य संघीय व्यवस्थापिकाओं से हमारे संसद की शक्तियां अधिक है। अमेरिकी कांग्रेस तथा ऑस्ट्रेलियन संसद राज्य संबंधी विषयों पर कानूनों का निर्माण नहीं कर सकती है जबकि भारतीय संसद को विशिष्ट परिस्थितियों में राज्यों के लिए कानून बनाने का अधिकार है। निष्कर्षतः कार्यों एवं शक्ति के दृष्टिकोण से भारतीय संसद की स्थिति 'संसदीय प्रभुता' तथा न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य की है। संविधान निर्माताओं ने संसद की दोनों ही अतियों वाली स्थिति से रक्षा की है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, "संसद की असली सर्वोच्चता या सम्प्रभुता इसी में निहित है कि वह अपने और जनता के अधिकारों के बीच भेद न करे। यदि प्रजातन्त्र को स्थिर और सफल बनाना है, तो संसद को अपने अधिकारों की रक्षा के साथ—साथ प्रजा की आवाज सुनने के लिए भी सदा तैयार रहना चाहिए।"

अपनी प्रगति जांचिए

5. भारत में लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली किस देश की शासन प्रणाली का अनुकरण है?

(क) ब्रिटेन (ख) आयरलैंड

(ग) रूस (घ) अमेरिका

6. भारत के प्रथम लोकसभा अध्यक्ष का नाम क्या है?

(क) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ख) डॉ. राधाकृष्णन

(ग) जी.वी. मावलंकर (घ) डॉ. भीमराव अंबेडकर

3.5 सर्वोच्च न्यायालय और संवैधानिक प्रक्रिया

टिप्पणी

हमारी न्याय व्यवस्था के शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है, जो भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, यह एक लम्बी प्रक्रिया है। सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार बहुत व्यापक है जो विश्वप्रसिद्ध है।

सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व

भारतीय राज्य–व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है–

1. **संविधान का रक्षक**–भारत में एक लिखित और कठोर संविधान को अपनाया गया है और इसके साथ ही संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है। संविधान की सर्वोच्चता को बनाये रखने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जाता है।

   सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के रक्षक और संविधान के आधिकारिक व्याख्याता के रूप में कार्य किया जाता है। वह संसद द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के विरुद्ध हो। अपनी इस शक्ति के आधार पर वह संविधान की प्रभुता और सर्वोच्चता की रक्षा करता है। संविधान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर संविधान की अधिकारपूर्ण व्याख्या उसी के द्वारा की जाती है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय संविधान की रक्षा करता है।

2. **संघात्मक व्यवस्था का रक्षक**–संविधान के द्वारा भारत में एक संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी है जिसके अन्तर्गत संविधान द्वारा ही संघीय और राज्य सरकार के बीच शक्ति विभाजन किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय इस शक्ति विभाजन की रक्षा करता है और संघीय या राज्य सरकारों को अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर कोई कार्य करने से रोक सकता है।

   इसके अलावा संविधान द्वारा चाहे कितना ही अधिक स्पष्ट शक्ति विभाजन क्यों न किया जाय अनेक विषयों पर संघीय या राज्य सरकारों के बीच या राज्य सरकारों में ही परस्पर विवाद उत्पन्न हो सकता है, जिसका निबटारा एक सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जा सकता है।

3. **मूल अधिकारों का रक्षक**–भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं और इन मूल अधिकारों की रक्षा भी सर्वोच्च न्यायालय ही करता है। यदि व्यवस्थापिका कार्यपालिका या अन्य कोई सत्ता नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करती है, तो सर्वोच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेक्षण जब जैसी आवश्यकता हो, वैसा आदेश जारी कर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है।

   इस प्रकार संविधान के रक्षक संघात्मक व्यवस्था के रक्षक और मूल अधिकारों के रक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है।

टिप्पणी

सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

मूल रूप से सर्वोच्च न्यायालय के लिए मुख्य न्यायाधीश तथा 7 अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गयी थी और संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या, सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार, न्यायाधीशों का वेतन और सेवा शर्तें निश्चित करने का अधिकार संसद को दिया गया है। संसद के द्वारा समय–समय पर कानून में संशोधन कर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्वि की गयी है। 1960 में 14, 1977 में 18 तथा 1985 में 26 (एक मुख्य न्यायाधीश तथा 25 अन्य न्यायाधीश) किया गया तथा 2007 ई. के अन्त तक यही व्यवस्था रही। सर्वोच्च न्यायालय पर लगातार बढ़ते हुए मामलों के बोझ को देखते हुए संसद ने मार्च 2008 ई. में सर्वोच्च न्यायालय न्यायाधीशों के संख्या अधिनियम 1985 को संशोधित करते हुए सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या 31 (एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश) कर दी है। इस प्रकार वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय में 31 न्यायाधीश है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर भारत का मुख्य न्यायाधीश, भारत के राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता है। इस प्रकार तदर्थ नियुक्तियां करते समय भारत के मुख्य न्यायाधीश का उच्च न्यायालय के उन मुख्य न्यायाधीशों की सलाह लेनी होगी जिनमें से न्यायाधीशो की नियुक्ति की जाये। भारत में तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कनाडा में प्रचलित ऐसी ही प्रथा के समान है। सर्वोच्च या संघीय न्यायालय के पदनिवृत्त न्यायाधीश को राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में 1978 से अपनाई गई सर्वमान्य परम्परा के आधार पर अब यह पूर्णतया निश्चित हो गया है कि राष्ट्रपति द्वारा इस न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जायेगा। विधि आयोग ने भी अपनी 80वीं रिपोर्ट में कहा है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए न्यायापालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा और लोकतन्त्र के सुचारु संचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रक्रिया–संविधान के अनुच्छेद 124 में व्यवस्था है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त इस न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों ओर उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति अकेले मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है। इस विवाद के निराकरण हेतु राष्ट्रपति द्वारा जुलाई, 1998 में एक सन्दर्भ सर्वोच्च न्यायालय को भेजा गया। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस सन्दर्भ पर 28 अक्टूबर, 1998 को लिए गए निर्णय के आधार पर अब सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है–

राष्ट्रपति द्वारा ये नियुक्तियां सर्वोच्च न्यायालय से प्राप्त परामर्श के आधार पर की जायेंगी। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश इस प्रसंग में राष्ट्रपति को परामर्श देंगे। सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ ने अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा है कि वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह को एक मत से और लिखित में सिफारिश करनी

चाहिए। जब तक न्यायाधीशों के समूह की राय मुख्य न्यायाधीश के विचार से मेल नहीं खाएं तब तक मुख्य न्यायाधीश द्वारा राष्ट्रपति से कोई सिफारिश नहीं की जानी चाहिए।

टिप्पणी

सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया है कि यदि भारत के मुख्य न्यायाधीश परामर्श की प्रक्रिया पूरी किये बिना न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सिफारिशें करते हैं तो सरकार ऐसी सिफारिशें मानने के लिए बाध्य नहीं है।

न्यायाधीशों की योग्यता–सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में निम्न योग्यताओं का होना आवश्यक है–

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह किसी उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में लगातार कम से कम पांच वर्ष तक न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो। या किसी उच्च न्यायालय अथवा न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो। या राष्ट्रपति के विचार में एक पारंगत विधिवेत्ता हो।

यह अन्तिम उपबन्ध वस्तुतः चुनाव के क्षेत्र को व्यापक करने के लिए रखा गया है। इस उपबन्ध के अनुसार किसी विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाला कोई विख्यात विधिवेत्ता सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जा सकेगा।

कार्यकाल तथा महाभियोग–सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवानिवृति की आयु 65 वर्ष है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की भांति भारतीय में आजीवन कार्यकाल की व्यवस्था नहीं की गयी है। फिर भी वर्तमान व्यवस्था व्यवहार में वैसी ही है। क्योंकि भारत में औसत आयु देखते हुए 65 वर्ष की आयु बहुत होती है। इसके अतिरिक्त हमारे संविधान के अनुच्छेद 128 में किसी सेवानिवृत न्यायाधीश को नियुक्त करने की भी विशेष व्यवस्था की गयी है। इस अवस्था के पूर्व वह स्वयं त्यागपत्र दे सकता है। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से केवल प्रमाणित दुर्व्यवहार या अक्षमता के आधार पर ही हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो भी हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग–अलग अपने सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो–तिहाई मत से प्रस्ताव पास करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा। इसके बाद राष्ट्रपति उस न्यायाधीश की पदच्युति का आदेश जारी करेगा। इस सम्बध में यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव एक ही सत्र में स्वीकार होना चाहिए और न्यायाधीश को अपने पक्ष के समर्थन तथा उसकी पैरवी का पूरा अवसर प्रदान किया जायेगा।

भारत में अब तक केवल एक बार 1992–93 में सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश जी. रामास्वामी के विरुद्ध संसद में महाभियोग का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। लेकिन संसद में जब इस प्रस्ताव पर विचार चल रहा था, तभी शासक दल के द्वारा प्रस्ताव वापस लिया गया। इस प्रकार भारत के संवैधानिक इतिहास में अब तक किसी न्यायाधीश के विरुद्ध महाभियेाग का प्रस्ताव पारित नहीं किया गया है।

टिप्पणी

वेतन भत्ते और सेवा शर्तें–संविधान के अनुच्छेद 125 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतन दिये जायेंगे, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। न्यायाधीशों के वेतन भत्ते, पेन्शन और ग्रेच्युटी (सेवा निवृति राशि) आदि के सम्बन्ध में 1 जनवरी, 2006 ई. से आवश्यक सुधार (उल्लेखनीय वृद्धि) किये गये हैं।

वेतन के अतिरिक्त इन न्यायाधीशों को मासिक भत्ता, निवास, स्टाफ, कार, सीमित, मात्रा में पेट्रोल तथा अन्य कुछ सुविधाएं भी प्राप्त होती हैं। न्यायाधीशों के लिए पेंशन व निवृति वेतन (ग्रेच्युटी) की व्यवस्था भी है। यह व्यवस्था सर्वप्रथम 1976 ई. में की गई थी। न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन, भत्ते, आदि में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। उन्हें वेतन व भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जायेंगे। जिस पर भारतीय संसद को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

उन्मुक्तियां–न्यायाधीश को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है, किन्तु न्यायालय के किसी निर्णय या किसी न्यायाधीश की किसी सम्पत्ति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने किसी प्रेरणा या हितवश एक विशेष प्रकार का निर्णय दिया। संसद के द्वारा महाभियेाग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता है। न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह अपना सम्मान बनाये रखने और शत्रुतापूर्ण आलोचना से अपनी रक्षा करने के लिए किसी भी तथाकथित अपराधी के विरुद्ध न्यायालय अवमानना की कार्यवाही कर सके। न्यायालय अवमानना की कार्यवाही न केवल प्रतिष्ठा की रक्षा करने वरन् ऐसे किसी कार्य को रेाकने के लिए भी की जा सकती है, जिसका इसकी निर्णय की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका हो। दीक्षित बनाम उत्तर प्रदेश राज्य के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा ही निर्णय दिया था।

सर्वोच्च न्यायालय का व्यवस्थापन

संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया है कि वह स्वयं अपना व्यवस्थापन रखे और उन पर पूरा नियन्त्रण रखे। इस सम्बन्ध में संविधान–निर्माताओं का उचित रूप में यह मत था कि इस प्रकार की व्यवस्था न हो तो न्यायालय की स्वाधीनता केवल भ्रम ही सिद्ध होगी। सर्वोच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की सब नियुक्तियां मुख्य न्यायाधीश द्वारा या उसके द्वारा इस कार्य पर लगाये किसी अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी द्वारा की जाती है। इन पदाधिकारियों की सेवा शर्तें भी इस न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। उन पर होने वाला व्यय तथा न्यायालय के व्यवस्थापन के अन्य व्यय भारत की संचित निधि से किये जाते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि

सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि के सम्बन्ध में संविधान ने कुछ व्यवस्थाएं की है। इसके अतिरिक्त संविधान ने भारतीय संसद को भी इस सम्बन्ध मे नियम बनाने का अधिकार प्रदान किया है तथा अन्य विषयों पर सर्वोच्च न्यायालय स्वंय भी राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर नियम निर्मित करने की क्षमता रखता है।

सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि के सम्बन्ध में संविधान द्वारा निम्न व्यवस्थाएं की गयी हैं–

टिप्पणी

1. जिन विषयों का सम्बन्ध संविधान की व्याख्या से हो या जिनके अन्तर्गत संवैधानिक प्रश्न उपस्थित हों या जिनमें विधि के अभिप्राय को स्पष्ट करने की आवश्यकता हो या जिन विषयों पर विचार का कार्य भारत के राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा हो उसकी सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय के कम से कम 5 न्यायाधीशों द्वारा की जायेगी।
2. सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय खुले तौर पर किये जायेंगे।
3. सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय बहुमत के आधार पर होंगे। बहुमत के निर्णय से असहमत न्यायाधीश अपना पृथक निर्णय दे सकता है। वह अन्य किसी प्रकार से बहुमत के निर्णय को प्रभावित नहीं कर सकेगा। बहुमत निर्णय ही मान्य होगा

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

भारत के सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त है, यहां तक कि विश्व के अन्य किसी भी न्यायालय का क्षेत्राधिकार शायद ही इतना व्यापक हो। इसके क्षेत्राधिकार का अध्ययन निम्नलिखित तीन रूपों में किया जा सकता है–(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार, (2) अपीलीय क्षेत्राधिकार और (3) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार।

1. **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**–सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को दो वर्गों में रखा जा सकता है–

   (i) **प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार**–दुर्गादास बसु का कहना है कि ''यद्यपि हमारा संविधान एक सन्धि या समझौते के रूप मे नहीं है फिर भी संघ तथा राज्यों के बीच व्यवस्थापिका तथा राज्यो के बीच व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकारों का विभाजन किया गया है। अतः अनुच्छेद 131 संघ तथा राज्यों के बीच न्यायिक विवादों के निर्णय का प्रारम्भिक तथा एकमेव क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपता है।'' सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं–

   (1) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।

   (2) भारत सरकार, राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद।

   (3) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद, जिसमें कोई ऐसा प्रश्न अन्तर्निहित हो जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो।

   सर्वोच्च न्यायालय को केवल संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के पारस्परिक विवादों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार प्राप्त है अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के विवाद केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही उपस्थित किये जाते हैं।

टिप्पणी

(ii) **समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**– संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को लागू करने के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के साथ–साथ उच्च न्यायालयों को भी अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 32(1) द्वारा विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय को उत्तरदायी ठहराया गया है कि वह ''मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे।'' इस प्रकार मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी के भी द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

2. **अपीलीय क्षेत्राधिकार**–सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ–साथ संविधान ने अपीलीय क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। उसे समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकारी को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) **संवैधानिक**–संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद मे संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय से की जा सकती है। यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है, यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय में संविधान की व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है। 'निर्वाचन आयोग बनाम वेंकट राव' (1953) वाले मुकदमे में यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या किसी संवैधानिक विषय मे अनुच्छेद 132 के अधीन किसी अकेले न्यायाधीश के निर्णय की अपील भी सर्वोच्च न्यायालय मे की जा सकती है अथवा नहीं। उच्च न्यायालय ने इसका उत्तर 'हां' में दिया। इसके फलस्वरूप यह न्यायालय संविधान का अन्तिम संरक्षक और व्याख्याकर्ता बन जाता है।

(ii) **दीवानी**–इस सम्बन्ध मे मूल संविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी, उसे 1972 में हुए संविधान के 30वें संशोधन द्वारा परिवर्तित कर दिया गया है। इसके पूर्व यह व्यवस्था थी कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में केवल ऐसे ही दिवानी विवादों की अपील की जा सकती थी जिनमें विवादग्रस्त राशि 20 हजार रुपये से अधिक हो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में विधि आयोग ने अपनी सिफारिश में कहा कि दिवानी विवादों की सर्वोच्च न्यायालय में अपील के सम्बन्ध में धनराशि की जो सीमा है, वह हटा दी जानी चाहिए। इस सिफारिश के अनुसार 30वां संवैधानिक संशोधन किया गया, जिसके द्वारा अनुच्छेद 133 को संशोधित करते हुए अब धनराशि की सीमा हटा दी गयी है और यह निश्चित किया गया है कि उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। 30वें संशोधन द्वारा की गयी यह व्यवस्था निश्चित रूप से उचित और तर्कपूर्ण है।

(iii) **फौजदारी**–फौजदारी विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील निम्न परिस्थितियों में सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है–

क) यदि उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुक्ति का आदेश रद्द कर उसे मृत्युदण्ड दे दिया हो।

ख) उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया हो।

ग) अगर उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है, तो अपील की जा सकती है।

टिप्पणी

(iv) **विशिष्ट**–यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की व्यवस्था की गयी है, लेकिन फिर भी कुछ ऐसे मामले हो सकते हैं, जो उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते, लेकिन जिनमें सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अतः अनुच्छेद 136 द्वारा साधारण कानून से भिन्न अपील सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा दिये गये किसी भी निर्णय, निर्धारण, दण्ड या आदेश करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध में एकमात्र अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को यह जो विशिष्ट अपीलीय शक्ति प्रदान की गयी है, उसके द्वारा इसका प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय को राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री सहित भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव–सम्बन्धी विवादों पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है।

विशेष अदालतों की व्यवस्था और विशेष अदालतों में सर्वोच्च न्यायालय में सीधे अपील की व्यवस्था–राष्ट्रपति ने 13 जुलाई, 1984 को आतंकवादी क्षेत्र (विशेष अदालतें) अध्यादेश जारी कर केन्द्र सरकार को अधिकार दिया है कि वह देश (जम्मू–कश्मीर के अतिरिक्त भारतीय संघ के समस्त राज्य) के किसी भी भाग को आतंकवादी प्रभावित क्षेत्र घोषित कर आतंकवादियों पर मुकदमे चलाने के लिए विशेष अदालतें स्थापित कर सकती है। विशेष अदालतें जघन्य अपराधों से सम्बन्धित खास–खास मुकदमों की सुनवाई करेंगी। इस अध्यादेश या कानून के अन्तर्गत गठित की जाने वाली अदालतों की अध्यक्षता सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा निर्देशित जिला और सत्र न्यायाधीश करेंगे। इन अदालतों के फैसले के खिलाफ अपील सीधे सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकेगी। उच्च न्यायालय के प्रावधानों के अनुसार विशेष अदालतों का अधीक्षण करेंगे।

अपीलीय क्षेत्राधिकार के दृष्टिकोण से भारत का सर्वोच्च न्यायालय विश्व में सबसे अधिक शक्तिशाली है। सम्भवतया सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को लक्ष्य करते हुए ही 28 जनवरी, 1950 को सर्वोच्च न्यायालय के उद्घाटन के अवसर पर भाषण देते हुए एम.सी. सीतलवाड ने कहा था कि ''इस

टिप्पणी

न्यायालय के आदेश बीस लाख वर्गमील के विस्तृत प्रदेश में लागू होंगे, जिसमें लगभग 30 करोड़ व्यक्ति (वर्तमान में एक अरब से अधिक) निवास करते हैं। यह कहना सत्य होगा कि स्वरूप और विस्तार की दृष्टि से इस अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र तथा शक्तियों से व्यापक हैं।''

3. **परामर्शी क्षेत्राधिकार**–संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। अनुच्छेद 143 के अनुसार यदि कभी राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई प्रश्न पैदा हुआ है, जो सार्वजनिक महत्व का है, तो वह उक्त प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श मांग सकता है। इस न्यायालय पर संवैधानिक दृष्टि से ऐसी बाध्यता नहीं है कि उसे परामर्श देना ही पड़ेगा।

अनुच्छेद 143 का खण्ड (2) राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह संविधान के लागू होने के पूर्व किसी सन्धि, समझौते, आदि के सम्बन्ध में उठे विवादों को उस न्यायालय के पास उसकी सम्मति जानने के लिए भेज सके। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से 1947 और 1950 के बीच हुए भारत सरकार और देशी रियासतों के समझौते आते हैं। ऐसे विवादों में न्यायालय के लिए परामर्श देना अनिवार्य है और न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करता है। अब तक राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से केवल 10 बार परामर्श प्राप्त किया है, जिनमें 'केरल शिक्षा विधेयक' 1974 में राष्ट्रपति के चुनाव पर सर्वोच्च न्यायालय से मांगी गयी सम्मति, 1978 में विशेष अदालत विधेयक और 1991 में कावेरी जल विवाद पर मांगी गयी सम्मति अधिक महत्वपूर्ण है। अन्तिम बार 2002 ई. में अनुच्छेद 174 (विधानसभा के दो सत्रों के बीच अधिकतम अवधि, और चुनाव के प्रसंग में चुनाव आयोग के अधिकार और भूमिका) के सम्बन्ध में परामर्श प्राप्त किया गया है।

जनवरी 93 में राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगा था कि 'विवादास्पद बाबरी मस्जिद के पूर्व वहां पर कोई हिन्दू मन्दिर था या नहीं।' सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 24 अक्टूबर, 94 के सर्वसम्मत ऐतिहासिक निर्णय में राष्ट्रपति द्वारा इस विषय में मांगे गये परामर्श का जवाब देने से इंकार कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा ''इस प्रश्न का कानून या संविधान से कुछ लेना देना नहीं है, वरन् इसका सम्बन्ध पूरी तरह तथ्यों से है।'' न्यायालय ने यह भी कहा, 'राय मांगे जाने से किसी संवैधानिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।' इस प्रकार अब यह स्पष्ट हो गया है किसी विशेष मामले में सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को परामर्श देने से इंकार भी कर सकता है।

''सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार मुकदमेबाजी को रोकने और उसे काफी सीमा तक कम करने में सहायक होती है।'' लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया के सर्वोच्च न्यायालयों द्वारा सलाहकारी भूमिका अदा करना पसन्द नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में भारत की व्यवस्था ब्रिटेन और कनाडा आदि देशों के अनुरूप है।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में निरन्तर वृद्धि

1980–2007 ई. के वर्षों में जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता की धारणा के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय और न्यायपालिका ने अपने क्षेत्राधिकार में निरन्तर वृद्धि

टिप्पणी

की है। 2005–06 के वर्षों में विशेष रूप से ऐसी स्थितियां बनी हैं। उ.प्र. के पूर्व मुख्यमंत्री यादव के पुत्र अखिलेश यादव की सम्पत्ति विवाद के प्रसंग में जब सर्वोच्च न्यायालय ने सी.बी.आई. जांच का आदेश दिया। तब यादव के वकील हरीश साल्वे ने आपत्ति करते हुए कहा कि सी.बी.आई. की जांच के प्रस्ताव पर राज्य सरकार की अनुमति होनी चाहिए। तब सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि सर्वोच्च न्यायालय को अपनी ओर से इस प्रकार की जांच का आदेश देने का अधिकार प्राप्त है, तथा इस प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय ने 'अन्तर्निहित और असाधारण क्षेत्राधिकार' की धारणा का प्रतिपादन किया।

सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निम्नलिखित अन्य रूपों में भी कार्य किया जाता है–

1. **अभिलेख न्यायालय**–अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय का स्थान प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आशय हैं–
   (i) इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप में स्वीकार किये जायेंगे और उन्हें किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।
   (ii) इस न्यायालय के द्वारा न्यायालय अवमानना के लिए दण्ड दिया जा सकता है। वैसे तो यह बात प्रथम स्थिति में स्वतः ही मान्य हो जाती है, लेकिन भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को उसकी अवमानना करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था विशिष्ट रूप से कर दी गयी है। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में, ''अभिलेख न्यायालय वह न्यायालय होता है, जिसके अभिलेखों का साक्ष्य की दृष्टि से मूल्य हो और जब उन्हें किसी न्यायालय में पेश किया जाय तो उन पर कोई सन्देह या ऐतराज न किया जा सके। सच तो यह है कि अवमानना के लिए दण्ड दे सकने की शक्ति तो इस स्थिति का एक आवश्यक परिणाम है।
2. **मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक**–भारत का सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। अनुच्छेद 32(1) ने सर्वोच्च न्यायालय को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराया है कि वह ''मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करें।''न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेक्षण के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों पर आक्रमण होने पर वह सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय को अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के प्रति सदैव सजग रहा है तथा इस कार्य में वह सफल भी रहा है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

एक स्वतन्त्र न्यायपालिका ही निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सकती है। अतः भारतीय संविधान द्वारा न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने का पूरा–पूरा प्रयत्न किया गया है। न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गयी हैं–

टिप्पणी

(1) **न्यायाधीशों की नियुक्ति**–संविधाान के द्वारा सर्वोच्च आर उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है जो मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों से परामर्श प्राप्त करते हुए न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय ने अक्टूबर 1998 के निर्णय के आधार पर व्यवस्था कर दी है कि अब इस प्रसंग में सरकार या भारत के मुख्य न्यायाधीश, किसी के भी द्वारा मनमाना आचरण नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसंग में इसे निश्चित रूप से श्रेष्ठ प्रक्रिया और श्रेष्ठ स्थिति कहा जा सकता है।

(2) **कार्यकाल और कार्यकाल की सुरक्षा**–भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। उन्हें साधारणतया पदच्युत नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को केवल सिद्ध कदाचार अथवा अक्षमता के आधार पर हटा सकता है, लेकिन वह ऐसा तभी कर सकता है जब इस हेतु संसद के प्रत्येक सदन की समस्त संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम से कम दो–तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित प्रस्ताव उसके समक्ष रखा जाये। पदच्युति की इस प्रक्रिया को व्यवहार में अपनाया जाना अत्यधिक कठिन होता है।

(3) **वेतन पर्याप्त और संसदीय नियन्त्रण से परे**–न्यायाधीशों को उनकी प्रतिष्ठा तथा स्थिति को बनाये रखने के लिए पर्याप्त वेतन दिया जाता है व उन्हें अन्य भत्ते और सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं। संविधान में यह भी उपबन्धित है कि वित्तीय आपात को छोड़कर अन्य किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के वेतन व भत्तों में कमी नहीं की जायेगी। सर्वोच्च न्यायालय को संसद के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रखने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि उच्चतम न्यायालय के सभी व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।

(4) **कार्य–प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति**–सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्य–प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार है, लेकिन नियम संसद द्वारा निर्मित विधि के अन्तर्गत होंगे तथा इन पर राष्ट्रपति का अनुमोदन आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त, इसके निर्णय या आदेश भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायाधीशों को मान्य होंगे।

(5) **कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण**–न्यायालय को कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण के अभाव में उसकी स्वतन्त्रता को आघात पहुंच सकता है। अतः सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। न्यायालय के सभी अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। सेवा शर्तें भी न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं।

(6) **उन्मुक्तियाँ**–आधिकारिक क्षमता में किये गये न्यायालयों के निर्णय तथा कार्य आलोचना से परे है। संसद भी न्यायाधीशों के किन्हीं भी ऐसे कार्यों पर, जिसे उन्होंने कर्त्तव्यपालन करते हुए किया है, विचार–विमर्श नहीं कर सकती।

(7) **अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने पर प्रतिबन्ध**–संविधान व सर्वोच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायालय या

टिप्पणी

अधिकारी के समक्ष वकालत करने से मना करता है, लेकिन संविधान विशेष प्रकार के कार्य के सम्पादन के लिए इनकी नियुक्ति की अनुमति देता है। उदाहरणार्थ, विशेष जांच–पड़ताल तथा अन्वेषण करना।

1973 और 1977 में जिस प्रकार क्रमशः श्री ए.एन. रे तथा श्री एम.एच. बेग को मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया गया, वह सर्वोच्च न्यायालय और समस्त न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को आघात पहुंचाने वाला था, लेकिन 1978 में इस सम्बन्ध में पुनः वरिष्ठता के सिद्धान्त को अपना लिया गया और 2005 ई. तक इसका निरन्तर पालन किया जाता रहा है। न्यायालय की स्वतन्त्रता के लिए ऐसा किया जाना आवश्यक है।

न्यायाधीशों के लिए आचार–संहिता : न्यायिक जीवन के मूल्यों का पुनर्कथन– लगभग तीन दशक से यह बात सोची जा रही है कि न्यायाधीशों के लिए भी आचार–संहिता होनी चाहिए। अतः 6 दिस., 99 को भारत के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में सम्पन्न मुख्य न्यायाधीशों के वार्षिक सम्मेलन में एक 15 सूत्रीय आचार–संहिता अपनाई गई है।

आचार–संहिता की कुछ प्रमुख बातें हैं– प्रत्येक न्यायाधीश के लिए पद ग्रहण के बाद एक निश्चित समय के भीतर सम्बन्धित मुख्य न्यायाधीश के समक्ष अपनी उस सम्पदा और निवेश को अनिवार्य रूप से घोषित करना होगा, जो उसके अथवा पत्नी या आश्रित सन्तानों के नाम से है मुख्य न्यायाधीश भी रिकार्ड के लिए इसी प्रकार की घोशणा करेंगे। न्यायाधीश अपने पारिवारिक सदस्यों को अपने न्यायालयों में वकालत करने की अनुमति नहीं देंगे, अपने न्यायालय में वकालत करने वाले वकीलों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखेंगे, आदि। आचार–संहिता का उद्देश्य है, न्यायाधीशों को इस बात के लिए सचेत करना कि वे सदैव जनता की निगाह में है, अतः उनके द्वारा न तो ऐसा कोई कार्य किया जाना चाहिए, जो उनके पद की मर्यादा के अनुकूल न हों। मुख्य न्यायाधीश आदर्श सेन आनन्द ने इस अवसर पर कहा था, ''लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है, अतः सार्वजनिक पद ग्रहण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।''

न्यायिक पुनर्विलोकन या संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय

पुनर्विलोकन का तात्पर्य सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान तथा उसकी सर्वोच्चता की रक्षा करने की व्यवस्था से है। यदि संघीय या राज्य विधानमण्डलों द्वारा संविधान का अतिक्रमण किया जाता है, अपनी निश्चित सीमाओं के बाहर कानूनों का निर्माण किया जाता है या मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कानूनों का निर्माण किया जाता है, तो संघीय संसद या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि अथवा संघीय या राज्य प्रशासन द्वारा किये गये ऐसे प्रत्येक कार्य को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को ही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहा जाता है। राज्यों के सम्बन्धों में इस शक्ति का प्रयोग सम्बन्धित उच्च न्यायालय के द्वारा किया जा सकता है।

टिप्पणी

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन का आधार

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का तात्पर्य है कानूनों की वैधानिकता के परीक्षण की शक्ति– अनुच्छेद 131 और 132 सर्वोच्च न्यायालय की संघीय तथा राज्य सरकार द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार देते हैं। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 13 और 32 मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को इसी प्रकार की शक्ति प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में अनुछेद 246 का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिसके द्वारा केन्द्र और राज्यों के मध्य विधि निर्माण की शक्तियों के विभाजन का स्वरूप निश्चित किया गया है। इस प्रकार भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गयी है और न्यायिक पुनर्विलाकन के दो शक्तिशाली आधार संघात्मक व्यवस्था और मौलिक अधिकार है।

संविधान दो में से किसी एक सिद्धान्त पर आधारित हो सकते हैं, **प्रथम,** व्यवस्थापिका अर्थात् कानून निर्माण करने वाले अंग की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर और **द्वितीय,** संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर। ब्रिटेन में व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता अर्थात् संसद की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, लेकिन अमेरिका में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है। इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान अमेरिकी संविधान के ही अधिक निकट है।

भारतीय संविधान के उपबन्धों में कहीं भी विशेष रूप से संविधान की सर्वोच्चता का उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन ऐसा होते हुए भी यह विधान 'संविधान की सर्वोच्चता' के सिद्धान्त पर आधारित है। वस्तुतः संविधान निर्माताओं ने 'संविधान की सर्वोच्चता' की घोषणा करना अनावश्यक समझा, क्योंकि भारतीय शासन–व्यवस्था में शासन के अंग अपनी शक्ति संविधान से ही प्राप्त करते हैं। संविधान ने शासन के प्रत्येक अंग के लिए कुछ सीमा निश्चित कर दी है और शासन के इन अंगों की शक्तियों को तब तक नहीं बदला जा सकता है जब तक कि संविधान में बतायी गयी संशोधन प्रक्रिया के आधार पर संविधान के तत्सम्बन्धी उपबन्धों को परिवर्तित न कर दिया जाय। ऐसी स्थिति में न्यायालय को स्वाभाविक रूप से संवैधानिक सीमाओं की रक्षा करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। डॉ. एम.जी. गुप्ता के अनुसार, ''विधानमण्डल ने जिन कनूनों का निर्माण अपनी विधि–निर्माण की शक्तियों का उल्लंघन करके किया है, उन्हें अवैध घोषित करने की न्यायालयों की शक्ति ऐसे किसी भी विधान में अन्तर्निहित होती है, जिसमें सीमित शक्तियों वाले शासन की व्यवस्था की गयी हो।'' क्योंकि हमने एक संघीय शासन को अपनाया है और शासन के केन्द्रीय तथा राज्यीय दोनों ही अंगों की संवैधानिक मर्यादाएं निश्चित कर दी हैं। अतः यह तय करना न्यायालयों का काम है कि किन्हीं संवैधानिक मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ है अथवा नहीं। इस प्रकार भारत के सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है। न्यायमूर्ति बी.के. मुखर्जी के शब्दों में, ''भारत में संविधान ही सर्वोच्च है और संसद तथा राज्यों में विधानमण्डलों को न केवल संविधान में सातवीं अनुसूची में दी गयी सूचियों द्वारा सीमांकित अपने–अपने क्षेत्रों के अन्दर रहकर काम करना होगा, अपितु संविधान के भाग 3 में नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकारों की गारण्टी दी गयी है, विधायी सत्ता जिनका उल्लंघन किसी भी दशा में नहीं कर सकती। किसी अधिनियम के वैध होने के

लिए आवश्यक है कि वह सब मामलों में संवैधानिक शर्तों के अनुरूप हो और यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक अधिनियम असंवैधानिक है अथवा नहीं।''

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन : प्रकृति और सीमाएं

टिप्पणी

यघपि भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गयी है, फिर भी भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है जितना कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका में है। वस्तुत; ऐसे कुछ कारण है, जिन्होंने भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था को संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में सीमित कर दिया है। सर्वप्रथम, अमेरिका का संविधान अत्यधिक संक्षिप्त है और संविधान की इस संक्षिप्तता के कारण संघीय शासन और इसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। भारत मे न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र इस बात के कारण अपेक्षाकृत सीमित है कि भारत के संविधान मे संघ और राज्यों के मध्य कानून निर्माण की शक्तियों का विभाजन पर्याप्त विस्तार के साथ कर दिया है। संघ और राज्यों के मध्य संघर्ष की स्थिति को कम से कम करने के लिए एक समवर्ती–सूची की भी व्यवस्था की गयी है, जिसके सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्र को प्राप्त है। इन विस्तृत उपबन्धों के कारण मुकदमेबाजी और दूसरे शब्दों में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

द्वितीय, अमेरिका का अधिकार–पत्र निरपेक्ष शब्दावली में लिखा गया है, लेकिन मानवीय अधिकारों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। अतः इन अधिकारों के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' जैसे शब्दों का आश्रय लिया गया। अमेरिका में कार्यपालिका 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' के आधार पर अधिकारों की सीमा निश्चित कर सकती है और सर्वोच्च न्यायालय इस बात की जांच करता है कि कार्यपालिका ने अपनी शक्ति का प्रयोग उचित रूप में किया है अथवा नहीं। इस प्रकार अमेरिकी संविधान के 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' जैसे शब्दों ने सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकारों को बहुत व्यापक कर दिया है, लेकिन भारतीय संविधान निर्माता भारत में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होना देना चाहते थे। इसलिए भारत में प्रत्येक मौलिक अधिकार के साथ–साथ उसकी सीमाएं संविधान में ही निश्चित कर दी गयी हैं और इस कारण न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया।

उपर्युक्त कारण अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और इस सम्बन्ध में 'सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर इन दोनों देशों की संवैधानिक व्यवस्थाओं में ही निहित है।' अमेरिकी संविधान में 'कानून की उचित प्रक्रिया' शब्दावली को अपनाया गया है, लेकिन भारतीय संविधान में अमेरिकी संविधान की शब्दावली के स्थान पर जापानी संविधान की शब्दावली 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' को अपनाया गया है संविधान में की गयी इस व्यवस्था के आधार पर अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता की जांच दो बातों के आधार पर कर सकता है–(1) संघ या राज्य, जिसके भी विधानमण्डल में उस कानून को बनाया है, उसके द्वारा इसका निर्माण कानून निर्माण की क्षमता के अन्तर्गत है या नहीं और (2) वह कानून की उचित प्रक्रिया की शर्तों को पूरा करता है अथवा नहीं। इस प्रकार यदि विधान मण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून पूर्णतया उसकी शक्तियों

टिप्पणी

के अन्तर्गत हो, तो भी यदि वह कानून की उचित प्रक्रिया के अर्थात् प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो तो उसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है, लेकिन भारतीय संविधान में कानून की उचित प्रक्रिया की शब्दावली के स्थान पर 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की जापानी शब्दावली को अपनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघीय या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून को अवैधानिक तभी धोषित कर सकता है, जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में संविधान द्वारा प्रदान की गयी अपनी कानून निर्माण की क्षमता का उल्लंघन किया हो। महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय यह निश्चित करने में की अमुक कानून संवैधानिक है या नहीं, प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का या उचित–अनुचित की अपनी धारणाओं को लागू नहीं कर सकता। यदि हमारे संघ या राज्य के विधानमण्ड़ल द्वारा बनाया गया कोई कानून ऐसा है, जिसका निर्माण करने में वह सक्षम है, तो उसकी संवैधानिकता को चुनौती देना भारत के सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात है। 'एलेक्लेण्डरोविच' के शब्दो में ''भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की कल्पना एक अतिरिक्त विधान निर्माता के रूप मे नहीं की गयी, अपितु एक ऐसे निकाय के रूप में की गयी है जिसे अभिव्यक्त कानून को लागू करना है।''

भारत मे सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति और न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति के सम्बन्ध में दुर्गादास बसु लिखते हैं, ''न्यायिक सर्वोच्चता के स्थान पर हमारे संविधान में संवैधानिक सीमाओं के साथ विधायी सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ऐसे नियम को रद्ध कर देगा, जो संविधान की सीमाओं के प्रतिकूल है, लेकिन इसके द्वारा प्राकृतिक न्याय की धारणा या संविधान के आदर्शों के आधार पर व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमों को रद्द या संशोधित नहीं किया जा सकता। भारत में न्यायपालिका की स्थिति इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच में ही है।''

अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय उसकी कानून की उचित प्रक्रिया वाली धारा के आधार पर लगभग एक 'तीसरा सदन' या 'उच्च विधानमण्डल' बन गया है और न्यायाधीश हूज ठीक रूप में ही कहते हैं कि 'हम एक संविधान के अन्तर्गत तो रहते हैं, लेकिन संविधान वैसा ही है जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय कहता है।'' लेकिन हमारे देश में सर्वोच्च न्यायालय को निश्चित रूप में ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं है। अमेरिका में जहां न्यायिक सर्वोच्चता को अपनाया गया है वहां भारत में न्यायिक सर्वोच्चता और विधायी सर्वोच्चता के बीच समन्वय स्थापित किया गया है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना

यदि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग का अध्ययन किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्वक ही किया है, लेकिन कुछ निर्णयों में, विशेषतया 1967 में गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में ऐसी कुछ प्रवृत्तियां देखी गयी हैं, जिन्होंने उसे आलोचना का पात्र बना दिया है। इस प्रकार की आलोचना के प्रमुख आधार निम्न प्रकार है–

1. **अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य**–इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय ने अब तक व्यक्ति स्वतन्त्र और नागरिक अधिकारों के रक्षक के रूप

टिप्पणी

में कार्य किया है, लेकिन यह भी तथ्य है कि सम्पत्ति सम्बन्धी प्रश्नों पर इसने एक अनुदारवादी न्यायालय और अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य किया। 1950.–51 में इसने जमींदारी और जागीरदारी उन्मूलन के अन्तर्गत पारित कुछ भूमि सुधार कानूनो को अवैध घोषित कियाः 1953 में' 'सोलापुर स्पिनिंग एण्ड बीविंग कम्पनी' के शासन द्वारा अधिग्रहण को अवैध ठहराया और 'कुन्हीकोमान बनाम केरल राज्य' में, केरल कृषि सम्बन्धी अधिनियम को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी अनुदारवादिता का सर्वाधिक परिचय 1967 के 'गोलकनाथ विवाद' मे 6–5 के बहुमत से यह निर्णय देकर दिया कि ''संसद ऐसा कोई अधिनियम पारित नही कर सकती, जो मौलिक अधिकारों को छीनता या सीमित करता हो।'' इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण और प्रिवीपर्स के अन्त सम्बन्धी आदेशों को अवैध घोषित किया।

एक जनकल्याणकारी राज्य में न्यायपालिका से यह आाशा की जाती है कि वह राज्य को जनकल्याण की दिशा में आगे बढ़ाने में सहायक होगी, लेकिन भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कुछ निर्णयों के आधार पर इस लक्ष्य की प्रप्ति में सहायक बनने के बजाय बाधक होने का कार्य किया है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रदर्शित इस अनुदारवादिता के कारण ही समय–समय पर सर्वोच्च न्यायालय को पुनर्गठित करने और इसके अधिकारों को सीमित करने की मांग की जाती रही है।

2. **सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन**–सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग पर एक प्रमुख आपत्ति यह की जाती है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों में अनवरत परिवर्तन करता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप संवैधानिक कानून की समस्त व्यवस्थाओं के प्रति भ्रान्तियां उत्पन्न हुई हैं। इसमे सन्देह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय को वैधानिक दृष्टि से यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर उनमें परिवर्तन कर सकें और न्यायमूर्ति हेगडे इसे 'न्यायिक पुनर्विलोकन का अनिवार्य अंग मानते हैं। लेकिन 1967–71 के काल में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णय को जिस प्रकार से परिवर्तित किया है, उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

मोहनकुमार मंगलम ने अपनी पुस्तक में इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन उदाहरण दिये है–

प्रथम, 1952 के शंकरी प्रसाद और 1965 में सज्जनसिंह के मामले में प्रथम में सर्वसम्मत और द्वितीय में बहुमत निर्णय से, सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात को स्वीकार किया कि संसद मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है, यदि इस सम्बन्ध में निर्धारित प्रक्रिया का पालन किया जाय, लेकिन 1967 के 'गोलकनाथ विवाद' में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि ''संसद को संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध को इस तरह से संशोधित करने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा, जिससे कि मौलिक अधिकार छिन जायें या सीमित हो जायें।''

टिप्पणी

द्वितीय, 1969 के 'गुजरात राज्य बनाम शान्तिलाल मंगलदास' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संविधान के चतुर्थ संशोधन के बाद क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता या अपर्याप्तता पर विचार करना न्यायालय के क्षेत्राधिकार के बाहर है, लेकिन जब 1969 में ही 'बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम' को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी, तो सर्वोच्च न्यायालय ने इसे इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि इसमें निहित क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त अप्रासंगिक है।

तृतीय, 1965 के 'उस्मान अली खान बनाम सागरमल' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय और प्रिवीपर्स आदि से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था राजनीतिक है, न कि वैधानिक और इससें सम्बन्धित दायित्वों को न्यायालय द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, लेकिन 1971 में जब प्रिवीपर्स की समाप्ति और नरेशों की मान्यता वापस लेने से सम्बन्धित आदेशों को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी तो सर्वोच्च न्यायालय ने शासन के आदेश को अवैध घोषित कर दिया।

मोहन कुमार मंगलम निष्कर्ष रूप में लिखते हैं कि– ''सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने निर्णयों में अनवरत परिवर्तन ने कानून की अनिश्चित अवस्था को जन्म दिया है और इससे अधिक हानिप्रद और कुछ नहीं हो सकता कि देश का कानून ही अनिश्चित हो।''

3. **संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण**–सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 1967–71 के काल में जिस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया गया, उससे यह नितान्त स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए भारतीय राज व्यवस्था में वह भूमिका अदा करने की चेष्टा की जो संविधान–निर्माता उसे नहीं देना चाहते थे। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन को अपनाते हुए भी उसकी सीमाएं निर्धारित की गयी हैं और भारतीय संविधान में न्यायिक उस विस्तार तक नहीं हैं जिस विस्तार तक यह व्यवस्था अमेरिका में है। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकरन की सीमाएं स्पष्ट करते हुएं पं. जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में कहा था–

''इन सीमाओं के भीतर कोई भी न्यायाधीश या सर्वोच्च न्यायालय अपने आपको विधानमण्डल का तृतीय सदन नहीं बना सकता है। कोई भी सर्वोच्च न्यायालय या न्यायपालिका सम्पूर्ण जनता की प्रतिनिधि संसद की इच्छाओं का विरोध नहीं कर सकती। यदि हम यहां–वहां कोई त्रुटि करते हैं, तो वह हमें हमारी त्रुटि बता सकती है, लेकिन अन्तिम रूप मे जहां तक समुदाय के भविष्य का सम्बन्ध है, कोई न्यायपालिका इसमें बाधक नहीं हो सकती है।

न्यायालय भी सामान्यताः अपनी इन सीमाओं को स्वीकार करता है। स्वयं **एस. आर. दास** के शब्दों में ''न्यायालय संविधान का विश्लेषण एवं व्याख्या कर सकता है तथा उसके वास्तविक अर्थ का पता लगा सकता है, परन्तु एक बार इस कार्य को सम्पन्न करने के बाद वह उसकी बुद्धिमत्ता या नीति को चुनौती नहीं दे सकता। संविधान सर्वोच्च है। न्यायालय के द्वारा संविधान को उसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, जैसा कि वह है, चाहे वह उसके आदर्श संविधान के पूर्वाग्रहों से मेल ना खाता हो।''

लेकिन 1967 के गोलकनाथ विवाद और तदुपरान्त दिये गये कुछ निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति पर संविधान द्वारा लगायी गयी सीमाओं का अतिक्रमण किया है।

टिप्पणी

4. **सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता**—न्यायिक पुनर्विलोकन के कारण सदैव ही इस बात का भय रहता है कि संसद द्वारा निर्मित कानून और शासन द्वारा अपनायी गयी नीति न्यायपालिका द्वारा सदैव अवैध घोषित की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता का वातावरण बना रहता है जो कि निश्चित रूप से समस्त व्यवस्था के लिए बहुत अधिक हानिकारक है। न्यायिक पुनर्विलोकन के आलोचकों का कथन है कि न्यायपालिका के द्वारा अपने आपको कानूनी प्रश्नों तक ही सीमित रखा जाना चाहिए। भूतपूर्व विधिमन्त्री गोखले के अनुसार, ''न्यायालय कानूनी मामलों पर ही अपनी फैसला दे सकते हैं, राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों पर उन्हें निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं है।''

5. **संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति को जन्म**—न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के कारण जब संसद द्वारा निर्मित कानूनों को न्यायपालिका के द्वारा अवैधानिक घोषित कर दिया जाता है तो संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा होती है और जब राज–व्यवस्था के दो प्रमुख अंगों के बीच ऐसी स्थिति हो, तो शासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व—न्यायिक पुनर्विलोकन की उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था भारतीय लोकतन्त्र के लिए नितान्त आवश्यक और भारत की समस्त राज–व्यवस्था के लिए अत्यधिक हितकर है। **प्रथम,** संविधान द्वारा संघीय व राज्य–सरकारों के बीच जो शक्ति–विभाजन किया गया है, न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही उसकी रक्षा सम्भव है। **द्वितीय,** शासन की शक्ति अंकुश रखने तथा नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की रक्षा का कार्य भी न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही किया जा सकता है। **तृतीय,** न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था संविधान के सन्तुलन चक्र का कार्य करती है और न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय संविधान के अधिकारी व्याख्याता तथा रक्षक के रूप मे कार्य कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में की गयी कुछ आलोचनाएं नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। तथ्यों से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायलय ने अनुदारवादी या प्रगतिविरोधी शक्ति के रूप में कार्य किया है। कुलदीप नैयर ने अपने एक लेख में नितान्त सही रूप में लिखा है कि 'न्याायालय से न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार छीना जाना लोकतन्त्र के हित में नहीं होगा।'

न्यायिक पुनर्विलोकन शासन की शक्ति को मर्यादित रखने का एक प्रमुख साधन है। सर्वोच्च न्यायालय की सात सदस्यीय संविधान पीठ ने 1977 में अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा है: ''न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का एक मूलभूत

लक्षण है। संसद संवैधानिक संशोधन के आधार पर भी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सीमित नहीं कर सकती।''

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय में कितने न्यायाधीश होते हैं

(क) 21 (ख) 31

(ग) 34 (घ) 40

8. न्यायिक पुनर्विलोकन का सिद्धांत किस सिद्धांत पर आधारित है?

(क) न्यायालयों की रक्षा (ख) समाज की रक्षा

(ग) संविधान की सर्वोच्चता (घ) आर्थिक न्याय

3.6 न्यायिक सक्रियता

न्यायिक सक्रियता का आशय है– ''संविधान, कानून और अपने दायित्वों के प्रसंग में कानूनी व्याख्या से आगे बढ़कर सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों और सामाजिक–आर्थिक न्याय की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए संविधान और कानून की रचनात्मक व्याख्या करते हुए जन–साधारण के हितों की रक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना।'' इसके अन्तर्गत यह बात सम्मिलित है कि जन–सामान्य के हित की दृष्टि से आवश्यक होने पर शासन को निर्देश देना और शासन की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाना न्यायपालिका का दायित्व है। न्यायिक सक्रियतावाद के एक पक्षधर न्यायाधीश पी.एन. भगवती ने 1982 में कहा था सर्वोच्च न्यायालय ने विगत दो वर्षों से देश में विद्यमान सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए समस्त व्यवस्था में सक्रिय दृष्टिकोण अपना लिया है। 1980–2007 ई. के काल में न्यायिक सक्रियता में निरन्तर वृद्धि ही हुई है। परम्परागत रूप में यह सोचा जाता रहा है कि न्यायपालिका को राज–व्यवस्था में मात्र निषेधात्मक भूमिका ही प्राप्त है। न्यायिक सक्रियतावाद के आधार पर न्यायपालिका को निषेधात्मक भूमिका के साथ–साथ एक सकारात्मक भूमिका वस्तुतः एक रचनात्मक भूमिका प्राप्त हो जाती है। इसी आधार पर कुछ विद्वान न्यायिक सक्रियतावाद के स्थान पर न्यायिक रचनात्मकता या न्यायपालिका की रचनात्मक भूमिका शब्दों का प्रयोग करते हैं।

प्रारम्भ में 'न्यायिक सक्रियता' को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया। सर्वोच्च न्यायालय से उच्च न्यायालयों को प्रेरणा प्राप्त हुई और उनके द्वारा 'न्यायिक सक्रियता' को अपनाया लिया गया। इसके बाद कुछ विशेष न्यायालयों और जिला न्यायालयों के द्वारा भी भारी उत्साह भाव से न्यायिक सक्रियता को अपनाने की सफल–असफल चेष्टाएं की गईं। न्यायिक सक्रियता की इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए ही अमेरिका की 'Time' पत्रिका ने भारत की न्यायपालिका को 'दुनिया की सबसे सक्रिय न्यायपालिका' करार दिया है।

टिप्पणी

न्याय की परम्परागत धारणा–भारत की न्यायव्यवस्था न्याय की परम्परागत धारणा पर आधारित रही है। इस धारणा के अनुसार न्यायालयों का कार्य है, उनके सामने जो विवाद प्रस्तुत हों, उन विवादों का विद्यमान कानूनों के अनुसार निपटारा करना। इस धारण की कुछ मूलभूत मान्यताएं हैं– **प्रथम,** पीड़ित पक्ष स्वयं व्याख्या तथा सम्पूर्ण विवाद के प्रसंग में वैधानिक दायरे तथा दृष्टिकोण तक सीमित रखा जाना चाहिए। यह धारणा इस विचार पर आधारित है कि आर्थिक–सामाजिक न्याय सामान्यतया न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में नहीं आता है।

न्यायिक सक्रियता का उदय और विकास (न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का ही विस्तार है)–भारतीय संविधान द्वारा भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना की गई है तथा संविधान संघवादी शासन में विश्वास करता है। संघवादी शासन की मूल मान्यता यह है कि शासन को मर्यादित शक्तियां ही प्राप्त होनी चाहिए। संघवादी शासन की इस धारणा के अनुरूप ही भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गई है। न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर न्यायपालिका ऐसे किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकती है जो संविधान का उल्लंघन करता है। कालान्तर में न्यायपालिका ने यह अनुभव किया कि उसे यह शक्ति भी प्राप्त होनी चाहिये यदि कार्यपालिका अकर्मण्यता के कारण अपने कर्त्तव्यों की अनदेखी करे अथवा यह मनमाना आचरण करने की प्रवृति को अपनाये तो न्यायपालिका उसे कर्त्तव्य पालन के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दे अथवा मनमाना आचरण करने की स्थिति में उसे ऐसा करने से रोक दे। इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन व्यवस्थापिका के मनमाने कानून निर्माण पर रोक लगाने का साधन है तो न्यायिक सक्रियता कार्यपालिका को कर्त्तव्य पालन की दिशा में प्रवृत्त करने या उसको मनमाना आचरण न करने देने का साधन है। न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन से आगे का एक चरण है, एक ऐसा जिसे व्यवस्था में निहित गतिशीलता, शासन की कमजोरियों एवं दोषों तथा बदलती हुई परिस्थितियों ने जन्म दिया है। न्यायिक सक्रियता की स्थिति को न्यायपालिका द्वारा उसी देश में अपनाया जा सकता है, जिस देश में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था है। पिछले पांच दशक में अमेरिकी न्यायपालिका ने भी कुछ सीमा तक न्यायिक सक्रियता की स्थिति को अपनाया है। इस प्रकार न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन से आगे का चरण है तथा यह कथन सत्य है कि 'न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का ही विस्तार है'।

संविधान लागू किये जाने के बाद लगभग तीन दशक तक न्याय की परम्परागत घारणा को स्वीकार किया जाता रहा, लेकिन गतिशीलता राज–व्यवस्था का प्राण है। राज–व्यवस्था का प्रत्येक तत्व, प्रत्येक अंग और प्रत्येक संस्था स्वयं में गतिशीलता लिये हुए होती है। 1970 के बाद से ही निरन्तर ऐसी स्थितियां बनीं जिनके आधार पर न्यायाधीशों और समस्त न्याय–व्यवस्था से जुड़ा वर्ग यह सोचने के लिए प्रेरित हुआ कि कानून और संविधान के शब्दों की तुलना में संविधान की भावना और आत्मा को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए और संविधान की आत्मा की रक्षा करने के लिए आवश्यक होने पर तंग कानूनी प्रक्रियाओं के दायरे से बाहर निकलकर संविधान की रचनात्मक व्याख्या का मार्ग अपनाया जाना चाहिए।

न्यायिक सक्रियता के उदय और विकास में सहायक तत्व

टिप्पणी

न्यायिक सक्रियता की धारणा के उदय में प्रमुख रूप से इन स्थितियों का योग रहा है–

1. **अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा शुरू किये गये जनहित अभियोग**– अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसे जनहित अभियोगों की शुरुआत की थी, जिसमें पीड़ित पक्ष की कमजोर स्थिति को दृष्टि में रखते हुए पीड़ित पक्ष (एक व्यक्ति या वर्ग) की ओर से किसी अन्य व्यक्ति ने न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की और न्यायालय ने उसे विचार के लिए स्वीकार किया। यह 'जनहित अभियोग' की स्थिति थी।
2. **राजनीतिक दलों और दलीय नेताओं के आचरण में गिरावट**–गत तीन दशकों से यह बात अनुभव की जा रही थी कि राजनीतिक दल और राजनीतिक दलों के नेता, जो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में स्थान पाते हैं बहुत ऊंचे स्वर और नारेबाजी के रूप में आर्थिक–सामाजिक न्याय के प्रति लगाव की बातें निरन्तर कह रहे थे, लेकिन व्यवहार में उन्होंने सामान्य जन और उनके हितों के प्रति घोर उदासीनता की स्थिति को अपना लिया था। यह स्थिति में न्यायधीशों ने सोचा कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को जन हितों के प्रति सचेत किया जाना चाहिए।
3. **विधायी संस्थाओं में व्याप्त घोर अव्यवस्था और कार्यपालिका की अक्षमता**– इस सदी के सातवें दशक से ही विधायी संस्थाएं घोर अव्यवस्था और शोर–शराबे का प्रतीक बनती जा रही थीं, 'राजनीतिक 'उठा–पटक' की स्थितियां थी, सत्तारूढ़ वर्ग की रुचि केवल इस बात में थी कि 'येन–केन प्रकारेण' स्वयं को सत्ता में बनाये रखा जाये। सत्ता पक्ष और विपक्ष निरन्तर टकराव और कुछ परिस्थितियों में खुले और भद्दे टकराव की स्थिति में थे। विधायी और कार्यपालिका संस्थाओं की इस अक्षमता के कारण राज–व्यवस्था में एक रिक्तता की स्थिति पैदा हो गई थी। स्वाभाविक रूप से न्यायपालिका को प्रेरणा मिली कि वह इस रिक्तता को भरने की चेष्टा करे। निजी शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित पी.ए. ईनामदार बनाम् महाराष्ट्र राज्य के विवाद में मुख्य न्यायधीश लाहोटी ने कहा था– ''जब सरकार के दो अन्य अंगों की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका अपना कार्य नहीं करते, तब न्यायपालिका को सक्रिय होना ही होता है।'' कहावत भी है, 'शक्ति उन्हें प्राप्त होती है, जो उसका प्रयोग करने की इच्छा और क्षमता रखते हैं।
4. **सर्वोच्च कार्यपालिका की अपने दायित्व से बचने की प्रवृत्ति**–इस सदी के अन्तिम दशक में सर्वोच्च कार्यपालिका ने दायित्व से बचने की चेष्टा करते हुए न्यायपालिका को कुछ ऐसे काम सौंपने की चेष्टा की, जो अपनी प्रकृति में राजनीतिक थे। कार्यपालिका जब 'मण्ड़ल विवाद' को हल नहीं कर पाई, तब उसने सर्वोच्च न्यायालय की ओर देखा। इसी प्रकार जब अयोध्या में विवादास्पद ढांचा ढहा दिया गया, तब ऐतिहासिक प्रश्न की आड़ में यह विवाद सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श के लिए भेज दिया गया। चाहे आरक्षण का प्रश्न हो या

नदी–जल विवाद, हर किसी विवाद को हल करने के लिए न्यायपालिका की और देखा जाने लगा।

5. **राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार**–इस अन्तिम दशक में ही कार्यपालिका का कोई ऐसा पदाधिकारी नहीं बचा, जिस पर भ्रष्ट आचरण के आरोप न लगे हों। ये सभी आरोप करोड़ों–अरबों रुपयों की धनराशि के सम्बन्ध में थे। दूसरी और महामारियों की रोकथाम का प्रश्न हो या पर्यावरण की रक्षा अथवा कानून और व्यवस्था का प्रश्न कार्यपालिका सभी मामलों में घोर अकर्मण्यता का परिचय दे रही थी। ऐसी स्थिति में न्यायालयों– सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने जरूरी समझा कि कार्यपालिका को कर्त्तव्य पालन के लिए निर्देश दिये जाएं। 1980 के लगभग न्यायिक सक्रियता का उदय हुआ और समय के साथ–साथ यह धारणा विकसित होती गई। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक और 21वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में तो 'न्यायिक सक्रियतावाद' भारतीय संविधान और राज–व्यवस्था का एक प्रमुख तत्व बन गया।

टिप्पणी

न्यायिक सक्रियता : विविध रूप और मान्यताएं

न्यायिक सक्रियता विविध रूपों में स्थित है, इसके कुछ प्रमुख रूप और मान्यताएं इस प्रकार हैं–

1. **जन–हितकारी अभियोगों को मान्यता**–परम्परागत धारणा यह रही है कि न्यायालय से न्याय पाने का हक उसी को है, जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है किन्तु न्यायिक सक्रियता के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय ने आंग्ल विधि उपर्युक्त नियम को परिवर्तित करते हुए यह व्यवस्था की है कि कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे समूह या वर्ग की ओर से मुकदमा लड़ सकता है जिसको उसके कानूनी या संवैधानिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया है, जैसे– गरीब, अपंग अथवा सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से दलित लोगों के मामलें में आम जनता का कोई आदमी न्यायालय के समक्ष 'वाद' ला सकता है। न्यायालय अपने सारे तकनीकी तथा कार्य–विधि सम्बन्धी नियमों की परवाह किये बिना उसे लिखित रूप में देने से ही मात्र कार्यवाही करेगा। न्यायाधीश **कृष्णा अय्यर** के अनुसार 'वाद कारण' और 'पीड़ित व्यक्ति' की संकुचित धारणा का स्थान अब 'वर्ग–कार्यवाही' और 'लोकहित में कार्यवाही' ने ले लिया है। ऐसे मामलों की शुरुआत संयुक्त राज्य अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट ने की थी। भारत में इसकी शुरुआत भागलपुर (बिहार) विचारधीन बन्दी रखे गये कैदियों से हुई। इनके विषय में पुलिस आयोग के सदस्य के.एफ. रूस्तमजी ने एक लेख लिखा तथा एडवोकेट श्रीमती हिंगोरानी ने धारा 32 के अन्तर्गत उनके मामलों को सर्वोच्च न्यायालय में उठाया। बिहार की इन जेलों में सैकड़ों विचाराधीन कैदी किसी अदालती कार्यवाही के बिना ही वर्षों से लड़ रहे थे। इनकी ओर से न कोई जमानत देने वाला था और न कोई वकील था। अतएव जनहित में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि बिना कारण किसी को जेल में बन्दी न रखा जाय। यदि उस पर मुकदमा चलाने में 18 माह से अधिक समय लग रहा हो तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाय। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने

टिप्पणी

गरीब और असहाय लोगों की ओर से जनहित में चलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मुकदमा लड़ने का अधिकार दे दिया है।

'जनहित अभियोग' न्यायिक सक्रियता का प्रमुख पक्ष है। जनहित अभियोग की शुरुआत भागलपुर जेल के विचाराधीन कैदियों के मामले से हुई और गत दो दशकों से जनहित अभियोगों की स्थिति चली आ रही है। जनहित अभियोग के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय ने जिन विवादों की सुनवाई की, उनमें कुछ प्रमुख हैं– आगरा प्रोटेक्शन होम केस, मुम्बई के पटरी वासियों का मामला, 'सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन' पुलिस ड्राईवरों का केस, उत्तर प्रदेश के चमारों का मुकदमा, तिलीनिया (अजमेर जिला) के श्रमिकों का केस, 'रूदल शाह बनाम बिहार राज्य' और 'एशियाड श्रमिक केस' आदि। जनहित अभियोग में न्यायालय स्वयं अपनी पहल पर सक्रिय नहीं हुए, वरन् सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ताओं ने न्यायालयों को सक्रिय किया।

2. **कानूनी न्याय के साथ–साथ आर्थिक–सामाजिक न्याय पर बल**–संविधान लागू किये जाने के बाद लगभग तीन दशक तक यह समझा जाता था कि न्यायालयों का कार्य कानूनी न्याय प्रदान करना है लेकिन न्यायिक सक्रियता के अन्तर्गत संविधान की भावना को दृष्टि में रखते हुए इस विचार को अपनाया गया कि देश के दीन और दलित लोगों के प्रति न्यायालयों का विशेष दायित्व है। अतः न्यायालयों को कानूनी न्याय से आगे बढ़कर आर्थिक–सामाजिक न्याय प्रदान करने का प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के चमारों के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं उनकी सामाजिक–आर्थिक दशाओं का जांचने के लिए एक आयोग गठित किया तथा राज्य सरकार को उस आयोग का व्यय भार उठाने का आदेश दिया। आयोग की जांच रिपोर्ट के आधार पर न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि चमारों के धन्धे ठेके पर उठा दिये जाने से उन्हें न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिलेगी। यही नहीं वरन् सर्वोच्च न्यायालय ने घोषणा कर दी कि यदि निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी दी जाती है तो वे इसे संविधान के अनुच्छेद 23 का उल्लंघन और बेगार मानेंगे। अकेला यही निर्णय हजारों–लाखों श्रमिकों को लाभ पहुंचाने वाला सिद्ध हुआ। एशियाड श्रमिक केस में भी न्यायालय के द्वारा यही दृष्टिकोण अपनाया गया।

   इसी प्रकार 'बन्धुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत सरकार', केस में सर्वोच्च न्यायालय ने बन्धुआ मुक्ति मोर्चा संस्था के पत्र को रिट मानकर हरियाणा राज्य के फरीदकोट जिले की पत्थर खानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा की जांच करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया और आयोग ने जब अपनी रिपोर्ट में कहा कि 'श्रमिक अमानवीय दशा में कार्यरत हैं' तब न्यायालय ने इन मजदूरों की मुक्ति के आदेश दिये। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने शासन को निर्देश दिया कि वह विवाद में 'निर्बल पक्षकार' को कानूनी सहायता प्रदान करें, अन्यथा उनके लिए अदालत की समस्त कार्यवाही 'अन्याय का प्रतीक' बनकर रह जायेगी।

3. **शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण**–न्यायिक सक्रियतावाद का एक रूप और प्रयोजन शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण है। संविधान और

टिप्पणी

कानूनों के अन्तर्गत उच्च कार्यपालिका अधिकारियों की 'स्वेच्छाचारिता' पर नियन्त्रण है। संविधान और कानूनों के अन्तर्गत उच्च कार्यपालिका अधिकारियों को कुछ 'स्वविवेकीय शक्तियां' प्रदान की गईं हैं। इन स्वविवकीय शक्तियों का औचित्य हो सकता है, लेकिन व्यवहार में देखा गया कि कार्यपालिका अपनी इन स्वविवेकी शक्तियों के आधार पर स्वेच्छाचारिता का मार्ग अपना लेती है। इस पृष्ठभूमि में न्यायिक सक्रियता के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात का प्रतिपादन किया कि विवेकात्मक शक्तियों के अन्तर्गत सरकार की कार्यवाही विवेक सम्मत होनी चाहिए तथा इस कार्यवाही को सम्पन्न करने के लिए जो कार्यविधि अपनाई जाय वह कार्यविधि भी विवेक सम्मत, उत्तम तथा न्यायपूर्ण होनी चाहिए।

4. **शासन को आवश्यक निर्देश देना**—1993—2010 ई के वर्षों में तो सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायिक सक्रियता के आधार पर समस्त राजनीतिक व्यवस्था में पहले से बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली। इन न्यायालयों में जब यह देखा कि जांच एजेन्सियां उच्च पदस्थ व्यक्तियों के विरुद्ध जांच कार्य में ढिलाई बरत रहीं हैं तब न्यायालयों ने विभिन्न जांच एजेन्सियों को अपना कार्य ठीक ढंग से करने के लिए निर्देश दिये और इस बात का प्रतिपादन किया कि व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो, कानून उससे ऊपर है तथा सरकारी एजेन्सी को अपना कार्य निष्पक्षता के साथ करना चाहिए।

भ्रष्टाचार से जुड़े कुछ मामलों में तो न्यायालयों ने जांच की निगरानी का कार्य भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने हाथ में ले लिया। हवाला काण्ड में सर्वोच्च न्यायालय और चारा घोटाले में पटना उच्च न्यायालय ने इसी स्थिति को अपनाया। 2009—10 में सर्वोच्च न्यायालय गुजरात के साम्प्रदायिक दंगों 2002 ई के सम्बन्ध में इसी स्थिति को अपना रहा है। अन्य भी ऐसे कुछ उदाहरण हैं। ये ऐसी स्थितियां हैं, जिनके सम्बन्ध में इसी सदी के नौवें दशक तक सोचा भी नहीं जा सकता था।

इससे भी आगे बढ़कर सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वप्रथम 1996 में प्रधानमंत्री को निर्देश दिया कि वे कर्नाटक तथा तमिलनाडु के बीच कावेरी जल विवाद को हल करने के लिए प्रयास करें। 1998 में पुनः शासन को यह निर्देश तीन सप्ताह की समय—सीमा निश्चित करते हुए दिया गया। पिछले 15 वर्षों में न्यायालयों ने शासन को कानून और व्यवस्था बनाये रखने, प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी संविधान के प्रावधान को अनिवार्य रूप से लागू करने, बाल—श्रम को समाप्त करने, बस दुर्घटनाओं को रोकने की दृष्टि से व्यवस्था करने, सफाई की व्यवस्था कर महामारियों की रोकथाम करने, भूमि अतिक्रमण और आवासीय स्थानों से व्यापारिक उपयोग की स्थितियों को दूर करने, सरसों के तेल में मिलावट की रोकथाम करने तथा पर्यावरण की रक्षा के लिए विविध आवश्यक व्यवस्थाएं करने आदि के प्रसंग में समय—समय पर अनेक निर्देश—आदेश दिये हैं।

न्यायिक सक्रियता की आलोचना

जब न्यायिक सक्रियता के आधार पर न्यायपालिका ने अपने लिए समस्त राज—व्यवस्था में बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली, तब न केवल न्यायिक सक्रियता की प्रवृत्ति, वरन् स्वयं न्यायपालिका भी तीखी आलोचना का विषय बनी। कांग्रेस के

टिप्पणी

तत्कालीन महासचिव बी.पी. मौर्य ने दिसम्बर 96 में कहा– "सर्वोच्च न्यायालय संविधान द्वारा निर्धारित भूमिका का उल्लंघन कर कानून निर्माता बन रहा है। वह कार्यपालिका और नौकरशाही को विविध प्रकार के आदेश–निर्देश देते हुए व्यवस्थापिका के तीसरे सदन की भूमिका निभाने की चेष्टा कर रहा है।'' आलोचकों के अनुसार, न्यायाधीशों के प्रचार पाने की भूख ने उन्हें न्यायिक सक्रियता के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है।

न केवल बी.पी. मौर्य की श्रेणी के राजनीतिज्ञों वरन् कुछ बहुत प्रमुख न्यायविदों और विधिवेत्ताओं ने भी न्यायिक सक्रियता की आलोचना की है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता नानी पालखीवाला ने न्यायिक सक्रियता पर कड़ी आपत्ति प्रकट करते हुए इसे एक तरह की न्यायिक तानाशाही कहते हैं और न्यायमूर्ति एच.आर. खन्ना का कहना है कि, न्यायालयों का मुख्य कार्य विवादों का अविलम्ब फैसला करना है। न्यायालयों ने अपने इस कार्य पर ध्यान न देकर न्यायिक सक्रियता के रूप में जिस स्थिति को अपनाया है, वह स्वेच्छाचारिता है, न्यायालयों की यह स्वेछाचारिता न केवल अनौचित्यपूर्ण वरन् तर्क विरुद्ध भी है। इस बात को तो भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश ए.एम. अहमदी भी स्वीकार करते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ मामलों में अतिशयता को अपना लिया है। दो अन्य पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे.एस. वर्मा और बी.एन. खरे भी चेतावनी देते हैं कि न्यायपालिका स्वयं को उस जगह से ऊपर नहीं रख सकती, जहां उसे संविधान ने रखा है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत 'कोई गैर–निर्वाचित संस्था' (न्यायपालिका) नीति निर्धारक निकाय का रूप नहीं ले सकती।

आलोचकों का कहना है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के कुछ निर्णयों मात्र से व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हो पाना सम्भव नहीं है। 1982 का 'बन्धुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ' का मामला इस बात का मोटा उदाहरण है। 'बन्धुआ मुक्ति मोर्चा के स्वामी अग्निवेश ने अपनी याचिका के जरिए फरीदाबाद की पत्थर खदानों में काम करने वाले मजदूरों के मूल प्रश्न को उठाया था। वे कहते हैं कि– ''सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस प्रंसग में जारी 21 निर्देशों में से किसी पर भी अब तक अमल नहीं हुआ है।'' इस स्थिति का एक कारण यह रहा है कि सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र की यथार्थ परिस्थितियों को ध्यान में न रखते हुए निर्णय दे दिये गये। प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता, बन्धुआ मजदूरी का अन्त और बाल–श्रम की समाप्ति आदि विषय ऐसे नहीं हैं, जिनके सम्बन्ध में मात्र न्यायिक निर्णय से लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। इन लक्ष्यों की प्राप्ति एक ओर तो जन–संघर्ष से तथा दूसरी ओर राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों के विवेकपूर्ण सामंजस्य तथा सहयोग से ही सम्भव है। अकेली न्यायपालिका इस प्रसंग में कुछ नहीं कर सकती हैं।

आलोचकों के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय समस्त प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं, लेकिन निचली अदालतों में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार, जिससे हम सभी परिचित हैं, उसके प्रति वे पूर्णतया उदासीन हैं। उच्चस्तर की न्यायपालिका का, न्यायिक सम्मान के प्रति अत्यधिक भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण उचित नहीं कहा जा सकता है। न्यायालय जिस प्रकार से न्यायालय अवमानना की प्रक्रिया को अपनाते हैं, उसके सम्बन्ध में न्यायमूर्ति खन्ना लिखते हैं ''उचित रूप में की गई आलोचना स्वीकार की ही जानी चाहिए। न्यायालय–अवमानना के अन्तर्गत दण्डात्मक

टिप्पणी

कार्यवाही सकारात्मक आलोचना का उत्तर नहीं है। कुछ सर्वाधिक योग्य न्यायाधीशों ने अपने निर्णयों में इस बात पर बल दिया है कि न्यायालय अवमान की कार्यवाही के प्रसंग में अत्यधिक संयम बरता जाना चाहिए।'' नागरिकों और प्रेस को न्यायिक प्रक्रिया की सत्यनिष्ठता को परखने का अधिकार होना ही चाहिए। यदि न्यायपालिका सरकार के प्रत्येक अंग को जवाबदेह बनाना चाहती है, लेकिन स्वयं किसी के प्रति जवाबदेह नहीं होना चाहती तो इसे 'न्यायिक निरंकुशता' ही कहना होगा।

न्यायिक सक्रियता : महत्व और सीमाएं

न्यायिक सक्रियतावाद के प्रति की गई इन आलोचनाओं में 'सत्य के अंश' होने के बावजूद यह तथ्य है कि न्यायिक सक्रियतावाद के सम्बन्ध में आज की स्थिति के लिए स्वयं न्यायपालिका उत्तरदायी नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय ने परिस्थितियों से प्रेरित और बाध्य होकर ही न्यायिक सक्रियता की स्थिति को अपनाया था और अपनाए हुए हैं। यदि केन्द्रीय और राज्यस्तर की विधायी और कार्यपालिका संस्थाएं अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक बनी रहतीं यदि इन संस्थाओं ने संविधान के आदर्शों के प्रति आस्था और सार्वजनिक हित के प्रति संवेदनशीलता को अपनाया होता तो न्यायिक सक्रियता की कोई आवश्यकता नहीं थी। तथ्य यह है कि विधायी संस्थाएं मात्र अव्यवस्था और शोर–शराबे का प्रतीक बनकर रह गईं तथा कार्यपालिका ने कुछ मामलों में अकर्मण्यता और अन्य कुछ मामलों में मनमाने आचरण की स्थिति को अपना लिया। इसके अतिरिक्त इस सदी के अन्तिम दशक में तो भ्रष्ट आचरण के कुछ ऐसे काण्ड और घोटाले प्रकाश में आये, जिनमें करोड़ों–अरबों रुपयों की धनराशि निहित थी और जिनमें सन्देह की सुइयां कार्यपालिका के उच्चतम स्तरों तक जाती थीं। राजनीति में अपराधी तत्वों की बड़ी संख्या में मौजूदगी भी नितान्त स्पष्ट हो चुकी थी। ये ऐसी स्थितियां थीं, जिन्होंने सामान्य जनता के लोकतन्त्र, संविधान और समस्त राजव्यवस्था के प्रति विश्वास को आघात पहुंचाया। ऐसी स्थिति में जब न्यायिक सक्रियता की स्थिति देखी गई, तो राज–व्यवस्था की कम से कम एक संस्था न्यायपालिका के प्रति जनता का विश्वास बना रहा। जनता ने सोचा कि अभी आशा की किरण शेष है और इस बात ने सामान्य जन के मन–मस्तिष्क में राज–व्यवस्था के प्रति विश्वास को कुछ सीमा तक बनाये रखने में योगदान किया। न्यायिक सक्रियता के सम्बन्ध में सामान्य जन का विचार यह है कि 'न्यायिक सक्रियता के प्रकाश को और आगे तक ले जाये जाने की आवश्यकता है। न्यायपालिका ने बहुत अधिक विश्वसनीयता के साथ लोकतान्त्रिक व्यवस्था और सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों के प्रहरी की भूमिका निभाई है।'

न्यायिक सक्रियता की यह प्रवृत्ति और स्थिति उच्चतम स्तर पर राजनीतिज्ञों और सर्वोच्च स्तर पर आसीन समस्त अभिजनों को एक चेतावनी है। न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता के आधार पर भ्रष्टाचार और अराजकता की हद पार कर रही राजनीति पर लगान लगाने और उसे पतित होने से बचाने की चेष्टा की है। यदि न्यायिक सक्रियता के आधार पर देश का नैतिक नेतृत्व न्यायपालिका के हाथ में चला गया है तो यह दोष व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का है, न्यायपालिका का नहीं। न्यायिक सक्रियतावाद के पक्ष में एक बात यह भी है कि न्यायालय कानून के दायरे से बाहर जाकर कुछ नहीं कर रहे हैं।

टिप्पणी

निष्कर्ष : संयम और संतुलन की आवश्यकता—न्यायिक सक्रियता के प्रसंग में दोनों ही पक्षों का अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जब विधायी संस्थाएं और कार्यपालिका अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो जाय तब न्यायिक सक्रियता की स्थिति को अपनाना आवश्यक हो जाता है। इस सदी के नौवें और अन्तिम दशक में कुछ सीमा तक यह स्थिति पैदा हो गई थी और अब भी यह स्थिति बनी हुई है। ऐसी स्थिति में शासन की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाकर और राज–व्यवस्था के विविध अंगों को सचेत कर न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता के आधार पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, लेकिन इस सीमा तक न्यायिक सक्रियता की स्थिति मात्र एक अस्थायी स्थिति हो सकती है। 'एक ऐसी लक्ष्मण रेखा अंकित करने की आवश्यकता है जिससे न्यायपालिका, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के दायित्वों को न हाथिया ले।' मार्च, 2005 ई. में आयोजित 'स्पीकर सम्मेलन' में लोकसभा के स्पीकर सोमनाथ चटर्जी ने इस प्रकार की लक्ष्मण रेखा की आवश्यकता व्यक्त की है। अप्रैल, 2007 ई. में तो संयम के धनी प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह को भी कहना पड़ा 'न्यायपालिका अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर जा रही है। न्यायपालिका के व्यापक अधिकार क्षेत्र का मतलब यह नहीं है कि वह व्यवस्थापिका, और कार्यपालिका के अधिकारों को अपने हाथ में ले ले।'

महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के कुछ न्यायाधीश और सोली सोराबजी जैसे विधिवेत्ता समय–समय पर न्यायपालिका को ऐसा परामर्श दे चुके हैं। न्यायिक सक्रियता ने भारतीय राज–व्यवस्था में उपयोगी भूमिका अदा की है, लेकिन न्यायिक सक्रियता की सीमाएं हैं। वस्तुतः न केवल न्यायपालिका वरन् राज–व्यवस्था के सभी अंगों और पदाधिकारियों को अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करने के साथ–साथ सीमाओं को भी दृष्टि में रखना होगा। संविधान के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि कानून और न्याय व्यवस्था में मूलभूत सुधारों सहित समस्त व्यवस्था में मूल परिवर्तन किये जायें। राज–व्यवस्था के विविध अंग अपने दायित्वों के प्रति सजगता को अपनायें, साथ ही अपनी मर्यादाओं और सीमाओं की दृष्टि में रखें और राज–व्यवस्था के विविध अंग परस्पर सहयोग–सामंजस्य के आधार पर संविधान और राज–व्यवस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ें।

न्यायिक सक्रियता बनी रहे इसके लिए क्षेत्रीय स्तर तक न्याय व्यवस्था की प्रक्रिया जारी रहती है, जिसका विवरण इस प्रकार है–

उच्च न्यायालय

न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई समाज बिना विधानमण्डल के रहता है, यह बात समझ में आ सकती है लेकिन ऐसे किसी सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें न्यायपालिका या न्यायाधिकरण की कोई व्यवस्था न हो।

साधारणतया संघ राज्यों में न्यायपालिका का दोहरा ढांचा होता है, किन्तु भारत एक संघ राज्य होते हुए भी इसने इकहरी न्यायपालिका को अपनाया है, न्यायापालिका के इस इकहरे ढांचे के अन्तर्गत उच्चतम स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित है, इस सर्वोच्च न्यायालय के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय है। उच्च न्यायालयों के अधीन जिलों के न्यायालय तथा छोटे दीवानी और फौजदारी न्यायालय हैं।

टिप्पणी

उच्च न्यायालय राज्य का प्रमुख न्यायालय होता है। संविधान के अनुसार एक ही उच्च न्यायालय का अधिकार–क्षेत्र दो या दो से अधिक राज्यो या सघीय क्षेत्रों तक विस्तृत हो सकता है। 1995 के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के द्वारा कलकत्ता उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार अण्डमान निकोबार द्वीपों तक और केरल उच्च न्यायालय का अधिकार–क्षेत्र लक्षद्वीप, अमीनद्वीप तथा मिनीकोय तक विस्तृत कर दिया गया है। संविधान के 27वें संशोधन द्वारा राज्यों का जो पुनर्गठन किया गया और उत्तर–पूर्व क्षेत्रीय परिषद की जो स्थापना की गयी उसके अन्तर्गत असम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, अरूणाचल प्रदेश और मिजोरम इन 7 राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय 'गोहाटी उच्च न्यायालय' की व्यवस्था की गयी है। राज्यों में उच्च न्यायालय की स्थापना या उससे सम्बन्धित व्यवस्था में परिवर्तन का अधिकार संसद को प्राप्त है।

उच्च न्यायालय का कार्य केन्द्र–सामान्यतया उच्च न्यायालय का मुख्य कार्य केन्द्र उस राज्य की राजधानी होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

उच्च न्यायालय का संगठन

1. **न्यायालय की नियुक्ति**–प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक प्रमुख न्यायाधीश व कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं, जिनकी संख्या निश्चित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश और उस राज्य के राज्यपाल के परामर्श से करेंगे तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में सम्बन्धित राज्य के मुख्य न्यायाधीश का परामर्श भी लेना होगा। भारत के मुख्य न्यायाधीश उच्च न्यायलयों मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति व स्थानान्तरण के सम्बन्ध मे 'सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायधीशों के समूह' की सर्वसम्मत राय के आधार पर ही राष्ट्रपति को परामर्श देंगे। इलाहाबाद उच्च न्यायालय मे लखनऊ स्थायी बैंच पदों की संख्या 95 है।

   अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति–यदि किसी उच्च न्यायालय में कुछ समय के लिए कार्य बढ़ जाये तो राष्ट्रपति, एक या अधिक न्यायाधीश पद की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को अपने पद से लम्बी अनुपस्थिति की स्थिति में भी राष्ट्रपति उसके स्थान पर किसी व्यक्ति को अस्थायी तौर पर न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर सकता है।

   संविधान के अनुच्छेद 224 के अनुसार मुख्य न्यायाधीश को यह अधिकार दिया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर वह राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति लेकर किसी उच्च न्यायालय के किसी भी अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को 'तदर्थ न्यायाधीश' ;के रूप में कार्य करने के लिए बुला सकता है।

2. **न्यायाधीशों की योग्यताएं**–उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का पद प्राप्त करने के लिए निम्न योग्यताएं होनी आवश्यक हैं–

   (i) यह भारत का नागरिक हो।

   (ii) यह कम से कम दस वर्ष तक भारत के किसी क्षेत्र में न्याय सम्बन्धी पद पर कार्य कर चुका हो अथवा एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय का लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो।

टिप्पणी

3. **न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते**—संविधान के अनुच्छेद 221 के अनुसार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के ऐसे वेतन दिए जायेंगे, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। ये वेतन और भत्ते 'राज्य की संचित निधि' से दिये जाते हैं और न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन तथा भत्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

   1998 में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन में आवश्यक सुधार किया गया है। अब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 30 हजार रु. प्रतिमाह वेतन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को निवासस्थान, मासिक भत्ता, यात्रा भत्ता, मंनोरंजन भत्ता, स्टाफ कार, सीमित मात्रा में पेट्रोल तथा अन्य कुछ आवश्यक सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

   न्यायाधीशों के लिए, पेंशन व सेवा निवृति वेतन (ग्रेच्युटी) की व्यवस्था सर्वप्रथम 1976 ई. में की गई और 1998 में उनकी पेंशन, सेवानिवृति वेतन व अन्य सेवा शर्तों में आवश्यक सुधार किये गये हैं।

4. **न्यायाधीशों का कार्यकाल**— उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल 62 वर्ष की आयु तक निश्चित किया गया है पर इससे पूर्व वह स्वयं पद त्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि संसद के दोनों सदन अलग–अलग अपनी समस्त संख्या के बहुमत से किसी न्यायाधीश को अयोग्य या दुराचारी प्रमाणित करें और प्रस्ताव राष्ट्रपति के सम्मुख रखें, तो राष्ट्रपति के आदेश से उसे अपना पद त्याग देना होगा। संसद द्वारा यह प्रस्ताव एक ही अधिवेशन में रखा जाना चाहिए।

5. **न्यायाधीशों का स्थानान्तरण**—राष्ट्रपति को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश का किसी अन्य उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण कर सकता है।

   उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार द्वारा या न्यायिक क्षेत्र में सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति द्वारा मनमाना आचरण न किया जा सके, इस दृष्टि से अक्टूबर, 1998 में घोषित निर्णय में व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से प्राप्त परामर्श के आधार पर कार्य करेंगे, लेकिन मुख्य न्यायाधीश स्वयं 'सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह' की सर्वसम्मत राय के आधार पर ही इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को राय देंगे। 1998 में की गई वह व्यवस्था निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

6. **न्यायाधीशों पर प्रतिबन्ध**—संविधान के अनुच्छेद 220 के अनुसार उच्च न्यायालय का कोई स्थायी न्यायाधीश पदनिवृति के बाद उसी उच्च न्यायालय में या उससे उच्च न्यायालय के किसी अधीनस्थ न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता है। वह अन्य उच्च न्यायालयों में वकालत अवश्य ही कर सकता है।

7. **आचरण संहिता**—पिछले लगभग 15 वर्षों से यह विचार जोर पकड़ रहा है कि उच्च न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों और सर्वोच्च न्यायालय के किसी–किसी न्यायाधीशों के आचरण में कुछ कवियां रही हैं। अतः सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश एम.एन. वेंकटचलैया सहित अनेक पक्षों द्वारा समय–समय

टिप्पणी

पर यह सोचा जाता रहा है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के लिए एक आचारण–संहिता तैयार की जानी चाहिए। इस प्रसंग में मूल विचार यह है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति, स्थानान्तरण और कार्यकरण, आदि के सम्बन्ध में समस्त व्यवस्था और स्वयं न्यायाधीशों का आचरण ऐसा होना चाहिए कि न्यायाधीशों की निष्पक्षता पर कोई सन्देह ही नहीं किया जा सके। आचार–संहिता की दिशा में एक प्रयत्न दिसम्बर '99 में न्यायिक जीवन के मूल्यों के पुनकर्थन' के रूप में किया गया है। स्वयं न्यायपालिका ने अपने लिए 15 सूत्रीय आचार–संहिता घोषित की है। सही दिशा में यात्रा का प्रारंभिक प्रयत्न है यह, आशा की जा सकती है कि अच्छे परिणाम सामने आएंगे।

उच्च न्यायालय की शक्तियां तथा अधिकार क्षेत्र

भारतीय संघ के प्रत्येक उच्च न्यायालय को दो प्रकार की शक्तियां प्राप्त हैं–(1) न्याय सम्बन्धी, और (2) प्रशासन सम्बन्धी। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय 'अभिलेख न्यायालय' के रूप में भी कार्य करता है। उच्च न्यायालय के न्याय सम्बन्धी क्षेत्र को और आगे दो भागों मे बांटा जा सकता है–प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र तथा अपीलीय अधिकार क्षेत्र।

1. **प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र**–मूल अधिकारों के रक्षण से सम्बन्धित विवाद प्रारम्भ में उच्च न्यायालय में ही प्रस्तुत किये जाते हैं क्योंकि उनकी सुनवाई का अधिकार राज्य के अन्य किसी न्यायालय को प्राप्त नहीं हैं। मूल अधिकारों की रक्षा हेतु उच्च न्यायालय के द्वारा विभिन्न प्रकार के लेख जारी किये जा सकते हैं। ये लेख हैं– बन्दी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेक्षण। इसकी अतिरिक्त, प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय को वसीयत, विवाह–विच्छेद, विवाह–विधि, कम्पनी–कानून तथा उच्च न्यायालय का अपमान इत्यादि से सम्बन्धित मुकदमे सुनने का अधिकार है।

   भारतीय संघ के उच्च न्यायालयों में कोलकत्ता, मुम्बई और चेन्नई उच्च न्यायालयों को अन्य उच्च न्यायालयों की अपेक्षा अधिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त हैं। संविधान लागू होने से पूर्व इन तीनों महानगरों में प्रेजीडेन्सी कोर्ट्स थे, इन तीनों नगरों में प्रेजीडेन्सी कोर्ट्स का दीवानी और फौजदारी अधिकार क्षेत्र तब इन महानगरों में स्थित उच्च न्यायालयों को दिया गया था, लेकिन अब 'उच्च न्यायिका समिति' की सिफारिशों के आधार पर दीवानी विवादों की सुनवाई का अधिकार क्षेत्र धीरे–धीरे अधीनस्थ न्यायालयों को हस्तान्तरित किया जा रहा है।

2. **अपीलीय क्षेत्राधिकार**–उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के निर्णयों की अपीलें सुनता है जिसमें दीवानी, फौजदारी और राजस्व सम्बन्धी सभी प्रकार के अभियोग सम्मिलित हैं। फौजदारी मुकदमों में सत्र न्यायालय (Sessions Court) द्वारा दिये गये मृत्युदण्ड के आदेश पर उच्च न्यायालय की पुष्टि आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय के ही एक न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध दूसरे उच्च न्यायालय में पुनः अपील की जा सकती है। संविधान लागू होने के समय उच्च न्यायालय को राजस्व सम्बन्धी मुकदमों की भी अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। ये अपीलें 'राजस्व मण्डल' के निर्णयों के विरुद्ध होती है।

टिप्पणी

3. **लेख जारी करने का अधिकार**—मूल संविधान के अनुच्छेद 226 के द्वारा उच्च न्यायालयों को मूल अधिकारों को लागू करने तथा अन्या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लेख, आदेश तथा निर्देश जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया है। मूल अधिकारों की रक्षा के लिए लोकहित में अन्य व्यक्ति के द्वारा लोकहित याचिका प्रस्तुत की जा सकती है और उच्च न्यायालय इन याचिकाओं पर विचार कर निर्देश और निर्णय देता है।

4. **न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति**—न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का आशय हैः संवैधानिक कानून अर्थात् संविधान में संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून की संविधान के आधार पर जांच और संविधान के विरुद्ध पाये जाने पर उन्हें अवैध घोषित करना। संविधान के द्वारा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की यह शक्ति प्रदान की गयी है और उच्च न्यायालयों को अधिकार है कि वह किसी भी ऐसे संवैधानिक संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून को अवैधानिक घोषित कर दें, जो संविधान के प्रावधानों के विपरीत हो। न्यायिक पुनर्विलोकन उच्च न्यायालय की बहुत अधिक महत्वपूर्ण कार्यशक्ति है।

5. **उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय के रूप में**—उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय भी है जिसका तात्पर्य यह है कि इसकी कार्यवाही तथा निर्णय प्रकाशित किये जाते हैं और साक्षी के रूप में अधीनस्थ न्यायालयों में मान्य होते हैं। इसके अतिरिक्त, इसे अपने अपमान के लिए दण्ड देने का भी अधिकार प्राप्त है।

6. **प्रशासनिक शक्तियां**—उच्च न्यायालय न्यायिक शक्तियों के अतिरिक्त अपने राज्य की समस्त न्यायिक व्यवस्था पर निम्न प्रकार से नियन्त्रण रखता है—

   (i) उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों और न्यायधिकरणों (Tribunals) पर निगरानी रखते हैं। अपने निरीक्षण के अधिकार के अन्तर्गत वे अपने अधीन न्यायालयों से किसी भी मुकदमों से सम्बन्धित कागजात मंगवाकर देख सकते हैं।

   (ii) यदि अधीन न्यायालय में कोई ऐसा अभियोग चल रहा है, जिसमें भारतीय संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है, तो उच्च न्यायालय ऐसे मुकदमे को अपने पास मंगवा सकता है।

   (iii) उच्च न्यायालय मुकदमे को एक अधीन न्यायालय से दूसरे अधीन न्यायालय में भेज सकता है।

   (iv) अधीन न्यायालयों की कार्य पद्धति, रिकार्ड और रजिस्टर तथा हिसाब इत्यादि रखने के सम्बन्ध में भी उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के लिए नियम बना सकता है।

   (v) यह अधीन न्यायालयों के शेरीफ, क्लर्क, अन्य कर्मचारी तथा वकील आदि के वेतन, सेवा शर्तें और फीस निश्चित कर सकता है।

(vi) यह जिला न्यायालय तथा इससे छोटे न्यायालय के अधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, पदावनति और छुट्टी इत्यादि के सम्बन्ध में नियम बना सकता है।

(vii) उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति की शक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पास होती है।

टिप्पणी

उच्चतम न्यायालय के समान ही उच्च न्यायालयों ने भी 1993–2000 के वर्षों में जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता के आधार पर भारतीय राज–व्यवस्था में अपनी भूमिका को पहले से अधिक प्रभावशाली बना लिया गया है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए संविधान के द्वारा वैसे ही उपबन्धों की व्यवस्था की गई है जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए है। संक्षेप में, ये उपबन्ध निम्न है–

1. **न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा**–उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति, राज्य सरकार या राज्य विधानमण्डल नहीं वरन् राष्ट्रपति करता है और यह नियुक्ति न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों की सहमति के आधार पर की जाती है।
2. **सेवा सुरक्षा**–उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल सुरक्षित है और राज्य मन्त्रिपरिषद या विधानमण्डल उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उनके पद से नहीं हटा सकते। न्यायाधीश अवकाश ग्रहण की आयु (62 वर्ष) तक अपने पद पर बने रहते हैं और इस अवधि के पूर्व न्यायाधीशों को केवल संसद द्वारा महाभियोग की विशेष प्रक्रिया के आधार पर ही उनके पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग की यह प्रक्रिया कठिन है और इसे आसानी से व्यवहार में नहीं लाया जा सकता।
3. **पर्याप्त वेतन तथा सुविधाएं**–उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए पर्याप्त वेतन व भत्तों की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त, वित्तीय संकट के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के पद ग्रहण के बाद उनके वेतन आदि में कोई कमी नहीं की जा सकती है। न्यायाधीशों के वेतन व भत्ते आदि राज्य की संचित निधि से दिये जाते हैं, संसद या राज्य विधानमण्डल उसमें कोई कटौती नहीं कर सकते।
4. **आलोचना से मुक्ति**–उच्च न्यायालय के निर्णयों की संसद, राज्य विधानमण्डल या अन्य किसी पक्ष द्वारा आलोचना नहीं की जा सकती। न्यायालय में विचाराधीन मामलों पर अथवा उसके निर्णयों पर भी संसद या राज्य विधानमण्डल में वाद–विवाद नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय अपने अपमान के लिए लोगों को दण्डित कर सकता है।

टिप्पणी

5. **न्यायाधीशों पर अवकाश के बाद प्रतिबन्ध**–उच्च न्यायालय का न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय तथा उन उच्च न्यायालयों, जिनमें वह न्यायाधीश नहीं रह चुका है, को छोड़कर अन्य किसी न्यायालय या पदाधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता है।

6. **उच्च न्यायालय के व्यवस्थापन और अधीनस्थ न्यायालयों पर उच्च न्यायालय का नियन्त्रण**– उच्च न्यायालय के व्यवस्थापन, कार्य–प्रणाली, समस्त प्रशासनिक व्यय और अधिकारियों व कर्मचारियों पर उच्च न्यायालय का ही नियन्त्रण रहता है। उच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति, छुट्टी, पदोन्नति व पदावनति के नियम उच्च न्यायालय ही बनाता है। उच्च न्यायालय ही अपने अधीनस्थ सभी न्यायालयों के लिए नियम बनाता और कार्यप्रणाली का निर्धारण करता है। इससे न्यायपालिका, कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रहती है।

7. **उच्च न्यायालयों की संविधान–रक्षा की शक्ति**–सर्वोच्च न्यायालय के समान उच्च न्यायालयों का भी यह अधिकार और दायित्व है कि वह संविधान की रक्षा तथा व्याख्या करें। अतः संविधान के विरुद्ध होने पर वह संसद या राज्य विधानमण्डल के किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है।

इस प्रकार भारतीय संविधान के अब तक के कार्य के आधार पर यहा कहा जा सकता है कि उच्च न्यायालय समान्यतया अपने कर्त्तव्यपालन में स्वतन्त्र और निष्पक्ष रहे हैं।

उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की स्थानान्तरण की व्यवस्था और विवाद

उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता पर विपरीत प्रभाव डालने वाली एक स्थिति पिछले लगभग 25 वर्षों से चली आ रही है और यह स्थिति है–केन्द्र सरकार द्वारा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण की शक्ति। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से किसी भी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित कर सकता है।

राष्ट्रपति की इस शक्ति का प्रयोग केन्द्र सरकार द्वारा ही किया जाता है। अतः उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर इस बात का दबाव रहता है कि केन्द्र सरकार अप्रसन्न होनेपर उनके स्थानान्तरण का कदम उठा सकती है। उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि केन्द्र सरकार अपनी इस शक्ति का प्रयोग निश्चित नियमों के आधार पर और नियन्त्रित रूप में ही करे। अतः सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 6 अक्टूबर, 93 के ऐतिहासिक फैसले में व्यवस्था दी है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के मामले में भारत के प्रधान न्यायाधीश की सलाह ही निर्णायक होगी। भारत सरकार ने इस निर्णय से सहमति व्यक्त की। कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि इस सम्बन्ध में भारत के मुख्य न्यायाधीश की शक्ति को भी नियन्त्रित किया जाना चाहिए। अतः

टिप्पणी

अक्टूबर, 1998 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित निर्णय में व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति व स्थानान्तरण के सम्बन्ध में भारत के मुख्य न्यायाधीश स्वयं सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह की सर्वसम्मत राय के आधार पर ही इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को परामर्श देंगे। 1998 में की गई यह व्यवस्था निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

उच्च न्यायालय के अधीन जिला स्तर पर या उत्तर प्रदेश जैसी न्याय व्यवस्था

भारतीय संविधान के द्वारा एकीकृत न्याय व्यवस्था की स्थापना की गयी है। भारतीय संघ की समस्त न्याय–व्यवस्था के सर्वोच्च शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है, उससे नीचे के स्तर पर राज्यों के उच्च न्यायालय हैं। उच्च न्यायालय के अधीनस्थ जिला स्तर के न्यायालय हैं। भारत के प्रत्येक जिले में तीन प्रकार के अधीनस्थ न्यायालय होते हैं इसे निम्न तालिका द्वारा समझाया गया है–

तालिका *उच्च न्यायालय के अधीनस्थ जिला स्तर के न्यायालय*

	दीवानी न्यायालय	फौजदारी न्यायालय	राजस्व या माल न्यायालय
1.	उच्च न्यायालय	उच्च न्यायालय	उच्च न्यायालय
2.	जिला जज का न्यायालय	सेशन जज का न्यायालय	राजस्व मण्डल (रेवन्यू बोर्ड)
3.	खफीफा/सिविल जज (सी.डि.) का न्यायालय	मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी	कमिश्नर का न्यायालय
			जिलाधीश का न्यायालय
4.	सिविल जज (जू.डि.) का न्यायालय	विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वितीय श्रेणी	एस.डी.एम. का न्यायालय
5.	न्याय पंचायत	न्याय पंचायत	तहसीलदार या नायब तहसीलदार का न्यायालय

जिला स्तरीय न्यायालय

उच्च न्यायालय की देखरेख में प्रदेश के जनपदों में जिला तथा सत्र न्यायाधीश, अतिरिक्त जिला तथा सत्र न्यायाधीश, लघुवाद न्यायाधीश, सिविल जज सीनियर डिवीजन (जिसे पहले सिविल जज कहा जाता था) और सिविल जज जूनियर डिवीजन (जिसे पहले मुंसिफ कहा जाता था) के न्यायालय स्थापित हैं। इसके अतिरिक्त दण्ड न्यायालयों में महानगर कानपुर में मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट, अतिरिक्त मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट व अन्य जनपदों में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, अतिरिक्त मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेटों व न्यायिक मजिस्ट्रेटों के न्यायालय भी स्थापित हैं।

टिप्पणी

जिले के दीवानी न्यायालय

1. **जिला जज या जिला न्यायाधीश**–जिला न्यायाधीश को किसी भी मूल्य तक के विवादों की प्रारम्भिक सुनवाई का अधिकार प्राप्त है। 6 मई, 1995 से जिला जज के न्यायालयों को पांच लाख रुपए मूल्य तक के विवादों की अपीलें तथा एक लाख रुपए तक के रिवीजन की सुनवाई करने का अधिकार है। जिला न्यायाधीश इन विवादों पर खुद निर्णय देंगे अथवा उन्हें अपने अधीनस्थ अतिरिक्त जिला न्यायाधीश को सौंप देंगे।

2. **सिविल जज या सत्र न्यायाधीश (सीनियर डिवीजन)**–जिला जज के न्यायालय के नीचे सिविल जज (सीनियर डिवीजन) का न्यायालय होता है। सिविल जज (सीनियर डिवीजन) को भी किसी भी मूल्य तक के विवादों की प्रारम्भिक सुनवाई का अधिकार प्राप्त है। इसे एक लाख रु. तक के दिवानी विवादों की अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है, जो उच्च न्यायालय के विवेकानुसार अधिकतम पांच लाख रुपये तक किया जा सकता है। सिविल जज (जूनियर डिवीजन) के निर्णय की अपीलें सिविल जज (सीनियर डिवीजन) के न्यायालय में की जाती हैं।

3. **सिविल जज (जूनियर डिवीजन)**–पहले जिसे मुंसिफ न्यायालय के नाम से जाना जाता था, अब उसे सिविल जज (जूनियर डिवीजन) का नाम दिया गया है। इसे एक लाख रूपए मूल्य तक के दीवानी विवादों की सुनवाई का अधिकार प्राप्त है, जिसे उच्च न्यायालय द्वारा अपने विवेकानुसार पांच लाख रूपयतक किया जा सकता है। यह न्यायालय की अपीलें नहीं सुन सकता।

4. **लघु वाद न्यायालय**–ये न्यायालय भी दीवानी विवादों का निस्तारण करते हैं। उत्तर प्रदेश में कुछ बड़े जिलों मुें लघुवाद न्यायालय पांच हजार रुपए तक के उन लघुवादों की सुनवाई करते हैं, जिनमें धन वसूली की मांग की गई हो।

   इसके अतिरिक्त लघुवाद न्यायालय किराया वसूली व मकानों–दुकानों से किराएदार की बेदखली के 25 हजार रुपए मूल्य तक के वादों की सुनवाई कर सकते हैं। इससे अधिक मूल्य के किराया बेदखली के विवादों की सुनवाई जिला न्यायाधीश लघुवाद के रूप में करते हैं। लघुवाद न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती, केवल पुनर्विलोकन (रिवीजन) प्रस्तुत किया जा सकता है। जिला जज के आदेशों के विरुद्ध रिवीजन उच्च न्यायालय में किया जाता है।

5. **न्याय पंचायत**–ग्रामीण क्षेत्रों में सबसे निचले स्तर पर न्याय पंचायतें होती हैं। इन्हें 500 रूपए तक के मुकदमे सुनने का अधिकार होता है। इनके निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती। इस अदालत की एक विशेषता यह है कि कोई भी वकील इसमें मुकदमे की पैरवी नहीं कर सकता। यह व्यवस्था इस दृष्टि से की गई है कि भोलीभाली ग्रामीण जनता को निष्पक्ष और सस्ता न्याय मिल सके।

टिप्पणी

जिले के दीवानी न्यायालय

जिले के दीवानी न्यायालयों की व्यवस्था तथा उनके अधिकार क्षेत्रों का वर्णन निम्न तालिका में किया गया है–

तालिका *जिले के दीवानी न्यायालय एवं उनके अधिकार*

न्यायालय	अधिकार क्षेत्र
1. जिला न्यायाधीश	सिविल जज (जूनियर डिवीजन) व सिविल जज (सीनियर डिवीजन) के निर्णयों के विरुद्ध पांच लाख रुपये मूल्य तक के दीवानी विवादों की अपीलें व एक लाख रुपये तक रिवीजन इस न्यायालय में दायर होते हैं।
2. सिविल जज (सीनियर डिवीजन)	किसी भी मूल्य के वाद की प्रारम्भिक सुनवाई का अधिकार। इसे एक लाख रुपये तक के दीवानी विवादों की अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है, जो उच्च न्यायालय के विवेकानुसार अधिकतम पांच लाख रुपये किया जा सकता है।
3. सिविल जज (जूनियर डिवीजन)	इसे एक लाख रुपए मूल्य तक के दीवानी विवादों की सुनवाई का अधिकार प्राप्त है, जिसे उच्च न्यायालय द्वारा अपने विवेकानुसार पांच लाख रुपये तक किया जा सकता है। यह न्यायालय अपीलें नहीं सुन सकता।
4. लघुवाद न्यायालय (खलीफा न्यायालय)	पांच हजार रूपए तक के धन की वसूली का विवाद। 25 हजार रुपये तक के मकानों व दुकानों के बेदखली विवाद।
5. न्याय पंचायत	सामान्यतया 500 रुपये तक के मुकदमे सुनती है।

जिले के फौजदारी न्यायालय

जिले की फौजदारी न्यायालयों की व्यवस्था तथा उनके अधिकार क्षेत्रों का विवरण निम्न प्रकार से हैं–

(1) **सत्र न्यायालय**–सेशन जज का न्यायालय जिले में फौजदारी का सबसे बड़ा न्यायालय होता है। अधिकांशतया एक ही व्यक्ति 'जिला जज' और 'सेशन जज' दोनों रूपों में कार्य करता है। जब वह दीवानी मुकदमों की सुनवाई करता है तो 'जिला जज' कहलाता है और जब वह फौजदारी मुकदमों की सुनवाई करता है तो 'सेशन जज' कहलाता है।

सेशन जज को प्रारम्भिक और अपीलीय दोनों प्रकार के फौजदारी मुकदमे सुनने का अधिकार है। सेशन जज को मृत्युदण्ड तक देने का अधिकार है किन्तु इसकी पुष्टि उच्च न्यायालय से करानी होती है।

सत्र न्यायाधीश के अधीन निम्न प्रकार के न्यायालय होते हैं–

सेशन जज उन फौजदारी विवादों की अपीलें सुन सकते हैं जिनमें सात वर्ष तक कारावास या जुर्माना या दोनों का दण्ड दे सकता है।

टिप्पणी

मुख्य न्यायिक दण्डाधिकारी–यह शेषन जज के अधीन प्रथम श्रेणी का दण्डाधिकारी होता है। इसे मृत्युदण्ड अथवा आजन्म कारावास देने का अधिकार नहीं होता। यह 7 वर्ष तक का कारावास तथा 5,000 रुपये तक जुर्माना, अथवा दोनों ही दण्ड दे सकता है।

मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी (न्यायिक मजिस्ट्रेट)–यह मुख्य दण्डाधिकारी के अधीन प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है। यह 3 वर्ष तक का कारावास तथा 5,000 रुपये तक जुर्माना अथवा दोनों ही दण्ड दे सकता है।

न्याय पंचायत–न्याय पंचायतें भी फौजदारी विवादों की सुनवाई करती हैं। ये 250 रुपये तक जुर्माना कर सकती हैं, किन्तु कारावास का दण्ड नहीं दे सकती हैं। उनके निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं होती है।

फौजदारी क्षेत्र में विभिन्न न्यायालयों का अधिकार क्षेत्र निम्न तालिका से स्पष्ट है–

तालिका *फौजदारी न्यायालयों की व्यवस्था तथा उनके अधिकार क्षेत्र*

न्यायालय	अधिकार
1. सेशन जज	कानून द्वारा निर्धारित कोई भी दण्ड देने का अधिकार।
2. अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश	मृत्युदण्ड देने का अधिकार भी इसमें सम्मिलित है। दस वर्ष से अधिक का कारावास, आजन्म कारावास या मृत्युदण्ड के अलावा कानून द्वारा निर्धारित कोई भी दण्ड दे सकते हैं।
3. मुख्य न्यायिक दण्डाधिकारी	सात वर्ष तक कारावास तथा 5,000 रुपये तक जुर्माना अथवा दोनों ही कर सकते हैं।
4. मजिस्ट्रेट (प्रथम श्रेणी)	तीन वर्ष तक कारावास तथा पांच हजार रुपये तक जुर्माना अथवा दोनों ही कर सकते हैं।
5. न्याय पंचायत	250 रुपये तक जुर्माना कर सकते हैं, लेकिन इन्हें कारावास–दण्ड देने का अधिकार नहीं है।

राजस्व न्यायालय

राजस्व न्यायालय लगान या राज्य से सम्बम्धित और सिंचाई तथा बन्दोबस्त के विवादों की सुनवाई करते हैं। इनकी श्रृंखला निम्न प्रकार है–

राजस्व मण्डल–प्रत्येक राज्य में एक राजस्व मण्डल होता है जो राजस्व सम्बन्धी विवादों का निर्णय करने के लिए सबसे बड़ी अदालत है। इसके निर्णय की अपील राज्य के उच्च न्यायालय में की जा सकती है।

टिप्पणी

कमिश्नर या आयुक्त–राजस्व या मालगुजारी सम्बन्धी कार्य के लिए राज्य को कोई कमिश्नरियों में विभिक्त कर दिया जाता है और प्रत्येक कमिश्नरी का प्रधान कमिश्नर या आयुक्त कहलाता है। आयुक्त के द्वारा जिलाधीश के फैसले की अपीलें सुनी जाती हैं और आयुक्त की अपीलें राजस्व परिषद में होती हैं।

जिलाधीश–मालगुजारी की वसूली के लिए हर जिले में एक जिलाधीश होता है जो तहसीलदार तथा सब–डिवीजनल आफीसर के निर्णयों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई करता है।

सब–डिवीजनल ऑफीसर– जिला कई सब–डिवीजनों में बंटा होता है और प्रत्येक सब–डिवीजन के प्रधान को सब–डिवीजनल ऑफीसर कहते हैं। ये जिलाधीश के अधीन रहते हुए जिले में राजस्व तथा शान्ति व्यवस्था सम्बन्धी कार्य करते हैं।

तहसीलदार–सब डिवीजन तहसीलों में बंटा होता है और प्रत्येक तहसील में एक तहसीलदार होता है। इसका प्रमुख कार्य मालगुजारी की वसूली तथा अपनी तहसील में शान्ति बनाये रखना है। तहसीलदार की सहायता के लिए कई नायब तहसीलदार होते हैं। राजस्व से सम्बन्धित मामलों में राजस्व मण्डल से लेकर तहसीलदार तक का कार्यक्षेत्र निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है–

तालिका *राजस्व न्यायालयों की व्यवस्था तथा उनके अधिकार क्षेत्र*

न्यायालय	अधिकार क्षेत्र
1. राजस्व मण्डल	आयुक्तों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनना।
2. आयुक्त (कमिश्नर)	जिलाधीशों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनना।
3. जिलाधीश	तहसीलदार के फैसले पर पुनर्विचार करना।
4. सब–डिवीजनल ऑफीसर	सब–डिवीजनल में राजस्व के मामलों की सुनवाई करना।
5. तहसीलदार या नायब तहसीलदार	मालगुजारी वसूल करना।

अन्य न्यायालय– उपर्युक्त न्यायालयों के अतिरिक्त कुछ अन्य न्यायालय भी कार्यरत हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

लोक अदालतें

वर्तमान समय में स्थिति यह है कि इन न्यायालयों (दीवानी, फौजदारी और राजस्व न्यायालयों) से न्याय पाने में बहुत अधिक समय लगता है, और यह ठीक ही कहा गया है कि विलम्ब से न्याय मिलना न्याय न मिलना ही है। आज भारत के सभी न्यायालयों में कुल मिलाकर ढाई करोड़ मुकदमे विचाराधीन हैं। न्याय पाने की प्रक्रिया में अधिक धन भी व्यय होता है, और अन्य अनेक परेशानियों से होकर गुजरना पड़ता है। ऐसी स्थिति में न्याय–प्रक्रिया को और सरल बनाने के उद्देश्य से 26 नवम्बर, 1980 को एक

टिप्पणी

प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार ने मुख्य न्यायाधीश श्री पी. एन. भगवती की अध्यक्षता में 'कानूनी सहायता योजना कार्यान्वयन समिति' की नियुक्ति की। इस समिति द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम के अन्तर्गत देश के सभी राज्यों के विभिन्न भागों में 'शिविर' के रूप मे 'लोक अदालतें' लगायी जा रही हैं। इन लोक अदालतों की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. इन अदालतों में मुकदमों का निबटारा आपसी समझोते के आधार पर किया जाता है, और समझौता 'कोर्ट फाइल' में दर्ज कर लिया जाता है।
2. इनमें वादी और प्रतिवादी वकील नहीं कर सकते।
3. इनमे वैधानिक, पारिवारिक व सामाजिक झगड़े, किराया–बेदखली, वाहनों का चालान तथा बीमा आदि के सामान्य मुकदमों पर दोनों पक्षों को समझाकर समझौता करा दिया जाता है।
4. इन अदालतों में रिटायर जज, राजपत्रित अधिकारी तथा समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति परामर्शदाता के रूप मे बैठते हैं।

लोक अदालतों की शक्तियों मे वृद्धि–सरकार ने 8 जनवरी, 2002 ई. को त्वरित न्याय (शीघ्र न्याय) की दिशा मे बड़ा कदम उठाते हुए फैसला किया है कि अब रेल तथा बैंकिंग सेवाओं को छोड़कर उपभोक्ता किसी भी जन सुविधा (संचार, सफाई, पानी, बिजली, परिवहन जैसी जन सुविधाओं) से जुड़े मामले इन अदालतो में ले जा सकेंगे। इस हेतु 'विधि सेवा अधिकारी कानून 1987' में एक नया अध्याय 6 जोड़ने की मंजूरी दे दी गई है, ताकि इस फैसले को मूर्त रूप दिया जा सके।

देश मे लोक अदालतों के माध्यम से निस्तारण (निबटारा) कराये जाने वालों की संख्या की दृष्टि से उ.प्र. को पूरे देश में अब तक प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। राज्य–विधिक सेवा प्राधिकरण द्वारा 31 दिसम्बर, 2000 तक प्रदेश के विभिन्न जनपदों में लोक अदालतों का आयोजन करके कुल 39,87,925 मुकदमों का निस्तारण किया गया है।

पारिवारिक न्यायालय

कुटुम्ब न्यायालय अधिनियम, 1985 के अन्तर्गत प्रदेश के समस्त मण्डलीय मुख्यालयों में एक–एक पारिवारक न्यायालय की स्थापना की गयी है। इन न्यायालयों में विवाह सम्बन्धी, भरण–पोषण पति–पत्नी से सम्बन्धित विवाद तथा इनके बच्चों की संरक्षता आदि के मामले निस्तारित किए जाते हैं। पारिवारिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील केवल उच्च न्यायालय में किए जाने का प्रावधान है। इन अपीलों को उच्च न्यायालय के कम–से–कम दो न्यायाधीशों की खंडपीठ सुनवाई के लिए सक्षम है।

परिवार न्यायालय स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य हैं–(1) पारिवारिक विवादों (विवाह, तलाक, उत्तराधिकारी, भरण–पोषण और सम्पत्ति आदि से सम्बन्धित विवादों)

का शीघ्र और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण मे निबटारा करना ताकि पारिवारिक रिश्तों में भारी दरार न आये, (2) विधि न्यायालयों की उबाऊ, महंगी और कष्टकारी प्रक्रिया से बचा जा सके तथा (3) महिलाओं व बच्चों को उनके विधि–सम्मत अधिकारों से वंचित न किया जाये।

टिप्पणी

विशेष महिला अदालत

10 फरवरी को इलाहाबाद मे पहली विशेष महिला अदालत ने कार्य करना शुरू किया और इन अदालतों ने अब तक 3000 से भी सम्बन्धित मामलों का निबटारा किया है। ये अदालतें स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं के सहयोग से वैवाहिक झगड़ों से सम्बन्धित मामलों पर विचार कर उन्हें निबटाती हैं।

उपभोक्ता न्यायालय

उत्तर प्रदेश राज्य के कुछ नगरों और भारतीय संघ के अन्य कुछ राज्यों में 'उपभोक्ता न्यायालय' कार्यरत हैं। इन न्यायालयों का उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना है।

विशिष्ट न्यायालय

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के ऐसे मामलों, जिनकी विवेचना सतर्कता अधिष्ठान द्वारा की जाती है की सुनवाई मण्डल–स्तर पर किए जाने हेतु विभिन्न जिलों में अपर सत्र न्यायाधीश स्तर का एक–एक न्यायालय सृजित है। आर्थिक अपराधों के निस्तारण हेतु विभिन्न जिलों में एक–एक विशेष न्यायालय स्थापित किया गया है। उक्त मामलों के अतिरिक्त अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम, 1989 में की गयी व्यवस्था के अन्तर्गत जाति एवं जनजाति पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिये एवं पीड़ित व्यक्तियों को तुरन्त न्याय दिलवाने के उद्देश्य से राज्य सरकार द्वारा पूर्व में जिला एवं सत्र न्यायाधीशों पर्वतीय क्षेत्र तथा ऐसे जनपद जहां अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के न्यायालय कार्यरत नहीं थे, वहां सत्र न्यायालय तथा शेष जिलों के लिए दिवसीय अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के न्यायालय को विशेष रूप में नामित व प्राधिकृत किया गया है।

त्वरित न्यायालय–शीघ्र न्याय प्रदान करने की दिशा में विधि मन्त्रालय ने 2001 ई. हमें एक बड़ा कदम आगे बढ़ाने के लिए त्वरित न्यायालयों की स्थापना की गई है। इन अदालतों का काम आपराधिक मामलों को झटपट निबटारा करना है। सबसे पुराने लम्बित मामलों को इन अदालतों में भेजा जाता है। प्राथमिकता उन मामलों को दी जाती है, जिनमें अभियुक्त दो वर्ष से अधिक समय से जेल में है। मार्च, 2002 तक ऐसी 1,010 अदालतें गठित की जा चुकी हैं। अति शीघ्र न्याय प्रदान करना इन अदालतों का लक्ष्य है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

9. अमेरिका की टाइम पत्रिका ने दुनिया की सबसे सक्रिय न्यायपालिका किसे बताया है?

   (क) भारत की न्यायपालिका (ख) फ्रांस की न्यायपालिका

   (ग) ब्रिटेन की न्यायपालिका (घ) रूस की न्यायपालिका

10. किस सदी के प्रारंभिक वर्षों में 'न्यायिक सक्रियतावाद' भारतीय संविधान और राज्य–व्यवस्था का एक प्रमुख तत्व बन गया?

    (क) 19वीं सदी (ख) 20वीं सदी

    (ग) 21वीं सदी (घ) 22वीं सदी

11. उच्च न्यायालय के कौन–कौन से क्षेत्राधिकार होते हैं

    (क) प्रारंभिक और अपीलीय (ख) अंतिम और अपीलीय

    (ग) क्षेत्रीय और उपक्षेत्रीय (घ) पारदर्शी और द्वितीयक

3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (ख)
4. (घ)
5. (क)
6. (ग)
7. (ख)
8. (ग)
9. (क)
10. (ग)
11. (क)

3.8 सारांश

भारतीय संविधान के अंतर्गत संसदात्मक शासन पद्धति की स्थापना की गई है जिसमें दो प्रकार की कार्यपालिकाएं विद्यमान होती हैं। इनमें से एक नाम मात्र की कार्यपालिका के रूप में कार्य करती है और संविधान के अंतर्गत उसे ही कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त होती हैं।

टिप्पणी

संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति पद के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई है। निर्वाचन के लिए एक निर्वाचक मंडल का गठन किया जाता है। इस निर्वाचन मंडल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित किए जाते हैं।

प्रधानमंत्री से मंत्रिमंडल के विभिन्न निर्णयों तथा कार्यों के संबंध में सूचना प्राप्त करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। भारत की विदेश नीति के क्षेत्र में अन्य देशों में भारतीय राजदूतों की नियुक्ति तथा अन्य देशों के राजदूतों को भारत में मान्यता राष्ट्रपति द्वारा ही दी जाती है।

संविधान के अंतर्गत प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। सामान्यतः इसमें राष्ट्रपति को अपने विवेक का उपयोग नहीं करना पड़ता क्योंकि लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही वह प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करता है। परंतु यदि लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो तब राष्ट्रपति की इस शक्ति का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

संवैधानिक दृष्टि से संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है परंतु व्यवहार में संसदात्मक पद्धति की परंपराओं के अनुसार राष्ट्रपति की इन समस्त शक्तियों का उपयोग प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद की राय से किया जाता है। मौलिक रूप से संविधान में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति को राय तथा सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी।

संविधान के अनुसार मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत अपने पदों पर कार्य कर सकते हैं। परंतु व्यवहार में मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है और लोकसभा का विश्वास प्राप्त होने तक अपने पद पर कार्य कर सकती है। विभिन्न मंत्री प्रधानमंत्री के अंतर्गत कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री से मतभेद होने की स्थिति में उन्हें अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

भारतीय संसद का यह पहला कार्य है कि वह मंत्रिमण्डल को गठित करवाये तथा उस पर नियंत्रण भी रखे। यद्यपि मंत्रिमण्डल संसद के निम्न सदन के लिए उत्तरदायी होता है लेकिन मंत्रिमण्डल की सदस्यता निम्न सदन तक ही सीमित नहीं होती है, उच्च सदन के सदस्य भी मंत्रिमण्डल के सदस्य हो सकते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवानिवृति की आयु 65 वर्ष है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की भांति भारतीय में आजीवन कार्यकाल की व्यवस्था नहीं की गयी है। फिर भी वर्तमान व्यवस्था व्यवहार में वैसी ही है।

संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया है कि वह स्वयं अपना व्यवस्थापन रखे और उन पर पूरा नियन्त्रण रखे। इस सम्बन्ध में संविधान–निर्माताओं का उचित रूप में यह मत था कि इस प्रकार की व्यवस्था न हो तो न्यायालय की स्वाधीनता केवल भ्रम ही सिद्ध होगी।

पुनर्विलोकन का तात्पर्य सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान तथा उसकी सर्वोच्चता की रक्षा करने की व्यवस्था से है। यदि संघीय या राज्य विधानमण्डलों द्वारा संविधान का अतिक्रमण किया जाता है, अपनी निश्चित सीमाओं के बाहर कानूनों का निर्माण किया जाता है या मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कानूनों का निर्माण किया जाता है, तो

संघीय संसद या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि अथवा संघीय या राज्य प्रशासन द्वारा किये गये ऐसे प्रत्येक कार्य को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकता है।

टिप्पणी

प्रारम्भ में 'न्यायिक सक्रियता' को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया। सर्वोच्च न्यायालय से उच्च न्यायालयों को प्रेरणा प्राप्त हुई और उनके द्वारा 'न्यायिक सक्रियता' को अपनाया लिया गया। इसके बाद कुछ विशेष न्यायालयों और जिला न्यायालयों के द्वारा भी भारी उत्साह भाव से न्यायिक सक्रियता को अपनाने की सफल–असफल चेष्टाएं की गईं। न्यायिक सक्रियता की इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए ही अमेरिका की 'Time' पत्रिका ने भारत की न्यायपालिका को 'दुनिया की सबसे सक्रिय न्यायपालिका' करार दिया है।

न्यायिक सक्रियता ने भारतीय राज–व्यवस्था में उपयोगी भूमिका अदा की है, लेकिन न्यायिक सक्रियता की सीमाएं हैं। वस्तुतः न केवल न्यायपालिका वरन् राज–व्यवस्था के सभी अंगों और पदाधिकारियों को अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करने के साथ–साथ सीमाओं को भी दृष्टि में रखना होगा। संविधान के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि कानून और न्याय व्यवस्था में मूलभूत सुधारों सहित समस्त व्यवस्था में मूल परिवर्तन किये जायें।

3.9 मुख्य शब्दावली

- **महाभियोग** : राष्ट्रपति पर संविधान के उल्लंघन का आरोप लगाकर उसे अपदस्थ करने की प्रक्रिया।
- **निर्वाचक मण्डल** : राष्ट्रपति के चुनाव में संसद के दोनों सदनों, राज्यों और संघीय प्रदेशों की विधानसभाओं के सदस्यों को मिलाकर बनाया गया समूह जो राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत देता है।
- **अप्रत्यक्ष निर्वाचन** : वह निर्वाचन जिसमें जनता सीधे–सीधे मत नहीं देती है, उसके चुने हुए प्रतिनिधि मतदान करते हैं
- **निलम्बन का निषेधाधिकार** : राष्ट्रपति साधारण विधेयक को पुनर्विचार करने के लिए संसद के पास वापस भेज सकता है, राष्ट्रपति की इस शक्ति को निलम्बन का निषेधाधिकार कहा जाता है।
- **अध्यादेश** : जब संसद के दोनों सदन सत्र में नहीं होते हैं तब राष्ट्रपति किसी गंभीर मुद्दे पर तुरन्त कानूनी कार्यवाही के लिए जो आदेश जारी करता है उसे अध्यादेश कहते हैं, अध्यादेश का वही बल होता है जो संसदीय विधि का होता है।
- **पदच्युत** : संवैधानिक उपबन्धों के आधार पर पद से हटाना।
- **मंत्रिमण्डल** : मंत्रिपरिषद के प्रथम स्तर के सदस्यों का समूह, इसे कैबिनेट भी कहते हैं।

टिप्पणी

- **न्यायिक पुनर्विलोकन** : कानूनों की वैधानिकता के परीक्षण की शक्ति।
- **न्यायिक सक्रियता** : कानूनी व्याख्याओं से आगे बढ़कर जनहित के लिए सक्रिय रहना।
- **दीवानी मुकदमे** : जमीन–जायदाद आदि से सम्बन्धित वादों को दीवानी मुकदमे कहा जाता है।
- **फौजदारी** : हत्या, बलात्कार, लूट, डकैती से संबधित वादों को फौजदारी कहा जाता है।
- **लोक अदालतें** : न्याय प्राप्ति को सुगम बनाने के लिए शिविर के रूप में अदालत लगायी जाती हैं
- **पारिवारिक अदालत** : पति–पत्नि, विवाह, भरण–पोषण, बच्चों आदि से सम्बन्धित मामलों की सुनवायी पारिवारिक अदालतों में होती है।
- **महिला अदालत** : महिलाओं से जुड़े मामलों की सुनवायी महिला अदालत में होती है।
- **उपभोक्ता अदालत** : उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए उपभोक्ता अदालतें गठित की गई हैं।
- **त्वरित अदालत** : शीघ्र न्याय प्रदान करने के लिए त्वरित अदालतों की स्थापना की गई है।

3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रपति को किन–किन परिस्थितियों में आपातकालीन शक्तियां प्राप्त हैं?
2. राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. प्रधानमंत्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है?
4. मंत्रिपरिषद का गठन किस प्रकार होता है? समझाइए।
5. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में किन योग्यताओं का होना आवश्यक है?
6. अपीलीय क्षेत्राधिकार से आप क्या समझते हैं?
7. लोक अदालत की कोई तीन विशेषताएं बताइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रपति की आपातकालीन स्थितियों की विवेचना कीजिए।
2. प्रधानमंत्री के कार्यों का विश्लेषण कीजिए।
3. मंत्रिपरिषद की शक्तियों तथा कार्यों का उल्लेख कीजिए।
4. भारत में संसदीय प्रणाली अपनाए जाने वाले कारणों का विश्लेषण कीजिए।

टिप्पणी

5. भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियों का उल्लेख कीजिए।
6. सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व पर प्रकाश डालिए।
7. न्यायिक सक्रियता से आप क्या समझते हैं? विस्तार से समझाइए।

3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जी. ऑस्टीन, *वर्किंग ऑफ ए डेमोक्रेटिक कान्स्टीट्यूशन : द इंडियन एक्सपीरियंस, दिल्ली,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 2000.
2. डी.डी. बसु, *एन इंटरोडक्शन टू द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया,* नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल, 1994.
3. डी.डी बसु एंड बी पारेख (एजूकेशन) *क्राइसिस एंड चेंज इन कन्टेमप्ररेरी इंडिया,* नई दिल्ली, सागा, 1994.
4. सी.पी. भाम्बरी, *द इंडियन स्टेट : फिस्टी इयर्स,* नई दिल्ली, शिप्रा 1997.
5. पी. ब्रास, *पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिन्स इंडिपेंडेंस, हैदराबाद,* ओरियंट लौंगमैन, 1990.
6. एस. कोर्ब्रिज एंड जे. हैरिस, *रिइंवेंटिंग इंडिया : लीबरेलजाइशन, हिंदू नेशनल्जिम एंड पापुलर डेमोक्रेसी,* दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2001.
7. एन.जी. जायल (एजुकेशन) *डेमोक्रेसी इन इंडिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2011.
8. एस. कौशी (एजुकेशन) इंडियन गवर्मेंट एंड पॉलिटिक्स दिल्ली यूनिवर्सिटी, डायरेक्टरेट ऑफ इंप्लिमेंटेशन, 1990.
9. ए. कोहली, *डेमोक्रेसी एंड डिस्कटेंट : इंडियाज ग्रोइंग क्राइसिस ऑफ गोवर्नएबिलिटी कैम्ब्रिज,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस 1991.

इकाई 4 दलीय प्रणाली, राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दल, दबाव समूह एवं जाति, धर्म तथा भाषा का प्रभाव

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों की प्रकृति
4.3 दबाव समूह
4.4 जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाषा का प्रभाव
  4.4.1 जाति
  4.4.2 धर्म
  4.4.3 क्षेत्रवाद
  4.4.4 भाषा
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

भारत एक प्रजातान्त्रिक देश है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में जनता द्वारा जनता के कल्याण के लिए एवं जनता द्वारा शासन किया जाता है। प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली में सभी नागरिकों को यह अधिकार होता है कि उनकी आवाज को सुना जाए चाहे वे किसी भी धर्म, जाति, लिंग या क्षेत्र के हों। भारत में संघीय शासन प्रणाली अपनाई गई है। संघीय शासन प्रणाली में नीतियां एवं कार्यक्रम राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं जिसके कारण क्षेत्रीय समस्याएं या तो उपेक्षित हो जाती हैं या उन पर कम ध्यान दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में उन क्षेत्रीय समस्याओं या मुद्दों को आवाज देने और उन पर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करने के लिए क्षेत्रीय दलों का उदय होता है। प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली में क्षेत्रीय दलों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है क्योंकि ये न केवल क्षेत्रीय समस्याएं या मुद्दे जो उपेक्षित हैं की तरफ देश का ध्यान आकर्षित करते हैं बल्कि उनके निवारण के लिए प्रयास भी करते हैं। भारत में बहु–दलीय व्यवस्था है जिसमें छोटे क्षेत्रीय दल अधिक प्रबल हैं। राष्ट्रीय दल वे हैं जो चार या अधिक राज्यों में मान्यता प्राप्त हैं। उन्हें यह अधिकार भारत के चुनाव आयोग द्वारा दिया जाता है, जो विभिन्न राज्यों में समय–समय पर चुनाव परिणामों की समीक्षा करता है।

भारत में क्षेत्रीय दलों का इतिहास काफी पुराना है। हमारे देश में अनेक क्षेत्रीय दलों का उदय विशेष परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ है। भारत एक बहुभाषी,

बहुजातीय, बहुक्षेत्रीय और विभिन्न धर्मों का देश है। भारत जैसे विशाल एवं विभिन्नताओं से भरे देश में क्षेत्रीय दलों के उदय के अनेक कारण हैं। पहला प्रमुख कारण जातीय, सांस्कृतिक एव भाषायी विभिन्नताएं हैं। विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की अपनी समस्याएं होती हैं जिन पर राष्ट्रीय दलों या केन्द्रीय नेताओं का ध्यान नहीं जाता परिणामस्वरूप क्षेत्रीय दलों का उदय होता है। दूसरा केन्द्र अपनी शक्तियों का प्रयोग मनमाने ढंग से करता है। केन्द्र की शक्तियों के केन्द्रीकरण की इसी प्रवृत्ति के कारण अनेक क्षेत्रीय दलों का जन्म हुआ है। तीसरा, उत्तरी भारत की प्रधानता को लेकर आशंकाएं भी क्षेत्रीय दलों के उदय का कारण रही है। क्षेत्रीय दलों के उदय का चौथा प्रमुख कारण कांग्रेस दल का संगठनात्मक दोष भी है। केन्द्र में कांग्रेस की स्थिति तो मजबूत थी परन्तु राज्यों में कांग्रेस संगठन बिखरता जा रहा था। परिणामस्वरूप कांग्रेस में संगठन संबंधी फूट और कमजोरियां आ गईं और राज्य स्तर के अनेक नेताओं ने क्षेत्रीय दलों के गठन में प्रमुख भूमिका निभाई। पांचवां, क्षेत्रीय दलों उदय का कारण जातीय असंतोष भी रहा है। अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए सामाजिक न्याय की मांग हेतु भी क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक गणराज्य है इस नाते इस देश में प्रत्येक व्यक्ति, जाति, वर्ग और समाज की आवाज सत्ता के केन्द्र तक पहुंचे इसकी व्यवस्था की गई है। पिछले कुछ दशकों से हो रहे चुनावों के परिणामों पर गौर करें तो यह समझ आता है कि वर्तमान में ये क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय दलों के लिए बड़ी चुनौती बनते जा रहे हैं। क्षेत्रीय दलों के कारण इन राष्ट्रीय दलों को कई राज्यों में इनका सहारा लेना पड़ता है। वर्तमान राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण हो गई है।

इस इकाई में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल, दबाव समूह तथा जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाषा के प्रमुख मुद्दों की विवेचना की गई है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दलों की प्रकृति को जान पाएंगे;
- विभिन्न राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों की स्थिति का आकलन कर पाएंगे;
- दबाव समूह की भूमिका का विश्लेषण कर पाएंगे;
- जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाषा के प्रभावों का आकलन कर पाएंगे।

4.2 राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों की प्रकृति

सामान्यतः भारतीय दलीय व्यवस्था के विषय में यह कहा जाता है कि भारत में राजनीतिक दल हैं परंतु कोई दलीय व्यवस्था नहीं है। इस कथन का आधार (और कुछ सीमा तक अमेरिका की) ब्रिटेन की दो दलीय प्रणाली है, जहां दलों की सुस्पष्ट विचारधारा और नीतियां एवं कार्यक्रम हैं भारत में स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज तक राजनीतिक दलों के संदर्भ में कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।

प्रत्येक देश में राजनीतिक दलों का विकास एक विशिष्ट परिस्थितियों में होता है। भारत में राजनीतिक दलों का विकास स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हुआ इसमें सबसे विशिष्ट राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक छत्रनुमा ऐसा दल था, जिसमें सभी क्षेत्रों, समुदायों, वर्गों, जातियों, धर्मों विचारधाराओं आदि को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। भारत के लगभग सभी दलों का उद्‌भव भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से हुआ। यद्यपि हिंदू महासभा, जनसंघ, साम्यवादी दल, मुस्लिम लीग आदि का पृथक अस्तित्व भी था। परंतु प्रभाव एवं चुनाव में सीटों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से अन्य दलों का अस्तित्व लगभग नगण्य था। संभवतः इसी कारण भारत में एक स्वस्थ विपक्षी दल का विकास नहीं हो सका।

स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक दलों की स्थिति

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में चार बड़े दल थे– कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, हिंदू महासभा तथा मुस्लिम लीग। जहां तक समाजवादी दल का संबंध है, वह कांग्रेस में रहकर ही अपना कार्य कर रहा था। परंतु 1948 में एक अलग दल की हैसियत से कार्य करने लगा। बाद में समाजवादी दल में विघटन की कुछ ऐसी प्रक्रिया चली कि समय–समय पर वह अनेक रूपों में प्रकट हुआ जैसे; प्रजा समाजवादी दल, संयुक्त समाजवादी दल तथा समाजवादी दल और फिर वह लुप्त हो गया। 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी भी दो दलों में बंट गयी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में कांग्रेस में दरार आई जिसके कारण वह दो दलों में विभक्त हो गई– भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा संगठन कांग्रेस। इन दलों के अतिरिक्त तीन और राजनीतिक दलों का उल्लेख किया जाता है– 1952 में स्थापित भारतीय जनसंघ 1959 में स्थापित स्वतंत्र पार्टी तथा अगस्त, 1974 में स्थापित भारतीय लोकदल जिसका निर्माण कई पार्टियों के मिल जाने से हुआ, जैसे भारतीय क्रांति दल, स्वतंत्र पार्टी व अन्य छोटी पार्टियां ।

26 जून 1975 को देश में आपात स्थिति की घोषणा की गई। आपात स्थिति के दौरान कुछ राजनीतिक दलों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही की गई। मार्च, 1977 में छठी लोक सभा के लिए चुनाव हुए। चुनावों में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रतिपक्ष के बड़े–बड़े नेताओं ने मिलकर जनता पार्टी का गठन किया। चुनावों में केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनी।

1979 में जनता पार्टी के विघटन का सिलसिला शुरू हुआ और 1980 तक यह पार्टी तीन पार्टियों में बंट गई थी– जनता पार्टी, लोकदल और भारतीय जनता पार्टी। 1988 में जनता दल के निर्माण की घोषणा की गई। जनता पार्टी और लोकदल के अधिकांश सदस्य जनता दल में शामिल हो गए। 1989 में संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी परंतु 1991 में फिर आम चुनाव हुए और इसमें पुनः कांग्रेस की सरकार बनी। 1996 के 11 वीं लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी एवं क्षेत्रीय दलों को व्यापक सफलता मिली। परंतु किसी दल को बहुमत न मिल पाने में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी। सन् 1998 में 12 वीं लोक सभा चुनाव में भाजपा एवं सहयोगी दलों की सरकार बनी। इस चुनाव में क्षेत्रीय दलों का महत्व बढ़ा। कांग्रेस की स्थिति कमजोर हुई और केंद्र में संविद सरकार की परम्परा आगे बढ़ी।

भारतीय दलीय व्यवस्था की प्रकृति

भारत में स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न हुई दलीय व्यवस्था को एक विशिष्ट नाम दिया गया– 'एक दल प्रभावी बहुदलीय व्यवस्था' जिसे कुछ विद्वानों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभावशाली होने के कारण 'कांग्रेस व्यवस्था' का नाम दिया। भारतीय दलीय व्यवस्था की इसी विशिष्ट प्रकृति की निम्न विशेषताएं हैं–

1. **एक दल प्रभावी बहुदलीय व्यवस्था** – भारतीय दलीय व्यवस्था न तो रूस व चीन की तरह की एक–दलीय प्रणाली है और न ब्रिटेन व अमेरिका की भांति द्वि–दलीय प्रणाली अपितु, बहुदलीय प्रणाली है। दूसरे शब्दों में, भारत में बहुत से राजनीतिक दल हैं। भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति से पूर्व ही भारत में अनेक राजनीतिक दल विकसित हो चुके थे। आज यदि भारतीय राजनीतिक दलों की सूची बनाई जाए तो संभवतः वह 50 से भी अधिक है। कांग्रेस, जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, कांग्रेस आई आदि दलों को, जो कि राष्ट्रीय दल हैं, छोड़कर अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कडगम जैसे अनेक स्थानीय दल भी राजनीति में क्रियाशील हैं। इस संदर्भ में एक विद्वान ने तो यहां तक कहा है कि, ''राजनीतिक दलों का निर्माण भारत का कुटीर उद्योग धंधा बन गया है।'' तथापि अनेक राजनीतिक दलों का निर्माण होने पर भी मार्च 1977 से दिसम्बर 1979 तक की अवधि को छोड़कर स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर 1967 तक कांग्रेस भारतीय राजनीति के क्षितिज पर इस प्रकार छाई रही कि कुछ लेखकों ने भारत को एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली का नाम देना प्रारंभ कर दिया था। परंतु सन् 1989 के चुनाव के बाद परिदृश्य बदल गया। सन् 1989, 1996, 1998, 1999 आदि के लोक सभा चुनावों में त्रिशुंक संसद के कारण केंद्र में संविद सरकार बनी।
2. **विदेशी सत्ता के विरुद्ध** – भारत में राजनीतिक दलों का विकास उस प्रकार नहीं हुआ, जिस प्रकार कि पश्चिमी देशों में राजनीतिक दलों का विकास कुलीन तथी सत्तारूढ़ वर्ग को अपदस्थ करने के लिए हुआ था। इसके विपरीत भारत में राजनैतिक दलों के विकास का मुख्य कारण व आधार विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष संचालित करना था। राष्ट्रीय कांग्रेस ने सर्वप्रथम विदेशी शासन के विरुद्ध आवाज उठाई और स्वराज्य की मांग की। अन्य राजनैतिक दल कांग्रेस के सहयोग से कार्य करते रहे। आइवर जैनिंग्स के अनुसार, ''सभी समुदाय अंततः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे राष्ट्रवादी दल में जाकर मिल जाते थे, जिनमें अति दक्षिण पंथी व अति वामपंथी सभी प्रकार के मतों का प्रतिनिधित्व होता था क्योंकि भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न पर सभी सहमत थे।'' रजनी कोठारी के अनुसार, ''ऐतिहासिक दृष्टि से कांग्रेस का विकास न केवल औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध आंदोलन के रूप में हुआ था वरन उसका विरोध परंपरागत समाज के सबसे अधिक निर्मम एवं क्रूर लक्षणों से भी था। उसके कार्यक्रम में जो स्थान राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राप्त था, वही स्थान सामाजिक पुररुत्थान को भी मिला हुआ था।''

3. **संविधान अतिरिक्त** – भारतीय दल प्रथा संविधान की देन नहीं है। विश्व के प्रायः सभी संविधान दल प्रथा के वर्णन से रिक्त हैं। केवल साम्यवादी संविधान ही दल प्रथा का वर्णन करते हैं और देश में साम्यवादी दल की स्थापना करते हैं। गैर साम्यवादी देशों के संविधानों में प्रायः दल प्रथा का कोई वर्णन नहीं किया जाता और इसका विकास देश की परिस्थितियों पर छोड़ दिया जाता है। भारतीय संविधान में राजनैतिक दलों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

4. **सांप्रदायिकता एवं जातिवाद पर आधारित** – भारतीय दल व्यवस्था का एक विशेष लक्षण उसका सांप्रदायिक स्वरूप भी है। कई दल अपने नाम से ही सांप्रदायिक दिखते हैं जैसे– हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग तथा अकालीदल। पर इस समय जो राष्ट्रीय दल कहलाते हैं, वे भी सांप्रदायिकता से एकदम अछूते नहीं है। चुनावों के समय पार्टी के उम्मीदवारों का चयन वे इसी आधार पर करते हैं कि अमुक चुनाव क्षेत्र में हिन्दुओं, मुसलमानों और अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का अनुपात क्या है? राष्ट्रीय दलों ने सांप्रदायिक शक्तियों से समझौते किए है और इस प्रकार सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया है। 1988 के एक अधिनियम के अनुसार हर राजनीतिक दल को पंजीकरण कराते समय यह घोषणा करनी पड़ेगी कि वह ''समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के सिद्धांतों में पूरा–पूरा विश्वास रखता है।'' बहुसांस्कृतिक समाज में धर्मनिरपेक्षता 'सामाजिक सद्भाव' की कुंजी है। इसी विचार से राजनीतिक दलों के संविधानों में धर्मनिरपेक्षता की घोषणा आवश्यक समझी गई पर इसमें कोई संदेह नहीं कि चुनावों के दौरान सांप्रदायिक भावनाओं को उभारा जाता है। जहां तक जातिवाद का प्रश्न है, उत्तर प्रदेश में बसपा (बहुजन समाज पार्टी) सपा (समाजवादी पार्टी), बिहार में राजद (राष्ट्रीय जनता दल) आदि जाति पर आधारित राजनीतिक दल है। उसके अलावा चुनाव में जाति के आधार पर टिकटों का वितरण किया जाता है।

5. **सुस्पष्ट विचारधारा का अभाव** – भारतीय दलों का संगठन सुस्पष्ट आधारों पर देखने को नहीं मिलता। जहां तक कांग्रेस का प्रश्न है, उसकी नीतियों में काफी लोच रही है। कांग्रेस ऐसी जमात है जिसका भारत के स्वाधीनता संग्राम से गहरा संबंध रहा है और इसीलिए उसमें शुरू से लेकर आज तक हर तरह की विचारधारा के व्यक्ति रहे हैं। स्वतंत्र पार्टी का जन्म 'समाजवाद' के विरोध में हुआ था। वह 'राष्ट्रीयकरण' और 'नियोजित आर्थिक विकास' के विरुद्ध थी, परंतु 1974 में स्वतंत्र पार्टी, संयुक्त समाजवादी पार्टी तथा अन्य कई पार्टियों ने मिलकर भारतीय लोक दल की स्थापना की। 1977 में जनता पार्टी की स्थापना उन दलों के मिलने से हुई जिनकी नीतियां परस्पर विरोधी थी। नीतियों व आपसी विरोध के कारण जनता पार्टी का शीघ्र ही बिखराव शुरू हो गया।

दिसंबर, 1989 में गठित राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार भारतीय जनता पार्टी और वामपंथी दलों के समर्थन पर टिकी थी। नवंबर, 1990 में उसका पतन हो गया। 1996 में एच.डी. देवगौड़ा के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी। सन् 1999 में 13वीं लोक सभा चुनाव में भाजपा के सहयोगी दलों ने अटल बिहारी वाजपेयी

के नेतृत्व मे, एन.डी.ए. की सरकार बनायी जबकि 2004 की 14वीं लोकसभा में कांग्रेस ने सहयोगी दलों के सहयोग से मनमोहन सिंह के नेतृत्व ने यू.पी.ए. की सरकर बनायी। इतनी अलग–अलग विचारधाराओं के लोग एक मंच पर इकट्ठे होकर सरकार चलाएंगे तो निश्चित रूप से मतभेद सामने आएंगे ही। वर्तमान समय में तो बिना विचारधारा और नीतियों के आधार पर गठबंधन हो रहे हैं।

6. **व्यक्ति पूजा का महत्व** – स्वस्थ नेतृत्व की परम्परा पर प्रजातंत्र आधारित है, परंतु नेतृत्व को व्यक्ति पूजा में परिवर्तित कर देना प्रजातंत्र के लिए घातक है। पर भारत के राजनैतिक दलों पर नेताओं का व्यक्तिगत प्रभाव आवश्यकता से अधिक रहा है। विभिन्न दलों में कार्यक्रम की अपेक्षा नेतृत्व को प्रमुखता दी जाती रही है। एक लंबे समय तक कांग्रेस नेहरू जी के व्यक्तित्व से प्रभावित रही और आज इन्दिरा जी का व्यक्तित्व कांग्रेस पर छाया हुआ है। नेता के व्यक्तित्व के आधार पर ही दल बन जाते हैं, कार्यक्रम के आधार पर नहीं। जैसे कांग्रेस (आई.) जनता (जे.पी.) लोक दल आदि। तमिलनाडु में अन्नादुराई के व्यक्तित्व ने द्रविड़ मुनेत्र कडगम को जन्म दिया। पश्चिमी बंगाल और केरल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ज्योतिबसु तथा नम्बूदिरीपाद के व्यक्तित्व की लोकप्रियता पर आधारित थी। भारतीय जनता पार्टी पर अटल बिहारी बाजपेयी का व्यक्तित्व हावी रहा है।

7. **विभिन्न दलों का उदय एक ही राजनैतिक केंद्र** – स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व कांग्रेस एक राजनीतिक दल ही नहीं बल्कि एक ऐसे आंदोलन के रूप में कार्य करती रही जिसमें सब मतों व वर्गों के सदस्यों को स्थान प्राप्त था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद धीरे–धीरे अनेक राजनैतिक समूह कांग्रेस की छत्र छाया से बाहर निकलते चले गए। जैसे सन् 1948 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। कुछ वर्षों पश्चात आचार्य कृपलानी ने दल छोड़कर किसान मजदूर प्रजा पार्टी बनाई जो बाद में समाजवादी दल में मिल गई और इसके परिणामस्वरूप प्रजा समाजवादी दल बना। संयुक्त समाजवादी दल के संस्थापक डॉ. राम मनोहर लोहिया भी पहले कांग्रेस के सदस्य थे। जनसंघ दल का निर्माण डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने किया, जो कांग्रेस से असंतुष्ट हो गए थे। क्षेत्रीय स्तर पर भी अधिकांश दल कांग्रेस से ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे उत्कल कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस, फारवर्ड ब्लाक, भारतीय क्रान्ति दल, विशाल हरियाणा पार्टी व तेलंगाना प्रजा समिति इत्यादि। कांग्रेस के अंदर भी गुटबाजी चलती रही। सी.एफ.डी. जिसके नेता श्री जगजीवन राम थे, कांग्रेस (ओ.), कांग्रेस (आई.) ये सभी कांग्रेस के बिखराव से ही निर्मित हुए।

8. **संगठित विरोधी दल का अभाव** – प्रजातंत्र की सफलता के लिए राजनैतिक दलों की संख्या कम से कम होनी चाहिए। बहुदलीय प्रणाली अनुत्तरदायी विरोधी दल को जन्म देती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अब तक भारत में सिवाय जनता पार्टी के शासनकाल के विरोधी दल के रूप में किसी एक संगठन दल का अभाव रहा है, इसके विभिन्न कारण हैं। प्रथम, कांग्रेस का ऐतिहासिक महत्व, दूसरा विरोधी दलों के अंदर पारस्परिक फूट, जैसा कि जनता पार्टी के शासनकाल में स्पष्ट हो गया है, जो दलों को दुर्बल बना देती है। तीसरा, विरोधी

दलों के पास निश्चित व स्पष्ट नीतियों का अभाव रहा है जो जनता को प्रभावित करने में असफल रहा है। संगठित विरोधी दल सदा उत्तरदायी दल के रूप में कार्य करता है और ध्वंसात्मक तरीकों का प्रयोग नहीं करता।

9. **अनुशासन का अभाव**– भारतीय राजनीतिक दलों में अनुशासन का अभाव है। विभिन्न राजनीतिक दलों का संगठन बहुत लचीला व ढीला है। के. सत्यानम के अनुसार, ''इन तथाकथित राजनीतिक दलों के मुख्य दोष ये है कि ये दल न तो लोकतांत्रिक है, न संघीय और न ही निष्ठावान और अनुशासन प्रिय'' विभिन्न दलों में स्वतंत्रता पर्याप्त रूप से पायी जाती है। ये दल विशुद्ध राजनीतिक अवसरवाद की भावना से कार्य करते हैं। सत्ता के लोभ में इन्हें दल बदलने में कोई संकोच नहीं होता, अतः दलों का विघटन व गुटबंदी दैनिक घटनाएं बन गई है। दलों के सदस्यता नियम अत्यंत लचीले, अतः सदस्य सरलता से दल परित्याग कर सकते हैं। इसी कारण दल बदल की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण एवं विशेषताएं

भारतीय राजनीतिक दलों को चार भागों में बांटा जा सकता हैः (1) राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल, (2) क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल, (3) स्थानीय, किंतु जातीय साम्प्रदायिक दल और (4) तदर्थ दल

(1) **राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल**–निर्वाचन आयोग ने राजनीतिक दलों के मान्यता संबंधी नियमों में परिवर्तन के लिए 1968 के चुनाव चिह्न (आरक्षण एवं आबंटन) आदेश में संशोधन करते हुए 1 दिसम्बर, 2000 को अधिसूचना जारी की है। नए नियमों के तहत राष्ट्रीय स्तर के दल का दर्जा प्राप्त करने के लिए संबंधित राजनीतिक दल की लोकसभा चुनाव अथवा विधानसभा चुनावों में किन्ही चार अथवा अधिक राज्यों में कुल डाले गए वैध मतों के 6 प्रतिशत मत प्राप्त करने के साथ ही किसी राज्य अथवा लोकसभा में उसे कम से कम 4 सीट जीतनी होंगी अथवा लोकसभा में उसे कम से कम 2 प्रतिशत सीटें (मौजूदा 543 सीटों में कम से कम 11 सीटें) जीतनी होंगी जो कम से कम तीन राज्यों से हासिल की गई हों। सितम्बर, 2008 को प्रमुख राष्ट्रीय दल निम्न हैं–

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
2. भारतीय जनता पार्टी
3. भारतीय साम्यवादी दल
4. भारतीय साम्यवादी (मार्क्सवादी) दल
5. राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी
6. बहुजन समाज पार्टी
7. राष्ट्रीय जनता दल

ऐसे दल दो प्रकार के हैं– बिना विचारधारा वाले दलों में कांग्रेस को लिया जा सकता है। विचारधारा से अभिप्राय है, किसी विशिष्ट समाजिक और आर्थिक दर्शन में विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना। कांग्रेस एक ऐसा दल है जिसमें अनेक विचारधारा और हितों के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं। इसे दल के बजाय एक सार्वजनिक मंच (प्लेटफार्म) कहा जा सकता है।

विचार धारा में विश्वास करने वाले राष्ट्रीय दलों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– दक्षिणपंथी और वामपंथी। दक्षिणपंथी दल जहां यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं वहीं वामपंथी आर्थिक और सामाजिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं। स्वतंत्रता दल, जनसंघ और भारतीय जनता पार्टी को दक्षिणपंथी दल कहा जाता था क्योंकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनके दृष्टिकोण ब्रिटिश अनुदारवादी दल से मिलते–जुलते हैं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, सी.पी.आई. (एम.एल.), फारवर्ड ब्लॉक, इण्डियन पीपुल फ्रंट आदि वामपंथी दल है। वामपंथी दल भी दो प्रकार के हैं– उदार और उग्र। उदार दलों में सभी समाजवादी दलों को लिया जा सकता है तथा उग्र दलों में सभी प्रकार के साम्यवादी दलों को स्थान दिया जा सकता है। उदारवादी दल, गांधीवाद और फेबियनवादी सिद्धांतों में विश्वास करते हैं जबकि साम्यवादी दल क्रांतिकारी साधनों में विश्वास करते हैं। समस्त प्रकार के अखिल भारतीय दलों का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष है उनकी सदस्यता सभी धर्मों और जातियों के लिए खुली है।

(2) **क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल**– ये वे दल हैं जिनका प्रभाव राज्य की सीमा तक ही है। राज्य दल का दर्जा प्राप्त करने के लिए संबंधित दल को लोकसभा अथवा विधानसभा चुनाव में डाले गए कुल वैध मतों का कम से कम 6 प्रतिशत मत प्राप्त करने के साथ ही राज्य विधानसभा में कम से कम दो सीटे जीतना आवश्यक है अथवा विधानसभा की कुल सदस्य संख्या की कम से कम तीन प्रतिशत सीटे अथवा तीन सीटे (इनमे से जो अधिक है) जीतना आवश्यक होगा। इनमें तेलुगूदेशम, शिवसेना, डी.एम.के. अन्ना डी.एम.के., असम गण परिषद, सिक्किम संग्राम परिषद समाजवादी पार्टी, तमिल मनीला कांग्रेस, तृणमूल कांग्रेस आदि। आंध्रप्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, असम, सिक्किम, आदि राज्यों में ये दल प्रभावशाली हैं।

(3) **स्थानीय किंतु जातीय साम्प्रदायिक दल**– कतिपय दल विशेष जाति या समुदाय तक ही सीमित है। केरल की मुस्लिम लीग, महाराष्ट्र की शिवसेना, पंजाब का अकाली तथा बिहार की झारखण्ड पार्टी ऐसे ही दल हैं।

(4) **तदर्थ दल**– भारत में ऐसे भी दल हैं जो बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन्हें छोटे–छोटे गुट कहा जा सकता है। ऐसे दलों में कांग्रेस (तिवारी), केरल कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, हरियाणा कांग्रेस, जनता पार्टी, रामराज्य, आदि को याद किया जा सकता है। ऐसे दल कब बन जाते हैं। ये विभिन्न दलों से निकले असंतुष्ट नेताओं द्वारा निर्मित गुट हैं।

क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की विशेषताएं

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय दलों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। इन दलों की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं हैं–

1. भारतीय राजनीति में राज्य दलों का वर्चस्व सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के बाद बढ़ने लगा।
2. भारत के क्षेत्रीय दल आमतौर से राज्य स्तरीय दल ही हैं।

3. इन राज्य स्तरीय दलों की प्रमुख मांग राज्य स्वायत्तता है।
4. इन राज्य स्तरीय दलों की प्रमुख प्रतिस्पर्द्धा कांग्रेस दल से रही है।
5. राज्य स्तरीय दलों की संकुचित अपील और आधार होते हैं, जैसे उपसंस्कृति, जातीयता और धर्म के तत्व आदि।
6. क्षेत्रवाद का उदय केंद्र के खिलाफ विद्रोह से होता है।

भारतीय दलीय व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियां

वर्तमान समय में भारतीय दलीय व्यवस्था में निम्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हो रही हैं–

1. एक दलीय प्रधान दलीय व्यवस्था का लगभग अवसान हो चुका है।
2. वर्तमान समय में भारतीय जनमानस किसी के दल को पूर्ण बहुमत देने की मनःस्थिति में नहीं है।
3. मुख्यतः आम चुनाव के बाद त्रिशंकु संसद की स्थिति बनी हुई है।
4. शक्ति के केंद्र का स्वरूप भी संविद है – जैसे
   (क) कांग्रेस एवं सहयोगी दल
   (ख) भाजपा एवं सहयोगी दल
   (ग) तीसरा मोर्चा गैर भाजपा एवं गैर कांग्रेसी दल।
5. भाजपा को छोड़कर सभी दलों में विभाजन की प्रक्रिया जारी है। बड़े दलों में अनुशासनहीनता बढ़ी है।
6. नये गुटों का निर्माण नेताओं के इर्द–गिर्द हो रहा है– मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव, नवीन पटनायक आदि।
7. सभी दलों में विचारधारा के स्तर पर कोई अंतर नहीं रह गया है। वामपंथी एवं कांग्रेस को छोड़कर सभी दल भाजपा में सहयोग लेने पर लगभग सहमत हैं।
8. जातीयता, सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयता एवं अवसरवाद राजनीतिक दलों पर हावी है।

राजनीतिक दलों की समस्याएं : आलोचना

भारत की दलीय व्यवस्था का वर्तमान समय संकट एवं संक्रमण का है। एक दल प्रभावी बहुदलीय व्यवस्था में बहुदलीय व्यवस्था की ओर अग्रसर दलीय प्रणाली को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा हैः जैसे–

1. वर्तमान समय में सभी दल नेतृत्व के संकट से जूझ रहे हैं। दलीय नेतृत्व युवाओं एवं देश के लिए कोई संदेश नहीं दे पा रहा है।
2. सभी दल विशेषकर छोटे दल व्यक्तिप्रधान हो गए हैं, जिससे राजनीतिक दलों का अंदरूनी लोकतांत्रिक समाप्त हो गया है।
3. सभी राजनीतिक दलों में अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति बढ़ी है।

4. दो दलीय व्यवस्था उभर कर नहीं आ पा रही है। इसलिए सत्ता प्राप्ति के लिए अवसरवादी गठबंधनों का निर्माण हो रहा है।
5. चुनावों में भ्रष्टाचार एवं काले धन की भूमिका प्रमुख हो गयी है। चुनावों में अत्यधिक खर्च किया जा रहा है।
6. वर्तमान समय में भारत के सभी दलों को जातिवाद, क्षेत्रवाद, सांप्रदायिकता एवं अवसरवाद से समझौता करना पड़ रहा है।
7. अशिक्षा एवं बेरोजगारी के कारण भारतीय जनमानस निराश है और समझ नहीं पा रहा है कि वह किस दल का समर्थन करें।
8. संविद मंत्रिमण्डलों की व्यवस्था में केंद्र एवं राज्य दोनों स्तर पर राजनीतिक अस्थिरता दृष्टिगोचर हो रही है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. देश में आपात स्थिति की घोषणा कब की गई

   (क) 22 जून 1975 (ख) 24 जून 1975

   (ग) 26 जून 1975 (घ) 28 जून 1975

2. सन् 1988 में किस दल के निर्माण की घोषणा की गई?

   (क) लोकदल (ख) जनता दल

   (ग) समाजवादी दल (घ) जनसंघ दल

4.3 दबाव समूह

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों का अपना विशेष स्थान है जिन्हें प्रायः विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे हित समूह, अनौपचारिक संगठन आदि। दबाव समूहों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि जब कोई संगठन अपने सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक सत्ता को प्रभावित करता है और उनकी पूर्ति के लिए दबाव डालता है तो हम उस संगठन को दबाव समूह कहते हैं।

हित समूहों का अस्तित्व अति प्राचीन काल से रहा है। तब वर्णों एवं व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियों के समूह हुआ करते थे जो अपने विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए संगठित होते थे और उसके लिए प्रयास करते थे। आधुनिक समय में राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन होने से विभिन्न हित उभर कर आये। हित समूहों के अस्तित्व एवं गतिविधियों का संबंध सामाजिक चेतना एवं जागरूकता से भी है।

हित समूह और दबाव समूह वास्तव में एक ही संगठन है। जब कोई व्यक्ति समूह अपने हित के लिए संगठित होता है तो उसे 'हित समूह' कहते हैं और जब यह अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार या शासन पर दबाव डालता है तो उसे 'दबाव समूह' कहते हैं। दोनों का प्रयोग पर्याय के रूप में किया जाता है। अतः मूलतः एक ही संगठन के दो नाम हैं।

शासन और व्यक्ति के मध्य संपर्क सूत्र के रूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों तथा संगठनों की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। प्रजातंत्र के विकास के साथ राजनीतिक दलों ने यह कार्य करना प्रारंभ कर दिया लेकिन आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि हितों की रक्षा के लिए और शासन के सम्मुख उनके पक्ष को ठीक प्रकार से रखने के लिए अनेक संस्थानों और संगठनों का उदय हुआ जिन्हें दबाव समूहों का नाम दिया गया है।

दबाव समूहों की परिभाषा

विभिन्न लेखकों ने दबाव समूहों की पृथक–पृथक परिभाषाएं दी हैं।

एच. जेगलर के शब्दों में–''दबाव समूह ऐसा संगठित संगठन है जो अपने सदस्यों को सरकार में सम्मिलित किए बिना सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने की इच्छा रखते हैं।"

मायरन वीनर के अनुसार, ''दबाव या हित समूह का तात्पर्य ऐसे स्वैच्छिक संगठनों से है जो शासकीय संगठन से बाहर रहते हुए भी सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति, विधि निर्माण और सार्वजनिक नीति के निर्माण और क्रियान्वयन को प्रभावित करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं।"

कुछ अन्य लेखकों के अनुसार ''जब समाज के कुछ वर्ग अपने हितों के संबंध में इतने चैतन्य हो जाते हैं कि वह एक निश्चित संगठन का निर्माण कर लेते हैं और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्वाचित तथा नियुक्ति सरकारी अधिकारियों को सक्रिय रूप से प्रभावित करने लगते हैं तब उन्हें एक दबाव गुट का स्तर प्राप्त हो जाता है।"

सीधे सादे शब्दों में दबाव समूह को सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के उद्देश्य से निर्मित गैर सरकारी समूह कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए–औद्योगिक व्यवसायी, वाणिज्यिक, श्रमिक और अन्य वर्गों के समूह विधि निर्माण और प्रशासनिक कार्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, जिनसे कि वे अपने हितों में कानून बनवा सके। इस प्रकार दबाव समूह अपने सदस्यों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक, विशेषतया उनके आर्थिक एवं व्यावसायिक हितों की रक्षा तथा वृद्धि में संचालित रहते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दबाव समूह से तात्पर्य–

(अ) व्यक्तियों के एक ऐसे संगठन से है जो सामान्य हितों अथवा उद्देश्यों के लिए कार्य करता है।

(ब) यह संगठन सरकार पर अधिकार की आकांक्षा नहीं रखता है।

(स) यह सरकार से बाहर रहकर सरकार और प्रशासन की नीतियों तथा निर्णयों को अपने पक्ष में प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।

(द) अपने पक्ष में दबाव बनाने के लिए यह संगठन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि समूह सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है।

दबाव समूहों की भूमिका

दबाव समूह सरकार की नीतियों को प्रभावित करते हैं तथा जनमत को संगठित करते हैं। अपनी मांगों को जनता, सरकार और नेताओं तक पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं ताकि जो कानून या नीतियां बने वे उनके अनुकूल हों। इनके मुख्य कार्य इस प्रकार हैं–

- **जनप्रतिनिधि पर दबाव**– दबाव समूह विधि निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इसके लिए विधान मंडल एवं संसद के सदस्यों तक अपनी मांगें पहुंचाते हैं तथा उसके लिए प्रदर्शन और रैलियां भी निकालते हैं।
- **मंत्रियों को प्रभावित करने का प्रयास**– भारत, ब्रिटेन व जापान आदि संसदीय पद्धति वाले देशों में वास्तविक सत्ता मंत्रियों के हाथों में रहती है। इसलिए दबाव गुटों के प्रतिनिधि उनसे साठ–गांठ करने की कोशिश करते हैं एवं अपने हितों की पूर्ति के लिए दबाव डालते हैं।
- **प्रशासन पर दबाव**– दबाव गुटों के प्रतिनिधि अधिकारी वर्ग से मेल–जोल बढ़ाते हैं एवं वे उच्च पदाधिकारियों तक पहुंचने के लिए बड़े शक्तिशाली और चतुर लोगों की सेवाएं हासिल करने की कोशिश करते हैं।
- **राजनीतिक दलों को प्रभावित करना**– बड़े–बड़े औद्योगिक घराने तथा मजदूर संघ राजनैतिक दलों की नीति को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। चुनावों के समय वे दलों या उम्मीदवारों को चंदे के रूप में अच्छी खासी रकम देते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल इस बात के लिए विवश हो जाते हैं कि दबाव गुटों के हितों की रक्षा करें।
- **कानून का आश्रय**– न्यायपालिका क्योंकि स्वाधीन होती है, इसलिए न्यायपालिका के संदर्भ में दबाव गुटों की सक्रियता बहुत सीमित है। वे प्रचलित लोक कल्याणकारी कानूनों को लागू करने के लिए न्यायपालिका का भी आश्रय लेते हैं।
- **जनमत को प्रभावित करना**– किसी भी दबाव समूहों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह जनमत को किस सीमा तक प्रभावित कर पाता है। प्रचार–साधनों के बढ़ जाने के कारण दबाव गुटों के लिए अब यह संभव है कि वे अपनी मांगों को जनता तक पहुंचा सके। बैंक युनियनों, यातायात और परिवहन संघ तथा बिजली और पानी जैसी आवश्यक सेवाओं में लगे हुए लोगों को अपनी बात जनता तक पहुंचाना बहुत जरूरी है। ऐसा वे इसलिए करते हैं कि यदि उन्हें हड़ताल करनी पड़े तो जनमत उनके खिलाफ न हो।

दबाव समूह के लक्षण– दबाव समूह के संबंध में उपर्युक्त विचारों के आधार पर दबाव समूह के निम्नलिखित लक्षण हैं–

1. प्रत्येक दबाव समूह के कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं और ये अपनी गतिविधियों को सामान्यतः इसी विशेष लक्ष्य तक सीमित रखते हैं।

2. दबाव समूह औपचारिक और अनौपचारिक रूप से संगठित हो सकते हैं जैसे– राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ औपचारिक रूप से संगठित दबाव समूह हैं और जाति एक बहुत अधिक शक्तिशाली अनौपचारिक दबाव समूह है।
3. दबाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है अर्थात एक व्यक्ति एक समय में अनेक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है।
4. दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए उचित एवं अनुचित, संवैधानिक एवं असंवैधानिक सभी साधनों का प्रयोग करते हैं।
5. दबाव समूह सर्वव्यापी होते हैं अर्थात ये सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में पाए जाते हैं। सर्वाधिकारी और स्वेच्छाचारी व्यवस्थाओं में भी ये क्रियाशील होते हैं।
6. दबाव समूह प्रशासन या राजनीति (सत्ता के खेल) में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते अर्थात चुनाव नहीं लड़ते लेकिन वे परदे के पीछे रहकर राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। प्रो. जौहरी के अनुसार ये समूह राजनीति के साथ लुका छुपी का खेल खेलते हैं। वे राजनीति में हैं भी और नहीं भी हैं। व्यवहार में दबाव समूह राजनीति क्रिया अभिमुखी भी होते हैं।
7. दबाव समूह का कार्यकाल अनिश्चित होता है और ये अपने हितों के अनुकूल बनते–बिगड़ते रहते हैं।

दबाव समूहों के दोष– दबाव समूहों की अनेक दृष्टियों से आलोचना की गयी है, विशेषकर सरकार तथा प्रशासन में उनकी भूमिका के संदर्भ में पिछले समय में प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत दबाव समूहों को भ्रष्टाचार का प्रतीक माना जाता है और आज भी अनेक लोग इन्हें इसी रूप में देखते हैं। कार्ल फ्रेडरिक के अनुसार, कूड़ा ढोने वाले और राजनीतिशास्त्र के गंभीर विद्यार्थी, दोनों ही इन्हें (दबाव समूह को) हेय दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी भ्रष्ट शक्ति माना जाता है जो आधुनिक प्रजातंत्र तथा प्रतिनिधि शासन की जोड़ी को धीरे–धीरे कुतरकर नष्ट करने पर तुले हैं।

दबाव समूहों की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं–

1. **स्वेच्छाचारी एवं अप्रजातांत्रिक**– दबाव समूह राजनीति में परोक्ष भूमिका निभाते हैं। वे राजनीति प्रभाव एवं शक्ति का प्रयोग तो करते हैं लेकिन किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इसलिए इनकी गतिविधियों को स्वेच्छाचारी एवं अप्रजातांत्रिक कहा जाता है।
2. **संकीर्णता के प्रतीक**– विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने के कारण दबाव समूह संकीर्ण दृष्टिकोण को जन्म एवं बढ़ावा देते हैं जो कि राष्ट्र एवं समाज के लिए उचित नहीं है।
3. **सार्वजनिक हितों की उपेक्षा**– दबाव गुटों के कारण विभिन्न समूहों के बीच हितों का संघर्ष चलता रहता है और कभी–कभी उसके वर्गीय हितों से सामान्य हितों की हानि का खतरा बना रहता है। इससे सार्वजनिक हितों की

उपेक्षा होती है और हितों के दुराग्राही वातावरण में सार्वजनिक हित कमजोर पड़ जाते हैं।

4. **भ्रष्ट आचरण**– आलोचकों के अनुसार दबाव समूह भ्रष्ट आचरण के केंद्र होते हैं। दबाव समूह द्वारा विधायकों को घूस देने तथा अन्य अनुचित आचरण के कार्य किए जाते हैं, जिनका सार्वजनिक जीवन पर बहुत अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

5. **अंतर्राष्ट्रीय हितों में बाधक**– अनेक बार दबाव समूह अंतर्राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचाते हैं। पश्चिमी देशों और अमेरिका में ऐसे दबाव समूह हैं जो शास्त्रों के निर्माण एवं क्रय विक्रय को बढ़ावा देकर तृतीय विश्व युद्ध की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

वर्तमान समय में दबाव समूहों के संबंध में यह धारणाएं बदल गयी हैं। आजकल प्रशासन में दबाव समूहों की भूमिका को सराहा जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दबाव समूह अब अत्यंत संगठित रूप से और उत्तम प्रशासनिक ढांचें की सहायता करते हैं। एक ओर दबाव समूह जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन बन गए हैं तो दूसरी ओर यह शासन के लिए सूचनाएं एकत्रित करने के माध्यम के रूप में भी कार्य करते हैं। अपनी शक्ति तथा प्रभाव के कारण यह सरकार की निरंकुशता तथा अनुत्तरदायित्वत पर नियंत्रण लगाने का कार्य भी करते हैं। आज दबाव समूह प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था का एक आवश्यक अंग बन गए हैं। एक लेखक के अनुसार,'' दबाव समूह अच्छे हैं या बुरे इस संबंध में सूचना एकत्र करना वैसा ही है जैसा इस संबंध में विचार करना कि हवाएं और ज्वार भाटे अच्छे होते हैं या बुरे?'' वर्तमान जनतांत्रिक व्यवस्था के यह आवश्यक अंग बन गए हैं और इसी रूप में इन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए।

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में तुलना– राजनीतिक दल प्रजाजंत्र का आवश्यक अंग होते हैं। प्रजातंत्रीय व्यवस्था को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का कार्य राजनीतिक दल ही करते हैं। निर्वाचनों में इनकी अहम भूमिका रहती है। दबाव समूह का निर्माण संविधान के आधार पर नहीं अपितु हितों की रक्षा के लिए किया जाता है। अभिसमयों के आधार पर दबाव समूहों को मान्यता प्राप्त होती है। उनका स्वरूप राजनीतिक नहीं होता यद्यपि राजनीति में उनकी रुचि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनी रहती है। यह पेशेवर ढंग से कार्य करते हैं और किसी भी दल की सरकार हो, इनकी रुचि केवल अपने हितों की पूर्ति में होती है।

राजनीतिक आधार पर राजनीतिक दल और दबाव समूह दोनों का ही उद्देश्य सरकार के माध्यम से अपने–अपने हितों की पूर्ति करना है। फिर भी, इन दोनों में अनेक असमानताएं भी विद्यमान हैं।

(i) राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य सत्ता पर अधिकार करना होता है। इसके लिए वे बहुमत प्राप्त होने की दशा में राजनीतिक दल सरकार का गठन करते हैं जबकि दबाव समूह कुछ निश्चित हितों की पूर्ति के लिए प्रशासन और

सरकार पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार दबाव समूह, राजनीतिक दलों के विपरीत, सत्ता से बाहर रहकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं।

(ii) राजनीतिक दलों का कार्यक्षेत्र व्यापक और कार्यक्रम अत्यंत विस्तृत होता है क्योंकि उन्हें संपूर्ण राष्ट्र के सभी वर्गों के हित में कार्य करना पड़ता है। दूसरी ओर दबाव समूह किसी विशिष्ट वर्ग से ही संबंधित होते हैं और उसके हितों की पूर्ति के लिए ही कार्य करते हैं। इस प्रकार उनका कार्यक्षेत्र और कार्यक्रम दोनों ही सीमित होते हैं।

(iii) राजनीतिक दलों का संगठन भी दबाव समूहों की तुलना में बहुत बड़ा होता है। राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर पर कार्य करना होता है इसलिए उनका आकार बड़ा होता है। दबाव समूह एक सीमित क्षेत्र में सीमित उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं, इसलिए उनका आकार छोटा एवं सदस्य संख्या भी कम होती है।

(iv) सदस्यता के स्वरूप की दृष्टि से भी राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों में अंतर होता है। राजनीतिक दलों में व्यक्ति केवल एक ही दल का सदस्य हो सकता है। दूसरी ओर व्यक्ति एक ही समय में एक से अधिक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है।

(v) संगठन की दृष्टि से भी राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों में अंतर होता है। राजनीतिक दलों का संगठन औपचारिक रूप से किया जाता है। इनका संविधान होता है, नियम होते हैं तथा अनुशासन व्यवस्था होती है। इसके विपरीत दबाव समूहों का संगठन औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार का होता है और इनमें इतनी नियमबद्धता और कठोर अनुशासन नहीं होता है।

(vi) राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों की कार्य पद्धति में भी अंतर होता है। राजनीतिक दल संविधान के दायरे में और विभिन्न नियमों के अन्तर्गत कार्य करते हैं। दूसरी ओर दबाव समूह भी कानून की परिधि में कार्य करते हैं परंतु व्यावहारिक स्तर पर इनकी कार्य पद्धति राजनीतिक दलों से अधिक लचीली होती है।

इन अंतरों के बावजूद दोनों के मध्य नजदीकी संबंध होते हैं क्योंकि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से प्रजातांत्रिक व्यवस्था में दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं।

भारत में दबाव गुट

दबाव गुटों की संख्या बहुत अधिक है इसलिए उनके वर्गीकरण का कोई एक निश्चित आधार नहीं हो सकता। उद्देश्य या हितों की दृष्टि से भारत में दबाव गुटों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

व्यापारिक संघ

जिन देशों में मुक्त एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था होती है वहां व्यापारिक समूह बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे अपने हितों की भरपूर रक्षा कर सकते हैं। व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए 1887 में भारतीय वाणिज्य मण्डल का गठन किया। भारत के विभिन्न वाणिज्य मण्डल एक केंद्र संगठन द्वारा आपस में जुड़े हुए हैं जिसे भारतीय वाणिज्य और उद्योग मंडल संघ अर्थात 'फिक्की'– बड़े–बड़े व्यापारिक घरानों–टाटा, बिरला, गोयनका, डी.सी.एम., डालमिया और हिन्दुस्तान लिवर्स आदि का भी प्रतिनिधित्व करती है। यह छोटे निर्माताओं के हितों की भी रक्षा करती है।

वाणिज्य मॉडल

भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली दो दबाव–समूह व्यापारिक व उद्योग समूह एवं श्रम–समूह हैं। फेडरेशन ऑफ इंडियन चेंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (FlCCI) का निर्माण सन् 1926 में किया गया जो कि भारतीय उद्योगपतियों व व्यापारियों का सबसे शक्तिशाली संगठन है। आज इसके पास 137 सदस्य–निकाय एवं 286 एसोसिएटेड सदस्य (टाटा आयरन व स्टील, हिन्दुस्तान मोटर्स इत्यादि) सम्मिलित हैं। भारत में अन्य महत्वपूर्ण उद्योग/व्यापारिक समूह हैं– Confederation of Indian Industries (CII), the Associated Chambers of Commerce (ACC), a foreign interest and All India Manufacturers Organization (AIMO)। AIMO का निर्माण सन् 1941 में किया गया था। यह छोटे उद्योगों के हितों में सहयोग करता है।

मजदूर संघ

मजदूरों और कर्मचारियों को 'मजदूर संघ' या 'श्रमिक संघ' कहते हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य मिल मालिकों, सरकार और प्रबंधकों से मजदूरी की दरों, कार्य के शब्दों और अन्य कल्याण कार्यों के बारे में बातचीत व सौदेबाजी करना है। भारत में 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' मजदूर सभा, भारतीय मजदूर दल, सेंटर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन आदि प्रमुख मजदूर संघ हैं। ये दबाव समूह विभिन्न राजनैतिक दलों से जुड़े है तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए लगातार सरकार पर दबाव डालते रहते हैं।

भारत के विभिन्न नगरों में इस समय बैंक, रेलवें, बीमा निगम, सरकारी कार्यालयों और बिजली व जल आपूर्ति में लगे हुए कर्मचारियों की अपनी यूनियनें है। वे उपरोक्त अखिल भारतीय संगठनों में से किसी एक के साथ संबद्ध हैं। इस समय कई मजदूर संगठन सरकार की नई आर्थिक नीतियों का विरोध कर रहे हैं। वे इस बात के खिलाफ हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए गए हैं।

संघों की मान्यता, रद्दीकरण एवं उनके अधिकार

जब सामूहिक सौदेबाजी की प्रणाली प्रचलित नहीं थी व नियोजक तथा मजदूरों के बीच व्यक्तिगत समझौता हुआ करता था, तब संघों की मान्यता का प्रश्न बड़ा ही गौण था

नियोक्ता उसे मान्यता नहीं देते थे। इसके साथ ही किसी को बीच में रख कर श्रमिक प्रतिनिधियों से बात करने में भी संकोच करते थे।

नियोजक श्रमिक संघों की आवश्यकता को औद्योगिक जगत में कुछ महत्व ही नहीं देते हैं। शुरू में मान्यता देना, न देना नियोजकों के विवेक पर निर्भर करता है। बिना अधिकार के श्रमिक संघ मान्यता की मांग भी नहीं कर सकते हैं। इस कारण उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि उनके प्रतिनिधि सीधे विचार–विमर्श नहीं करने देते हैं। इस समस्या के निवारण के लिए अधिनियम में संशोधन किया गया और ''दी इण्डियन ट्रेड यूनियन'' एक्ट 1947 के पारित किया गया, लेकिन उसे लागू नहीं किया गया। इसकी धारा 28क व 28झ में मान्यता संबंधी प्रावधान किए गए। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अनिवार्य मान्यता के लिए प्रस्ताव तो दिया गया लेकिन उसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका। सरकार का यह मत रहा है कि औद्योगिक समस्याओं का एकमात्र हल संघ को अनिवार्य मान्यता देने की व्यवस्था नहीं है। इसमें ''इन्टक'' का सुझाव था कि मान्यता सदस्यों के आधार पर दी जानी चाहिए जबकि ''एटक' के अनुसार गुप्त राय लेकर करना चाहिए। संसदीय समिति ने सुझाव दिया कि कम से कम एक यूनियन को मान्यता देना प्रबंधकों के लिए अनिवार्य होना चाहिए। आज भी सरकार की शिथिलता के कारण स्थिति पूर्णवत बनी हुई है। संघों को मान्यता देने का कोई निश्चित उपाय नहीं है। ऐसा सभी जगहों पर है लेकिन सौभाग्यवश भारत के चार राज्यों, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र में मान्यता को वैधानिक प्रावधान बना दिया गया है। महाराष्ट्र सरकार द्वारा ''महाराष्ट्र रिकाग्निशन ऑफ ट्रेड यूनियन एण्ड प्रिवेन्शन ऑफ अनफेयर लेबर एक्ट 1971 में लागू किया गया। अन्य सरकारों को इसके लिए कदम उठाने चाहिए। इंग्लैंड, भारत व अन्य देशों में यह समस्या बनी हुई है।

इस समस्या के कारण इंग्लैंड ने 1947 में संशोधित पंजीकृत श्रमिक संघ को नियोजक द्वारा मान्यता देना अनिवार्य बना दिया। इस संबंध में भारत में 1947 में ही एक विधेयक पेश कर दिया गया था लेकिन किसी कारणवश यह लागू नहीं हो सका। हमारे यहां 1966 में दुबारा इस पर विचार करके उसी वर्ष अधिनियम के पूर्व रूप को ध्यान में रखकर एक संशोधन पेश किया जिसको स्वीकृति भी मिल चुकी थी। सरकार द्वारा घोषणा की गई कि नियोजक पंजीकृत संघों को मान्यता प्रदान करे।

सरकार ने मान्यता प्रदान करने का सुझाव दिया और व्यापार संघ को ही प्रबंधकों से सौदेबाजी करने का अधिकार दिया। जहां 100 से ज्यादा मजदूर काम करते हैं, वहां मान्यता जरूर होनी चाहिए। मान्यता से दोनों पक्षों का लाभ होता है। बड़े बड़े कारखानों में जहां हजारों श्रमिक कार्य करते हैं, वहां सभी से व्यक्तिगत मिलना, महत्वपूर्ण मामलों में सबकी सहमति लेना, नियोजकों के लिए कठिन होता है आधुनिक युग में औद्योगिक समस्या इतनी है कि इनके निवारण के लिए विचार करना साधारण मजदूरों के बूते के बाहर है। इसलिए संघों को मान्यता प्रदान करना अनिवार्य होता है।

त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन संघों की सदस्यता के सत्यापन में एक समझौता कर पाया और उसमें सिफारिश की गई कि किसी एक उद्योग इकाई में सामूहिक सौदेबाजी करने

के लिए मजदूर संघ की पहचान के लिए नई प्रणाली लागू होनी चाहिए। इसमें सदस्य संख्या जानने के लिए वेतन रजिस्टर की संख्या से पता लगाया जाएगा। केवल मजदूर संगठन ही सामूहिक सौदेबाजी करने का अधिकार रख सकते हैं जिनका समय कम से कम तीन–चार वर्ष तक रहे जबतक कोई दूसरा संघ सफलतापूर्वक चुनौती देने लायक नहीं होता है। आयोग को यह निश्चित करने का कार्य सौंपा जाए कि सामूहिक एजेन्ट बनने के लिए सदस्य संख्या क्या होगी। जहां यह सम्भव हो वहां सामूहिक सौदेबाजी संगठन की स्थापना की जाए जिसमें एक से अधिक यूनियनों पर प्रतिबंध हो। सम्मेलन में यह भी सिफारिश की गई मजदूर संगठनों व मालिकों के लिए अलग नियम व धाराएं बनाई जाएं व उनका यदि पालन नहीं किया जाए तो उसमें दण्ड का प्रावधान भी हो। साथ में औद्योगिक आयोग का गठन किया जाए और उसे यूनियन के सदस्यों की पुष्टि का कार्य सौंपा जाए।

मान्यता प्राप्ति के ढंग को दो भागों में बांटा गया–

1. नियोजन व संघ
2. श्रम न्यायालय द्वारा धारा 28(घ)

पहली श्रेणी में आनेवाली संस्था के अधिकारी नियोजक से प्रार्थना करेंगे और दूसरे उपाय का सहारा नहीं लेगे। इस बीच यदि नियोजक उनकी बात मान कर समझौता करता है तो ठीक है नहीं तो यह नियोजक को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते रहेंगे। मान्यता के लिए दोनों पक्षों में एक लिखित समझौता हस्ताक्षर युक्त पत्र के साथ तैयार किया जाएगा जिसको रजिस्ट्रार के यहां पंजीकृत करना जरूरी होगा। यदि संघ अपने प्रयास में सफल नहीं होता है तो 3 महीने बाद वह दुबारा स्थानीय न्यायालय में मान्यता दिलवाने के लिए प्रार्थना पत्र दे सकता है। किसी भी प्रश्न को स्पष्ट करने की मांग पर संघ को अपना निर्णय देना होगा अन्यथा मान्यता देना न्यायालय पर निर्भर करेगा। पूर्व एवं समुचित कारणों के बिना मान्यता का प्रार्थना पत्र अस्वीकार किया जा सकता है। यदि न्यायालय मान्यता दे देता है तो उसकी सूचना न्यायालय द्वारा नियोक्ता को दी जाएगी, जिससे संबंधित यह संघ है।

मान्यता प्रदान करने की कसौटी

निम्न शर्तों के पूर्ण होने पर ही संघों को मान्यता दी जानी चाहिए :

(1) संघ का संविधान जमा किया गया हो और उसका उद्देश्य वैधानिक हो

(2) मान्यता की मांग करने वाला संघ पंजीकृत किया गया हो।

(3) संघ आचार संहिता को स्वीकार करता हो।

(4) संघ के सभी सदस्य नियोजक के अधीन कार्य करते हों।

(5) अधिकांश श्रमिक सदस्यता ग्रहण कर चुके हों।

(6) संघ की स्थापना को कम से कम एक वर्ष बीत चुका हो।

(7) इसमें दो वर्ष में कोई परिवर्तन नहीं हुआ हो।

मान्यता वापसी के लिए आवेदन प्रक्रिया

मान्यता वापस लिए जाने के लिए धारा 28(3) के अनुसार रजिस्ट्रार या नियोजक श्रम न्यायालय को लिखित रूप से मान्यता वापस लिए जाने के लिए निम्न में से किसी भी आधार पर आवेदन दे सकता है

(1) संघ सदस्यों का प्रतिनिधित्व करने में सफल नहीं रहता है।

(2) किसी प्रकार का विवरण मांगे जाने पर संघ द्वारा उपलब्ध नहीं कराने पर।

(3) संघ सदस्यों ने आवेदन देने के तीन माह के अन्दर धारा 28 में लिखे नियम के अनुसार कोई अनुचित व्यवहार किया हो।

(4) संघ द्वारा अपना वार्षिक लेखा जोखा रजिस्ट्रार के पास नहीं भेजा गया हो।

(5) संघ की कार्यकारिणी की बैठक 6 महीने के अन्दर नहीं होती। 6 माह के भीतर बैठक करवाना अति आवश्यक है। सामान्यतः एक बार दी गई मान्यता वापसी नहीं की जाती है लेकिन कुछ परिस्थितियां ऐसी बन जाए जिसके तहत मान्यता छीनी व वापिस की जा सकती है। इसके लिए संघ न्यायालय को कारण बताओ नोटिस देना पड़ता है। दोनों पक्षों को उचित अवसर दिया जाता है और न्यायालय दोनों पक्षों की राय जानने के बाद ही मान्यता जारी रखने या वापस लेने (रद्द करने) का निर्णय सुनाता है।

नई मान्यता के लिए आवेदन– धारा 28 (ज) मान्यता वापस होने के बाद 6 माह की न्यूनतम अवधि बीतने पर मान्यता के लिए दुबारा आवेदन पत्र दे सकते हैं। इसकी प्रक्रिया वही होगी जो पहले मान्यता लेते समय की गई थी।

राष्ट्रीय श्रम आयोग के मान्यता विषयक सुझाव–

(1) 100 से ज्यादा मजदूर कार्य करते हों लेकिन जिसमें से 30 प्रतिशत सदस्यों की सहमति होनी चाहिए।

(2) संघों को सौदेबाजी करने, सदस्यता शुल्क प्राप्त करने व अन्य मामलों के लिए अधिकार दिया जाना चाहिए।

(3) अल्पसंख्यक श्रमिक संघ को श्रमिकों को सेवा से हटाने के लिए श्रम न्यायालय में अपना आवेदन प्रस्तुत करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

(4) संघ का चुनाव या तो सदस्यों के आधार पर या गुप्त आधार पर होना चाहिए।

संघों के अधिकार

संघ के अधिकार को निम्न प्रकार से समझाया गया है :

(1) प्रत्येक पंजीकृत एवं मान्यता प्राप्त संघ को चल व अचल सम्पत्ति खरीदने, रखने व इसका उपयोग करने का अधिकार होना चाहिए।

(2) किसी भी औद्योगिक विवाद के वक्त संघ के सदस्य समूह का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार औद्योगिक विवाद धारा 36 1947 में दी गई थी। लेकिन

प्रतिनिधित्व करने का अधिकार उसी संघ को होगा जिस संघ में 15 प्रतिशत मजदूर सदस्य बन चुके हों। त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन में यह सिफारिश की है कि उन्हीं संगठनों को भारतीय श्रम सम्मेलन में प्रतिनिधित्व दिया जाए जो इस सम्मेलन की सिफारिशों का पालन करना स्वीकार करें। संगठन को केंद्रीय संगठन माना जाए। उसकी सदस्य संख्या चार उद्योगों में पांच लाख हो। इंग्लैंड व अमेरिका में भी इसी प्रकार के अधिकार दिए गए। न्यूजपेपर्स लि. इलाहाबाद बनाम स्टेट इंडस्ट्रियल ट्रिव्युनल के मामले में उच्चतम न्यायालय ने माना कि मामले को उठाने को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती, विवाद यदि अपंजीकृत संघ से उठाया गया है।

(3) पत्राचार एवं विचार–विमर्श का अधिकार–निष्कासन, निलम्बन, छटनी, सेवा दशाओं में परिवर्तन, छुट्टी, आर्थिक दण्ड के बाद में श्रमिक संघ अपने नियोजक से पत्र व्यवहार करें, उसकी कार्यवाही के लिए जानकारी की मांग करें। सभी पत्र व्यवहार संघ या इसके अधिकारी के नाम से किए जाने चाहिए।

(4) संघ अपने सदस्यों को अनुशासन भंग करने पर दण्डित करे। अनुशासन के लिए नियम रखना जरूरी होता है। यदि इस प्रकार का अधिकार संघ के पास नहीं होता है तो संघ का कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सकता है।

(5) नियोजक द्वारा किए गए किसी भी जोर जुल्म या अवैधानिक कार्य के प्रति सरकार का ध्यान अपनी और आकृष्ट करने का अधिकार है। वह सरकार से मदद भी मांग सकने का अधिकार रखता है।

(6) सदस्यता शुल्क लेने का अधिकार भी संघ के पास होता है।

(7) संघ का अधिकार किसी भी उचित स्थान पर किए जाने वाले कार्य का निरीक्षण करना व किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त करना होता है।

(8) अपने नाम से वाद प्रस्तुत करना या दूसरों के खिलाफ वाद लाना। संविदा में प्रवेश करते समय अपनी सील (मुहर) के प्रयोग का अधिकार है।

(9) मान्यता प्राप्त संघ अपने सदस्यों को लाभ पहुंचाने तथा किसी भागीदारी से भागीदार होकर लाभार्जन के लिए प्रयत्नशील हो सकता है।

(10) संघ अपने नाम में परिवर्तन करने का अधिकार रखता है लेकिन इसके लिए 2/3 सदस्य इनके पक्ष में होने चाहिए। वह अपने कार्यकाल को भी बढ़ा सकता है लेकिन किसी भी परिवर्तन की सूचना देना अनिवार्य है। धारा 12 के अनुसार 14 दिन के अन्दर किसी प्रकार का परिवर्तन करने पर उसकी सूचना रजिस्ट्रार को देनी होती है।

(11) एक संघ दूसरे संघ में मिल सकता है इस प्रकार के सम्मलित होने वाले संघों के लिए सभी सदस्यों की एक साधारण सभा में 60 प्रतिशत बहुमत से प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है। प्रस्ताव की कॉपी रजिस्ट्रार को भेजनी होती है।

(12) संघ त्रिपक्षीय समिति–उत्पादन, कल्याण, कैन्टीन, आवास आपूर्ति कमेटी के लिए, संयुक्त प्रबंध समिति में नामित रख सकते हैं। आय नीति तय करने के लिए भी उन्हें भेज सकते हैं।,

मूल्यांकन

इस अधिनियम को पास करने के बाद श्रमिक नेताओं ने यह माना कि औद्योगिक नियोजको पर ऐसा कोई बंधन नहीं था कि वे व्यवसाय संघों को मान्यता दे सकें। इस अधिनियम के तहत पंजीकरण की व्यवस्था की गई थी लेकिन उसको मान्यता देने की जिम्मेदारी नहीं दी गई थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए 1948 में व्यवसाय संघ अधिनियम पारित किया गया।

कृषक हित समूह

कई शासकीय व अशासकीय संगठन कृषकों को समूहों में संगठित करने एवं विकास प्रक्रिया में समाकलित करने के प्रयास करते रहे हैं ताकि ये ग्राम्य विकास, कृषि व सम्बन्धित क्षेत्र–विकास, प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन की विभिन्न परियोजनाओं की निगरानी, क्रियान्वयन, नियोजन, उत्पादन व विपणन, प्रौद्योगिकी–हस्तान्तरण इत्यादि में सक्रिय भागीदारी निभाएं। कुछ प्रचलित उदाहरण हैं– Farmers' Interest Groups (FIGs) / Farmers' Organizations (FOs) under National Agricultural Technology Project (NATP), Farmers' federation under UPDASP, Watershed Associations under Participatory, Watershed Management Programs, संयुक्त वन–प्रबन्धन परियोजनाओं के तहत वन संरक्षण समिति, Farmers' Clubs under NABARD scheme, Self-Help Groups of farmers organized by MYRADA and CEAD in Andhra Pradesh and RythuMithra Groups (RMG) in Andhra Pradesh; ये कुछ ऐसी पहलें हैं जिनके द्वारा किसानों को एकजुट किया व आगे बढ़ाया गया है। केरल उद्यानिकी विकास कार्यक्रम (KHDP) द्वारा स्व–सहायता समूहों का निर्माण किया गया ताकि सब्जी व फल उगाने वालों को नवीन प्रौद्योगिकी व सहभागी प्रौद्योगिकी विकास (PTD) कौशलों को बढ़ावा देने में सहायता हो, किसानों को क्रेडिट पाने में सहायता रहे एवं संयुक्त विपणन द्वारा उनका नेगोशिएटिंग पॉवर बढ़े। सब्जी व फल प्रमोशन परिषद भी केरल में कार्यरत है। किसानों के हित की रक्षा के लिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा सन् 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा नामक एक किसान मोर्चे की स्थापना की गयी। इसके द्वारा INC के अविभाज्य भाग के रूप में कार्य किया जाता था। वैसे Communist Party of India (CPI) के निर्माण से अखिल भारतीय किसान सभा CPI के अधीन ले ली गयी। भारत के समस्त मुख्य राजदलों के अपने–अपने किसान मोर्चे हैं जो अपने–अपने दल के नियन्त्रण में कार्य करते हैं। समय–समय पर ये किसानों से सम्बन्धित प्रसंगों को सामने लाते हैं व उनके हित में निर्णय करने की मांग करते रहते हैं परन्तु इनकी कार्यशीलता उनके राजदलों तक सीमित रहती है। कुछ कृषक आंदोलनों की चर्चा भी यहां की जा रही है।

अध्यापक, छात्र और कर्मचारी संगठन समूह

स्कूल, कॉलेज व विश्वविद्यालयों में जो लोग शिक्षण कार्य कर रहे हैं, या इस कार्यालयों व पुस्तकालयों में सेवारत हैं, इनके भी बहुत से संघ व संगठन हैं। ये लोग अपने कार्य की शर्तों, वेतनमान, पदोन्नति और नौकरी की सुरक्षा के बारे में सचेत हैं। भारत में 'ऑल इण्डिया स्टूडेंट फेडरेशन', 'स्टूडेंट फेडरेशन आफ इण्डिया', 'भारतीय राष्ट्रीय छात्र संगठन', 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद' आदि छात्र संगठन हैं। इसके अलावा महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षकों और कर्मचारियों के अनेक संगठन हैं। यह संगठन अपने हितों की पूर्ति के लिए सरकार और प्रशासन पर दबाव डालते हैं।

जातीय, सांप्रदायिक, भाषाई और धार्मिक समूह

जातीय और सांप्रदायिक समूह वे हैं जिनके सदस्य किसी जाति या कबीले से संबंधित हैं। भारत में अनेक ऐसे समूह हैं जिन्हें हम जातीय अथवा संप्रदायिक गुटों के अन्तर्गत रखेंगे। आंध्र में केंम्मा जाति के लोग, कर्नाटक में लिंगायत, केरल में ईसाई और मुसलमान, बंगाल में गोरखे और बिहार में शोषित जातियों के लोग बराबर यह मांग करते आ रहे हैं कि शिक्षा संस्थाओं और सरकारी नौकरी में उनके लिए कुछ स्थान आरक्षित किए जाएं। जातीय और मजहबी हितों की रक्षा के लिए जो दबाव गुट इस समय विद्यमान हैं उनमें इनके नाम उल्लेखनीय हैं : वैश्य महासेवा, पारसी अंजुमन, यंगमैंस क्रिश्चियन एसोसिएशन, सार्वदेशिक और आर्य प्रतिनिधि सभा तथा सनातन धर्म सभा। 'अनुसूचित जाति संघ' अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा करता है।

भाषाई और सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए बहुत से हित समूह विद्यमान हैं जैसे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, तमिल संघ, अंजुमन–ए–तरक्की उर्दू तथा साहित्य अकादमी आदि।

अपनी प्रगति जांचिए

3. व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए भारत में वाणिज्य मंडल का गठन कब हुआ था?

   (क) सन् 1882 (ख) सन् 1885

   (ग) सन् 1887 (घ) सन् 1889

4. किस सन में 'दी इंडियन ट्रेड यूनियन' एक्ट पारित किया गया?

   (क) सन् 1935 (ख) सन् 1940

   (ग) सन् 1945 (घ) सन् 1947

4.4 जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाषा का प्रभाव

यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि भारत में राजनीतिक व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था एक दूसरे को प्रभावित करती है। सामाजिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण

पहलुओं में जातिवाद एक महत्वपूर्ण पहलू है जो कमोबेश पूरे राष्ट्र की राजनीति को प्रभावित करता है।

भारत ही नहीं दुनिया के तमाम देशों में लिंग के आधार पर भेदभाव का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। यह स्वीकार करते हुए हमें हिचक नहीं होनी चाहिए कि हमारा समाज नारी समुदाय के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव करता आ रहा है।

भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहां विभिन्न जाति, धर्म सम्प्रदाय के लोग रहते हैं यहां के लोगों के बीच सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि स्तरों पर न्यायिक विषमताएं देखने को मिलती हैं और इन विषमताओं ने भारत में अनेक क्षेत्रीय समस्याओं को जन्म दिया है। साथ ही जातिवाद, लिंगभेद व क्षेत्रीयवाद की समस्याओं ने राष्ट्रीय एकीकरण के निर्माण में कुछ समस्याएं उत्पन्न की हैं जिसमें सांप्रदायिकता, भाषावाद आर्थिक असंतुलन आदि प्रमुख हैं।

भारत गांवों का देश है। गांवों की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है। भारत का जनतंत्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक से अधिक शासन कार्यों में हाथ बंटाए और अपने पर राज करने की जिम्मेदारी खुद झेले।

भारतीय राजनीति के जितने विचित्र और बहुरूपी आधार हैं, उतने संभवतः बहुत कम देशों की राजनीति के होंगे। धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता, गरीबी आदि कुछ प्रमुख आधार हैं जो हमारी राजनीति को बहुत कुछ चित्रित करते हैं और साथ ही राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक हैं। स्वतंत्र भारत में ये आधार जितनी कुरूपता से उभरें हैं, उसे लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए शुभ नहीं माना जा सकता। पराधीनता के समय स्वतंत्रता की उत्कट आकांक्षा हमें एकता के सूत्र में बांधे हुए थी। लेकिन स्वाधीन होने के बाद एकता के बंधन शिथिल हो गए और आज हमारी राजनीति तथा सामाजिक नीति धार्मिक पाखंडों, भाषीय विवादों, क्षेत्रीय भावनाओं, प्रादेशिक अंतर्विग्रहों और जातीय पक्षपात से बुरी तरह ग्रस्त है। भारतीय राजनीति में इन तत्वों ने जिस विष वृक्ष को उगा दिया है, उनका उन्मूलन करना ही होगा। वर्तमान समय में हमारी राजनीति व्यवस्था एवं विशेषकर दलीय व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए हैं और जिस विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा इस विषयों पर टिप्पणी की जा रही है उससे इन समस्याओं में अत्यंत वृद्धि हुई है। इन समस्याओं की विवेचना करने की आवश्यकता है।

4.4.1 जाति

जातिप्रथा वास्तव में अति प्राचीन संस्था है। वैदिक काल में भी वर्ग विभाजन मौजूद था। जिसे वर्ण व्यवस्था कहा जाता था। जिसमें समाज की आवश्यकता अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व, एवं शूद्र, में विभाजन किया गया यह विभाजन अलगाववादी न होकर आंगिक था। यही समाज या राज्य की तुलना एक विराट पुरुष से की गई जिसमें ब्राह्मण मुख्य, क्षत्रिय बाहू, वैश्व जंघा एवं शूद्र पैर थे। पर इसका स्वरूप जातिगत न

होकर गुण व कर्म पर आधारित था। रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में ऐसे वर्णाश्रम के कारण नहीं बल्कि ऊंच नीच और छुआछूत का भेदभाव बढ़ाने के कारण है।

कालांतर में वर्णव्यस्था में ऐसे परिवर्तन हुए कि वर्णव्यस्था जाति प्रथा में बदल गई और एक जाति के अन्दर अनेक उपजातियां बन गईं। जातिप्रथा के कारण समाज बहुत से टुकड़ों में बंट गया। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच भेदभाव की खाई खड़ी हो गई। पारस्परिक द्वेष और जातिय अहंकार के कारण भारतवासी कभी एक न हो सके और सामूहिक रूप से विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने में विफल रहे। राष्ट्रहित को भुला दिया गया और जातीय गौरव को ही सब कुछ मान लिया गया। इस प्रथा का सबसे भयंकर परिणाम था छुआ–छूत जिसमें समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को आत्म सम्मान से वंचित कर दिया गया।

परिभाषा

जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के कास्ट शब्द का हिंदी अनुवाद है। कास्ट शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के कास्ट शब्द से हुई है, जिनका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लगाया जाता है। जाति की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, ''जाति एक बन्द वर्ग है।''

कूले के अनुसार, 'जब एक वर्ग पूर्णतः आनुवांशिकता पर आधारित होता है तो हम इसे जाति कहते हैं।'

जे. एच. हटटन के अनुसार, 'जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक समाज अनेक आत्मा केंद्र एवं एक–दूसरें से पूर्णतः अलग इकाइयों में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक संबंध ऊंच–नीच के आधार पर सांस्कृतिक रूप से निर्धारित होते हैं।'

केतकर के शब्दों में, "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी निम्न विशेषताएं हैं–(1) सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक सीमित है जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया है और इस प्रकार से पैदा हुए व्यक्ति ही इसमें सम्मलित होते हैं। (2) सदस्य कठोर सामाजिक नियमों द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने में रोक लगा देते हैं।"

इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर, खान–पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास जैसे अनेक प्रतिबंध लागू करती है।

जाति और राजनीति

कुछ विचारकों का मत है कि जाति तथा राजनीति दोनों एक–दूसरे से स्वतंत्र हैं। अतः जाति को राजनीतिक क्षेत्र में अपना अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे भी विचारक है जो भारत में विद्यमान जाति प्रथा को बहुत महत्व देते हुए यह मानकर चलते हैं कि भारत में जाति स्वयं में एक राजनीतिक दल बना हुआ है। जयप्रकाश नारायण, माइनर वीनर मांरिस जोन्स और टिकर आदि इसी मत के समर्थक हैं। भारत के संदर्भ में जातिगत प्रभाव के कटु सत्य को स्वीकार करते हुए जे.सी. जौहरी ने तो यहां तक

कहा है कि यदि मनुष्य राजनैतिक क्षेत्र में ऊपर आना चाहते हैं तो उन्हें अपने साथ अपनी जाति व धर्म को लेकर चलना चाहिए। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो इस मत के समर्थक हैं। राजनीति में जमने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति के लिए संगठनों का सहारा लेना पड़ता है तथा जाति संरचना स्वयं में एक शक्तिशाली संगठन है। इसलिए राजनीति को जाति का सहारा लेना पड़ता है।

जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया

यह अनुमान लगाया जाता था कि स्वतंत्रता एवं आधुनिकता के बाद से जाति का प्रभाव कम होगा। परंतु प्रो. वी. के. एन. मेनन का अभिमत है कि स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव बढ़ा है। यद्यपि जाति का प्रभाव सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में कम हुआ जबकि राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में बढ़ा है। ब्रिटिशकालीन भारत में शक्ति और लाभ–प्राप्ति के लिए संघर्ष पहले पहल सामाजिक अधिक्रम से कुछ प्रमुख जातियों तक ही सीमित था। राजनीतिक और प्रशासकीय सत्ता का लाभ प्रारंभ में उन्हीं व्यक्यिों के सीमित समुदाय को मिल सका जिन्होंने नये शैक्षणिक अवसरों को अपनाया और जो अध्यापन कला में कुशल तथा वाकपटु सिद्ध हुए हैं। यह व्यक्ति समाज की उच्चतर जातियों में से था। जहां कहीं भी किसी एक उच्चतर जाति अथवा उपजाति के आधार पर इस प्रकार राजनीतिक गतिविधि प्रारंभ हुई, वहीं दूसरी उच्च जातियों में ईर्ष्या और विरोध की भावनाएं बढ़ी। ऐसा खासकर उन जातियों में हुआ जो पहले सामाजिक और आर्थिक शक्ति का स्वाद चख चुकी थी। फलस्वरूप ऐसी जातियों में भी अनेक राजनीतिक समूह उठ खड़े हुए। इस प्रकार एक प्रमुख जाति के प्रभुत्व ने शीघ्रतापूर्वक एक अन्य प्रधान जाति को राजनीतिक क्षेत्र में ला खड़ा किया जो सामाजिक क्षेत्र में अपनी अन्तर्निभरता और परिपूरकता के कार्य से ही संतुष्ट न थी। परिणाम यह हुआ कि जाति–संरचना ने जाति–संरचना की द्विपक्षीय संरचना का रूप धारण कर लिया।

इस द्वि–पक्षीयवाद के बाद अगले चरण में शक्ति की भूख और लाभों की मांग अधिक बढ़ गयी तथा विभिन्न समर्थनों के आधार पर जातियों में अनेक प्रतियोगी–समूह विकसित हो गए। समाज की प्रमुख जातियों के भीतर ही प्रतियोगिता आरंभ हुई। इस स्थिति को डॉ. रजनी कोठारी ने 'पक्षपातवाद' अथवा जातियों के टुकड़ों या खण्ड होने की स्थिति कहा है। यह कहना चाहिए कि अब अंतर्जातीय प्रतियोगिता को जाति अंतर्गत प्रतियोगिता तथा राजनीतिकरण की प्रक्रिया का सहारा मिला है।

भारतीय समाज का संगठन चूंकि जाति के आधार पर हुआ है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि राजनेता 'जाति' को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करे। दूसरी ओर जाति 'राजनीति' का सहारा लेती है। अतः जैसा कि रजनी कोठारी ने कहा है ''जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।'' राजनेता जातीय समूहों को इसलिए मुंह लगाते हैं ताकि उनके समर्थन में उन्हें सत्ता तक पहुंचने में मदद मिल सके।

शुरू के चरण में राजनीतिक सत्ता की होड़ उन जातियों के बीच हुई जिन्हें हम 'संस्थापित जातियां' कहते हैं। इन जातियों के लोग आम जनता की अपेक्षा कुछ ज्यादा पढे–लिखे, ज्यादा प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से ज्यादा शक्तिशाली थे। इस प्रकार बिहार में कायस्थ और ठाकुर, राजस्थान में राजपूत व जाट तथा आंध्र प्रदेश में केम्मा व रेड्डी के बीच राजनीतिक प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई तथा प्रशासनिक व राजनीतिक ढांचे पर एकमात्र ब्राह्मण छाए हुए थे। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वहां द्रविड़ कड़गम की स्थापना की गई जिस पर पूर्णरूपेण गैरब्राह्मणों का नियंत्रण था। उसके बाद राजनीतिक प्रक्रिया का दूसरा चरण शुरू होता है। जब एक ही जाति के विभिन्न नेताओं के बीच प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई तो हर बड़े नेता ने अपनी बिरादरी से बाहर के लोगों का सहयोग पाने की कोशिश की। 1980 का दशक देश में दलित चेतना में एवं अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों द्वारा राजनीति शक्ति प्राप्त करने का आंदोलन युग था। मंडल–कमीशन के बाद पिछड़ी जाति एवं दलित जातियों का राजनीतिक प्रभाव बढ़ा।

भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर जातिवाद का प्रभाव

जाति अपने जिस रूप में अतीत में थी उसका स्वरूप बदल गया है। पहले इसका प्रभाव सामाजिक संदर्भों में था परंतु अब इसका राजनीतिक महत्व हो गया है। जातिवाद ने हमारी राजनीतिक व्यवस्था को गंभीरता से प्रभावित किया है–

1. चुनावों में विभिन्न दल उम्मीदवारों का चयन जातीय आधार पर करते हैं। चुनाव क्षेत्र में प्रायः जिस जाति का बहुमत होता है उसी जाति के उम्मीदवार खड़े किए जाते हैं। स्वतंत्र भारत में जाति प्रथा ने एक नयी दृढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले निहित स्वार्थ संस्थापित या उच्च जातियों के थे क्योंकि इसी के कारण उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे, पर अब पिछड़ी जातीयों और दलितों में भी एक ऐसे प्रबल वर्ग का उदय हो चुका है जो जातिय चेतना को जिंदा रखकर आगे बढ़ाना चाहता है, जबकि दावा शोषण के खिलाफ लड़ने का किया जाता है।
2. दुर्बल वर्गों के शैक्षिक आर्थिक हितों की वृद्धि के लिए विधानमंडल, नौकरियों और शिक्षा सीमा को और आगे बढ़ाने की अनेक कोशिश राज्य सरकार द्वारा की गई है परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि आरक्षण की सीमाएं हैं। गरीबी दूर करने के लिए शासन को कोई ठोस कार्यक्रम अपनाना पड़ेगा। नयी नौकरियां सूचित करने से समस्या का समाधान होगा, विधानमंडल नौकरियों के वितरण या 'आरक्षण की बैशाखी' से नहीं ।
3. जातीय विद्वेष के कारण राजनीति में उग्रता व हिंसा की घुसपैठ हो गई। आसामाजिक तत्वों की मदद से राजनीतिक नेता, विशेषकर ग्रामीण इलाकों में अपनी–अपनी शक्ति दिखाना चाहते हैं। बिहार में जातीय आधार पर राजनीतिक दलों ने अपनी निजी सेनाएं तैयार कर ली हैं और वहां जब–तब बाह्य जातीय विद्वेष की हिंसा भड़क उठती है। यह संघर्ष कहीं पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच होता रहा है तो कहीं सवर्णों और हरिजनों की बीच। इसके मूल में

सामाजिक–आर्थिक कारण हो सकते हैं, लेकिन समस्या के समाधान की पहल करने वाले राजनीतिज्ञ न्याय के नाम पर विद्वेष बांटते फिर रहे हैं।

4. चुनाव गठबंधों में शोषित या पिछड़ी जातियों को भी शामिल किया जाता है। इसका एक लाभ यह है कि इन बिरादरियों में स्वाभिमान जागा और वे अपने फायदे के लिए राजनीतिक सौदेबाजी में सफल रहे। अब इन जातियों के नेता उभर कर सामने आने लगे हैं। रजनी कोठारी ने इसे एक शुभ लक्षण माना है। उनके मतानुसार जाति व्यवस्था जो कभी परंपरा का पोषण करती है, आज 'परिवर्तन का अग्रदूत' बन गई है। पर कठिनाईयां यह है कि परिवर्तन के ये अग्रदूत दलितों के विकास का कोई ''पूरा खाका'' तैयार नहीं कर पाए हैं। जाति नेता जातिवाद न खत्म करके जातीय चेतना का राजनीतिक इस्तेमाल करना चाहते हैं इससे जातियों का राजनीतिक महत्व अवश्य बढ़ा परंतु अखिल भारतीय या राष्ट्रीय भावनाओं को ठेस पहुंचती है।
5. जाति का इतना प्रभाव अधिक है कि आज केंद्रीय मंत्रिमंडल से लेकर राज्यों और ग्राम पंचायतों तक में प्रत्येक प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व देना अनिवार्य हो गया है।
6. मेयर का मत था कि ''जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है।'' भारत में जातिगत दबाव समूह अपने स्वार्थों तथा हितों की पूर्ति के लिए नीति–निर्माताओं को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, तमिलनाडु में नाडर जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि दबाव समूह के रूप में कार्य करते हुए राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।
7. माइकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। उदाहरण के लिए, बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्धा जातियां हैं। उसी प्रकार केरल में साम्यवादियों की सफलता के पीछे 'इजवाहा' जाति का संगठित होना है। आंध्र प्रदेश में काम्मा और रेड्डी जातियों का संघर्ष प्रभावी रहा है। महाराष्ट्र में मराठों, ब्राह्मणों और महारों में संघर्ष रहा है। इसी प्रकार गुजरात में पाटीदार और क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा में रहे हैं। केरल में इसाई और मुसलमान सक्रिय रहे हैं। राजस्थान की राजनीति जाट –राजपूतों की राजनीति रही है। जातियों के प्रभाव के कारण ही टिंकर ने राज्यों की राजनीति को 'जातियों की राजनीति' कहा है।

इस प्रकार देखा जाए तो आजादी की स्वर्ण जयंती के पश्चात भी अभी तक भारतीय राजनीति जातिगत प्रभाव से मुक्त नहीं हो पायी है। यह एक अपवाद की स्थिति रही है कि 1967 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के विपक्ष में रहे तो 1971 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के पक्ष में 1977 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के विपक्ष में तथा जनता पार्टी के पक्ष में रहे और 1980 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के पक्ष में रहे। इन चुनावों में जातिगत प्रभाव कम दिखाई दिया परंतु ये चुनावी वर्ष असामान्य चुनावी वर्ष रहे। सामान्य रूप से भारत में

पंचायत, विधानमंडल, संसद सभी चुनावों में जातिगत समीकरण अहम भूमिका निभाता है।

4.4.2 धर्म

धर्म आदिकाल से मानव चेतना को प्रभावित करता रहा है। राज्य एवं समाज के संगठन में धर्म की महान भूमिका थी क्योंकि धर्म से एकीकरण का भाव पैदा हुआ था। परंतु कालांतर में जब विभिन्न धर्मों का उदय हो गया तो समाज विभिन्न धर्मों एवं समुदायों में विभाजित हो गया और तब एकीकरण के स्थान पर धर्म संघर्ष का पर्याय बन गया। इससे न केवल सामाजिक बल्कि राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ।

धर्म को हर क्षेत्र में नैतिकता और एकता को प्रोत्साहन देना चाहिए लेकिन भारत में धर्मांध भावनाओं ने देश की राजनीतिक और सामाजिक एकता को आघात पहुंचाया है तथा अनैतिकता के प्रसार में योगदान दिया है। जो धर्म संयोजक शक्ति का काम कर सकता है वही आज विभेदक शक्ति के रूप में अधिक व्याप्त है। जिस सांप्रदायिकता एवं धर्म के संकीर्ण और अनुदार रूप ने भारत का विभाजन करवाया, वही आज भी सिर उठाए हैं। भारत में धर्म के नाम पर एक भारत का विभाजन दूसरे समुदाय से एक वर्ग का दूसरे वर्ग से और एक जाति का दूसरी जाति से मनमुटाव चलता रहता है जिससे विभिन्न राजनीतिक समस्याएं उठती रहती हैं। इतिहास बतलाता है कि भारत हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक मतभेदों और तनावों से घिरा हुआ है। एक घरेलू मामले के रूप में इसका प्रारंभ 1905 में बंगाल के विभाजन से हुआ और अन्त में इसने इतना विस्तार कर लिया कि धर्म के आधार पर पाकिस्तान का निर्माण हो गया। वर्षों से मुस्लिम लीग ने खुलकर जिस दो राष्ट्र के सिद्वांत का प्रचार किया था वह भारत विभाजन की जहरीली बेला के रूप में सामने आया। दो राष्ट्र सिद्धांत के मानने वालों ने हमारी सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता को खंडित किया और भारत के दो टुकड़े हो गए।

भारत में धर्म विभिन्न रूपों में राजनीति का आधार बना हुआ है। यदि धर्म केवल व्यक्तिगत विषय हो और केवल मानसिक शांति के लिए धर्म का पालन किया जाए तो अच्छी बात है, लेकिन धर्म आपस में फूट पैदा करे और विभिन्न धर्मों के अनुयायी आपस में एक–दूसरे से बैर रखें तथा एक दूसरे पर अपना राजनीतिक प्रभाव जमाना चाहें राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्र में धर्म के कुप्रभाव देखने–सुनने में आते हैं। बहुधा यह शिकायत की जाती है कि हिंदू अधिकारी हिंदू धर्मावलंबियों के साथ पक्षपात करते हैं तो मुस्लिम अधिकारी मुस्लिम धर्मावलंबियों के साथ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया गया, लेकिन संविधान की इस घोषणा का तब तक कोई खास मतलब नहीं निकल सकता जब तक लोगों में भी धर्म निरपेक्षता की भावना का प्रचार न हो और प्रशासन सम्पूर्णतः धर्म के प्रभाव से मुक्त हो। कोई भी कानून, संविधान या विधेयक निरर्थक है, यदि लोग उसका पालन सही ढंग से नहीं करें।

धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार ''धर्मनिरपेक्ष'' व्यक्ति वह है जो ''केवल दुनियावी या लौकिक मामलों से संबंध रखता है, धार्मिक मामलों से नहीं'' साम्यवादी देशों में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ ''अधार्मिक या धर्म–विरोधी प्रवृत्ति'' से लिया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान ने धर्म और राज्य को अलग–अलग रखने की नीति अपनाई है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य न तो अधार्मिक है, और न ही धर्म विरोधी। राज्य का कोई विशेष धर्म नहीं है तथा राज्य सभी धर्मों का समान आदर करता है। एक शब्द में भारतीय संदर्भों में धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य सर्व–धर्म सम्भाव से है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष शब्द को समाहित किया गया। परंतु संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में 'धर्मनिरपेक्षता की भावना' को सम्मिलित किया गया है जो निम्न हैं–

प्रथम

भारतीय राज्यव्यवस्था धर्मतंत्रवादी नहीं है। धर्मतंत्रवादी राज्य एक धर्म विशेष से संबद्ध होता है और इसके कायदे कानून धर्मपुस्तकों के आधार पर निर्मित होते हैं। पाकिस्तान, ईरान या सऊदी अरब को इसी अर्थ में एक मजहबी देश कहा जाता है। इसके ठीक विपरीत भारतीय सरकार ने देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य की संस्थापना की है।

द्वितीय

भारत में धर्म एक व्यक्तिगत मामला माना जाता है। व्यक्ति के क्या धार्मिक विचार या विश्वास हैं, इस बारे में राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करता। भारत के विभाजन की सबसे बड़ी सीख यही है कि धर्म और राजनीति को एक दूसरे से अलग रखना चाहिए।

तृतीय

भारत के सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समता और कानूनों के अंतर्गत समान सुरक्षा प्रदान की गई है। संविधान का अनुच्छेद 15 यह घोषणा करता है कि राज्य केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग व जन्म स्थान या इनमें से किसी एक आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं करेगा। इन आधारों पर कोई नागरिक भोजनालयों, सड़कों, कुओं और आम जगहों का इस्तेमाल करने से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

चतुर्थ

संविधान के चार अनुच्छेद (25, 26, 27 व 28) धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों से संबंध रखते हैं। ये अनुच्छेद यह घोषणा करते हैं कि सब लोग अपने धर्म को मानने, उस पर पर अमल करने और उसका प्रचार करने का हक रखते हैं। किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कर देने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा जिससे प्राप्त आय किसी धर्म निरपेक्ष राज्य की आधारशिला है।

धर्म और राजनीति में अन्तःक्रिया

धर्म तथा धार्मिक संकीर्णता से उपजी सांप्रदायिकता ने भारतीय राजनीति के अनेक स्तरों को प्रभावित किया है। धर्म गुरुओं या धार्मिक नेताओं ने अपना सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व बढ़ाने के लिए धर्म का आश्रय लिया जैसे जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी एवं अयोध्या विवाद से विभित्र महन्तों ने धर्म का आश्रय लेकर अपनी राजनीतिक पहचान बनाई। वहीं दूसरी और राजनीति के धर्म में हस्तक्षेप से धर्म ने अपने आध्यात्मिक स्वरूप को खो दिया और राजनेताओं ने सतही धार्मिक भावनाओं को भड़काकर अपना वोट बैंक सुनिश्चित किया। धर्म और राजनीति निम्न प्रकार से एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं–

(1) **धर्म बनाम राजनीतिक दल**–भारत में धर्म इतना प्रभावशाली तत्व बना हुआ है कि कतिपय राजनीतिक दलों का निर्माण भी वस्तुतः विशुद्ध धर्म के आधार पर हुआ है, यद्यपि प्रकटतः वे दल इससे इंकार करते हैं। भारतीय जनसंघ पर प्रायः आरोप लगाया जाता है कि वह मुख्य रूप से अपनी सांस्कृतिक इकाई के राजनीतिक हितों के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। किंतु इसके संस्थापक डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी का मत था कि जनसंघ एक सांप्रदायिक अथवा धर्म विशेष से प्रभावित दल नहीं है। पिछले दिनों में इनके नवीन संस्करण भारतीय जनता पार्टी ने राम मंदिर मुद्दे पर अपना प्रभाव बढ़ाकर केंद्र की सत्ता प्राप्त की है। मुस्लिम लीग एवं पंजाब का अकाली दल भी धार्मिक राजनीतिक दलों का उदाहरण है।

(2) **धर्म बनाम राजनीतिक संघर्ष**–धर्म के आधार पर भारत में समय–समय पर राजनीतिक संघर्ष और विवाद उत्पन्न होते रहे हैं। 1956 से 1960 के मध्य बंबई नगर पर नियंत्रण के लिए मराठी गुजराती संघर्ष का जो दौर चला वह धार्मिक उग्रवादी राजनीति का ज्वलंत प्रमाण है। भारत के एक सर्वाधिक शिक्षित राज्य केरल पर राजनीतिक प्रभुसत्ता के लिए हिंदुओं, मुसलमानों और इसाइयों में निरंतर खींचा–तानी चलती रहती है। केरल की 60 प्रतिशत से भी अधिक जनता हिंदू है, 20 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या ईसाई है और मुसलमान लगभग 17 प्रतिशत है। केरल में विधानसभा में कामचलाऊ बहुमत प्राप्त करने के लिए किसी भी दल को इन विभिन्न धर्मावलंबियों को अपने पक्ष में करना आवश्यक होता है। धर्म और शिक्षा के प्रश्न केरल में इतने प्रबल हैं कि इनके आधार पर सरकारों का उत्थान और पतन हो जाना सरल है। वर्तमान समय में गुजरात का गोधरा काण्ड एवं उसके बाद हुई व्यापक सांप्रदायिक हिंसा का धार्मिक आधार हिंदू और मुसलमानों के बीच राजनीतिक एवं हिंसक संघर्ष की जीवंत गाथा है।

(3) धर्म और मत व्यवहार–भारतवर्ष में चुनाव के समय जनता का मत व्यवहार धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होता है। वोट प्राप्त करने के लिए राजनेता विभिन्न धर्मों के इमामों, पादरियों, साधुओं तथा मठाधीशों से सांठ–गांठ करते हैं।

राजनीतिक दलों द्वारा शाही इमामों एवं शंकराचार्यों से अपने पक्ष में वोट देने की अपील करवाना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय मतदाता का व्यवहार आज भी धार्मिक रूझानों से प्रभावित होता है।

(4) **धर्म एवं धार्मिक हित समूह**–भारतीय राजनीति में धार्मिक हित या दबाव समूह की विशेष भूमिका है। ये गुट अपनी शक्ति एवं कार्य प्रणाली के शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए हिंदूवादी दबाव समूहों में बजरंग दल, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा मुस्लिम संगठनों में जमायते–इस्लामी–अमारते–शरिया तथा बाबरी एक्शन कमेटी आदि है। बाबरी मस्जिद विवाद के संदर्भ में बजरंग दल, विश्व हिंदू परिषद तथा एक्शन कमेटी ने अपनी–अपनी तरह से सरकार की नीतियों को प्रभावित किया है।

(5) **धर्म एवं अन्य राजनीतिक प्रक्रिया**–भारत में धर्म ने विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। जैसे पंजाब में धर्म के आधार पर अलग राज्य 'खालिस्तान' की मांग की गयी। केंद्र एवं राज्य में मंत्रिमंडल बनाते समय विभिन्न धार्मिक समुदायों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा जाता है। विभिन्न राज्यों की राजनीति में धर्म विशेष विशिष्ट भूमिका अदा करता है। केरल राज्य में मुस्लिम संप्रदाय एवं पंजाब की राजनीति में सिक्ख धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है।

मूल्यांकन

स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धर्म गलत भूमिका अदा कर रहा है। यदि भारत में ससंदीय लोकतंत्र को सफल होना है और राजनीतिक एकता को स्थायित्व देना है तो धर्मांधता का वातावरण मिटाना होगा। सरकारी तथा अन्य हैसियत से हम किसी भी प्रकार ऐसे राष्ट्र की कल्पना नहीं कर सकते जिसे सांप्रदायिक या धार्मिक राष्ट्र कहा जाए। हम यदि किसी आदर्श पर चल सकते हैं तो वह धर्म निरपेक्ष, असांप्रदायिक लोकतांत्रिक राष्ट्र का आदर्श है, जिसमें हर आदमी चाहे वह किसी भी धर्म को मानने वाला हो, बराबर अधिकार और सुविधाओं का हकदार है। वास्तव में भारत राष्ट्र का कल्याण इसी बात में है कि राजनीति और नैतिकता में मेल रखा जाए। राजनीति को नैतिकता के स्तर पर कायम रखा जाए। राजनीति और कटटरता या धर्मांधता के मेल का परिणाम तो सांप्रदायिक राजनीति होगी जो एक अत्यंत भयानक संयोग है और जिसका परिणाम हम भारत विभाजन के रूप में भोग चुके हैं।

4.4.3 क्षेत्रवाद

प्रादेशिकता या क्षेत्रीयतावाद वास्तविक में अर्थों में विकेंद्रीकरण की भावनाओं का प्रकटीकरण है परंतु निहित स्वार्थों से साथ जुड़कर यह अलगाववाद एवं विघटनकारी शक्तियों का पर्याय बन जाता है। क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य देश के उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है तथा अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्ति में वृद्धि चाहते हैं। इस दृष्टि के तहत उस क्षेत्र के लोग अपने क्षेत्र के प्रति विशेष भक्ति

भाव रखते हैं। इस दृष्टि से क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता की वृहद भावना का विलोम है और उसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति करना है। भारतीय राजनीति के संदर्भ में यह एक ऐसी धारण है जो भाषा, क्षेत्र, धर्म, ऐतिहासिक विरासत सांस्कृतिक अस्मिता एवं आर्थिक मांगों पर आधारित है। यह संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों के साथ मिलकर विघटनकारी प्रवृत्तियों को जन्म देती है और सामान्य से लेकर उग्र आंदोलनों के रूप में प्रकट होती है।

क्षेत्रीयतावाद एवं भारतीय राजनीति

भारतीय राजनीति का एक अन्य आधार प्रांतीयतावाद व क्षेत्रवाद है। आज भी भारत में अपने को भारतीय नागरिक न समझकर, बंगाली, बिहारी, गुजराती, मद्रासी, राजस्थानी, पंजाबी आदि समझने वाले लोग विद्यमान है। यद्यपि संविधान में एक नागरिकता की घोषणा की गई है, तथापि प्रांतीयता की भावना ने लोगों पर इस तरह कब्जा जमा रखा है कि वे प्रांत के संकुचित हितों के लिए राष्ट्रीय भावना को पीछे धकेल देते हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र और गुजरात के विभाजन के बाद भी समस्याएं बनीं हुई हैं। पंजाब, हरियाणा, एवं चंडीगढ़ का मसला अभी उलझा पड़ा है। कर्नाटक, तमिलनाडु एवं केरल के मध्य अब भी कावेरी नदी का विवाद लम्बित पड़ा है। 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया।

पहाड़ी क्षेत्र भी क्षेत्रीयता के अखाड़े हैं। खासी जयन्तिया, गारो, मिकिर, उत्तर कछार, मिजो पहाड़ियों आदि में गैर–असमियां कबीले रहते हैं। पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र में क्षेत्रवाद की भावनाएं उग्र हिंसक रूप ले चुकी हैं। भारतीय संविधान के अनुसार इन क्षेत्रों का प्रशासन जिला परिषदों के अधीन होता है जिन्हें अधिकार दिया गया है कि वे खेती, स्थानीय प्रशासन और सामाजिक रीति–रिवाजों के बारे में कानून बनाए। इसके बाद भी पहाड़ी क्षेत्रों की मांग शांत नहीं हुई। अप्रैल 1965 में भारत सरकार द्वारा पाटस्कर अयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि असम पहाड़ी क्षेत्रों को विधान संबंधी पूर्ण स्वतंत्रता दी जाए और इसके लिए राज्य विधान सभा में पहाड़ी क्षेत्र की एक अलग समिति बनाई जाए। परंतु आयोग की इन सिफारिशों को मई, 1966 में पहाड़ी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों द्वारा ठुकरा दिया गया। सन् 1968 में असम के अंतर्गत 'मेघालय' स्वायत्त शासी राज्य बना। पूर्वी क्षेत्र के संघीय प्रदेश मणिपुर एवं त्रिपुरा को 1972 में पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। इस प्रकार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, और बिहार का पुनर्गठन करके सन् 1998 में क्रमशः उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ एवं झारखंड राज्य बनाए गए।

छोटे–छोटे राज्यों के गठन की राजनीति

क्षेत्रीय भावनाओं का सबसे चिंताप्रद विस्फोट छोटे–छोटे राज्यों का निर्माण है। अपने–अपने क्षेत्र को पृथक रूप प्रदान कराने की मांग को लेकर उठाने वाली समस्याएं भारतीय राजनीति का अंग बन चुकी हैं। अधिकांश राजनीतिक नेताओं और जनसाधारण के बहुमत की धारणा यही है कि क्षेत्रीय भावनाओं को संतुष्ट करने के लिए, अथवा अन्य किसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए छोटे–छोटे राज्यों के निर्माण से विघटनकारी

प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे देश को भारी क्षति होगी। लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा शक्तिशाली वर्ग भी है जो केंद्र को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के नाम पर छोटे राज्यों का निर्माण किया जाना उपयुक्त समझता है।

देश में राज्यों के निर्माण की मांग मूलभूत रूप से क्षेत्रीय भावनाओं और संकुचित स्वार्थों के आधार पर की जा रही है। इस मांग के पीछे राष्ट्रीय हितों की पूर्ण उपेक्षा छिपी है। यदि राज्यों के निर्माण की प्रवृत्ति ने बल पकड़ा तो राष्ट्रीय और भावात्मक एकता स्थापित नहीं हो सकेगी, देश राज्यों के आपसी विवादों का और भी अधिक बड़ा अखाड़ा बन जाएगा। केंद्र के लिए अनेक नये सिर–दर्द पैदा हो जाएंगे तथा देश की राजनीति अधिक विघटनकारी मोड़ ले लेगी। एक–दो या तीन छोटे राज्यों का निर्माण भी अपर्याप्त होगा। देश में राज्यों के निर्माण की बात मान ली गई तो संभवतः 100 राज्यों का निर्माण भी अपर्याप्त होगा। देश के नेताओं और प्रशासकों को इन तथ्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि विघटनकारी और पृथकतावादी शक्तियां भारत को खंड–खंड करने पर तुली हुई हैं। सन् 1998 में छत्तीसगढ़, झारखंड एवं उत्तरांचल का गठन हुआ है इससे इन राज्यों की आर्थिक स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ। इसी प्रकार अन्य क्षेत्र से इस प्रकार की मांग उठ सकती है, जो समीचीन नहीं है। तेलंगाना का आंदोलन कुछ कारणों से शिथिल पड़ गया लेकिन तेलंगाना समर्थकों के कुछ नेता दावा कर रहे हैं कि निकट भविष्य में ही तेलंगाना पृथक राज्य के रूप में जन्म ले लेगा। जहां तेलंगाना राज्य का निर्माण हुआ वहां आंध्र में सम्मिलित रॉयल सीमा अपने लिए पृथक राज्य की मांग को उचित प्रस्तुत करने लगेगी। गुजरात की कुछ पिछड़ी जातियां जिनमें डांग और डबला प्रमुख हैं, पिछले कुछ वर्षों से अपने लिए अलग प्रांत की मांग कर रही हैं।

इस प्रकार के पृथक राज्यों के निर्माण की मांग के पीछे कोई ठोस तर्क नहीं है। क्षेत्रीय भावना ही प्रमुख है। कुछ क्षेत्र इसलिए पृथक राज्य चाहते हैं ताकि आर्थिक दृष्टि से वे अधिक लाभ उठा सकें। कुछ पिछड़ी जातियां इसलिए अलग प्रांत चाहती हैं क्योंकि अब तक वे आर्थिक विकास के लाभों से वंचित रही हैं। इनका विश्वास है कि इनके अलग राज्यों में सम्मिलित होने पर वे समुचित आर्थिक प्रगति कर सकेंगे। आर्थिक विकास के आधार पर इस तरह अलग राज्य निर्माण की मांग अनुचित है क्योंकि संपूर्ण राज्य के आर्थिक विकास के साथ प्रांत अथवा राज्य विशेष का प्रश्न भी जुड़ा है लेकिन यह स्थिति तो पृथक राज्य का निर्माण कर देने के बाद भी बनी रहेगी। स्पष्ट है कि यह कसौटी अव्यावहारिक है। यह तो राजनीतिक कुचेष्टाओं पर आर्थिक आवश्यकताओं का मुल्लम्मा चढ़ाने की नीति है जिससे क्षेत्रीयतावाद तथा ईर्ष्या–द्वेष को निरंतर प्रोत्साहन मिलेगा।

छोटे राज्यों के निर्माण के पक्ष में एक तर्क दिया जाता है कि भाषाई आधार पर निर्मित बड़े राज्यों, जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं, वे स्वतंत्र नागरिकता की घोषणा करके पृथक राष्ट्र होने की मांग कर सकते हैं लेकिन इस प्रकार का तर्क जनता को भुलावे में डालने के लिए ही दिया जाता है।

प्रशासनिक सुधार और जनसंपर्क की अधिकता के आधार पर छोटे राज्यों के निर्माण की मांग व्यर्थ है। छोटे राज्यों में तो प्रशासनिक भ्रष्टाचार, स्थानीयतावाद, भाई–भतीजा वाद, और गुटबंदी का प्रभाव उल्टा व्यापक हो सकता है। रही जनता से अधिक संपर्क कर पाने की बात, सौ मंत्रियों की संख्या बढ़ाकर जनता के नजदीक नहीं पहुंचा जाता है, कोई भी प्रशासन जनता के दिल में घर तभी कर सकता है जब वह जन कल्याण की दिशा में अधिक उन्मुख हो।

स्पष्ट है कि किसी भी तर्क के आधार पर अलग–अलग राज्यों के निर्माण की बात गले नहीं उतरती है। यदि हम देश की एकता को सही ढंग से बनाए रखना चाहते हैं तो क्षेत्रीयतावाद से बचना होगा। जनता की मांग के आधार पर राज्यों का निर्माण करते चले जाने के फलस्वरूप एक ऐसी प्रक्रिया शुरू होगी जो नए–नए प्रांतों अथवा राज्यों को जन्म देती चली जाएगी। इससे देश कल्याण नहीं होगा।

क्षेत्रीय असंतुलन

संसार के अधिकतम जनसंख्या वाले देशों में भारत का दूसरा स्थान है। क्षेत्रफल की दृष्टि से उसका विश्व में सातवां नंबर है। 1981 में देश की आबादी 68 करोड़ थी, जो 1991 में 84 करोड़ 63 लाख हो गई। इस तरह एक दशक में भारत की आबादी में 23.5 प्रतिशत वृद्धि हुई। जनसंख्या का औसत घनत्व अब एक वर्ग किलोमीटर में 267 व्यक्ति हो गया है। सबसे घनी आबादी वाला राज्य पश्चिम बंगाल है, जहां वर्ग किलोमीटर में 766 व्यक्ति रहते हैं। केरल का स्थान दूसरा है (प्रति वर्ग किलोमीटर 747 व्यक्ति) संघ शासित क्षेत्रों में दिल्ली सर्वाधिक घनत्व वाला क्षेत्र है।

'संतुलित विकास' के अभाव को असंतुलन कहा जाता है। असंतुलन को इस प्रकार परिभाषित किया जाता हैः ''लोगों की आय में विषमता, शहर तथा गांवों में असंतुलन, तथा देश के विभिन्न भागों में असंतुलन।'' संतुलित विकास का यह अर्थ नहीं कि सभी प्रदेशों में रहने वाले लोगों का एक जैसा जीवन स्तर हो। अलग–अलग प्रदेशों के संसाधनो में भिन्नता के कारण विषमताएं तो रहेंगी ही पर यह जरूरी है कि हर क्षेत्र के साधनों का ज्यादा से ज्यादा विकास किया जाए जिससे कि उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर ऊंचा उठे।

क्षेत्रीय विषमताओं को मापने के कुछ प्रमुख मापदंड

यह एक तथ्य है कि भारत में क्षेत्रीय विषमताएं मौजूद हैं। क्षेत्रीय विषमताओं को मापने के प्रमुख मापदंड अग्रलिखित हैं–

1. **गरीबी और बेरोजगारी**–बेरोजगारी की सही ढंग से माप नहीं की जा सकती है, क्योंकि ये आंकड़े रोजगार कार्यालयों द्वारा तैयार किए जाते हैं जिनमें आमतौर पर शहरी लोग ही अपने नाम दर्ज कराते हैं, देहात वाले व्यक्ति नहीं। जहां तक किन्हीं खास राज्यों या क्षेत्रों का प्रश्न है, एक सर्वेक्षण के अनुसार देश की सर्वाधिक गरीब जनसंख्या उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उडीसा, मध्य प्रदेश और तमिलनाडु में केंद्रीभूत है।
2. **कृषि और उद्योग**–कृषि संबंधी हर पहलू में भारी विषमताएं देखने को मिलती है। सिंचाई तरीकों, जोत के आकार, प्रति हेक्टेयर उपज और फसलों की ब्रिकी

आदि अनेक मामलों में काफी भिन्नताएं हैं। ये विषमताएं प्राकृतिक और आर्थिक कारणों से ही नहीं, राजनीतिक और वैधानिक तत्वों से भी संबंधित है। पंजाब और हरियाणा में हरित क्रांति का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है, जबकि उड़ीसा, महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश पिछड़ी हुई दशा में है।

उद्योगों का प्रादेशिक वितरण भी बहुत दोषयुक्त रहा है। अधिकांश उद्योग महाराष्ट्र गुजरात और पश्चिम बंगाल के कुछ विशेष क्षेत्रों में ही केंद्रित है।

3. **आधारिक संरचना**–'आधारिक संरचना' का अभिप्राय उन सेवाओं से है जो एक आधुनिक अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं, जैसे यातायात और संचार के साधन (सडकें, रेले, आदि) विद्युत–संस्थान, नहरें, बांध, जलाशय तथा बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाएं जो ऋण और पूंजी उपलब्ध कराती है। भारत के ग्रामीण इलाकों और पहाड़ी प्रदेशों में 'आधारिक संरचना' का बड़ा अभाव है।
4. **पूंजी–निवेश**–भारत के कई क्षेत्र इसलिए अविकसित हैं क्योंकि वहां पूंजी का पर्याप्त निवेश नहीं किया गया है खनिज संपदा और प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद वहां पूंजी निवेश पर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया। बिहार और मध्य प्रदेश में यदि सचमुच पूंजी लगाई जाए तो इन प्रदेशों की ठोस व स्थाई प्रगति हो सकेगी और आर्थिक विषमताएं भी घटेगी।
5. **सामाजिक सेवा**– क्षेत्रीय असंतुलन का विवेचन करते समय हमें शिक्षा, प्रशिक्षण, चिकित्सा व अन्य आवश्यक सुविधाओं पर भी ध्यान देना होगा। इस दृष्टि से केरल और दिल्ली जैसे प्रदेश अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी स्थिति में हैं, जबकि बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में ये सेवाएं कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

भारी असंतुलन वाले क्षेत्र

नीचे हम उन क्षेत्रों और प्रदेशों की चर्चा करेंगे जो बहुत ज्यादा अविकसित हैं और लंबे समय से उपेक्षित पड़े रहे हैं–

1. **उत्तर–पूर्वी क्षेत्र**–असम, त्रिपुरा और मणिपुर का क्षेत्र सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है चूंकि वह चीन, बंग्लादेश और बर्मा की सीमा से लगा हुआ है। यहां चाय, तेल तथा खनिज बड़ी मात्रा में है, पर इन उद्योगों के विकास से स्थानीय जनता को पूरा लाभ नहीं पहुंचा। असम में ब्रिटिश पूंजी के साथ ही दूसरे राज्यों के श्रमिक, साहूकार और व्यापारी पहुंचे। हिसाब–किताब की देखभाल के लिए अंग्रेजी पढ़े–लिखे बंगाली बाबुओ का प्रवेश असम में हुआ। इससे असमिया समाज में धीरे–धीरे कुंठा की स्थिति उत्पन्न हो गई। असम, मणिपुर और त्रिपुरा में शिक्षा के प्रसार के साथ–साथ शिक्षित बेरोजगारी बढ़ रही है।
2. **ग्रामीण क्षेत्र**–भारत में हर प्रकार की जलवायु है, इसी तरह मिट्टियां भी तरह–तरह की हैं। आज भी देश के सफल घरेलू उत्पाद का करीब 32 प्रतिशत खेतीबाड़ी से जुड़ी 70 प्रतिशत आबादी के श्रम से पैदा होता है। यदि गांवों में

पीने का पानी, बिजली, शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाएं हों तो गांवो से शहरों की ओर पलायन का सिलसिला थमेगा। ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वांगीण विकास की तस्वीर घोर निराशाजनक है। खेतिहर मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। देश के हर कोने में बहुत बड़ी संख्या में बंधुआ मजदूर मिल जाएंगे, जिनका 'श्रम' किसी न किसी जमींदार या साहूकार के पास गिरवी है। कुल खेतिहार बंधुआ मजदूरों में से 60 प्रतिशत अनुसूचित जातियों तथा 17 प्रतिशत आदिवासी परिवारों के हैं।

3. **आदिवासी और पहाड़ी क्षेत्र**–आदिवासी और पहाड़ी क्षेत्र आज भी अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए हैं। बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों के लिए 1971–72 में 'आरंभिक परियोजना' नामक एक विशेष कार्यक्रम शुरू किया गया। आठवीं योजना का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य यह था कि –गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे जितने भी अनुसूचित जातियों के व्यक्ति हैं, उनमें से ज्यादा से ज्यादा लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके।'' परंतु आदिवासी क्षेत्र आज भी शोषण का शिकार है। वनों पर आदिवासियों के परंपरागत अधिकार समाप्त हो गए हैं और उनकी अधिकांश भूमि महाजनों के चंगुल में है। जंगल और आदिवासियों के बीच आदि काल से ही एक अटूट संबंध है, क्योंकि जंगलों से वे कंदमूल फल–फूल, शहद, जड़ीबूटियों और पशुओं के लिए चारा प्राप्त करते हैं परंतु आज वही आदमी जंगलों में घूमता है तो उसे सजा दी जाती है।

पर्वतीय क्षेत्र में विकास योजना की आवश्यकता पर बार–बार बल दिया गया है। वनों की कटाई तथा भूरक्षण पर्वतीय क्षेत्र की मुख्य समस्या है। इसके साथ ही बांधों और मध्यम उद्योगों के अनियंत्रित विकास के कारण पर्वतीय प्रदेशों में पर्यावरण संबंधी समस्याएं पैदा हुई है। असम, जम्मू व कश्मीर, नागालैण्ड, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा ये ऐसे राज्य हैं जिनमें ये पर्वत तथा समीपवर्ती शहर स्थित हैं। पेयजल, विद्युत तथा आवास जैसी सेवाओं की दृष्टि से पर्वतीय क्षेत्रों का विकास नितांत अंसतोषजनक है।

क्षेत्रीय असंतुलन के कारण

क्षेत्रीय असमानताओं के लिए काफी सीमा तक ब्रिटिश शासनकाल की नीतियां जिम्मेदार हैं। अंग्रेजों ने उन प्रदेशों व क्षेत्रों का विकास किया जिनकी उन्हें आवश्यकता थी। समुद्र के किनारे बड़े–बड़े औद्योगिक नगर विकसित हो गए थे जैसे मुंबई (बंबई), कलकत्ता और चेन्नई (मद्रास) और निश्चय ही उन स्थानों पर रहने वाले लोगों को शिक्षा व रोजगार की ज्यादा सुविधाएं उपलब्ध रहीं। आजादी के बाद देश के संतुलित क्षेत्रीय विकास की आवश्यकता महसूस की गईं फिर भी भारी क्षेत्रीय विषमताएं विद्यमान हैं, जिनके लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं–

1. विकास योजनाओं का लक्ष्य उत्पादन और रोजगार में वृद्धि लाना था, पर जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री दंतवाला ने कहा है, ''योजनाओं के अधिकतर लाभ

राजनीतिक प्रभाव रखने वाले समृद्ध किसानों के पक्ष में मोड़ दिए गए और इन्होंने इन लाभों को हथिया लिया।

2. क्षेत्रीय असंतुलन के लिए काफी सीमा तक राजनीतिक और प्रशासनिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी हैं। राज्यों में दल–बदल की राजनीति और सरकारों के उथल–पुथल से विकास कार्य को हानि पहुंचती है। कोई भी सरकार जिसकी सारी शक्ति अपने को बनाएं रखने में ही खर्च हो जाती हो, विकास कार्यों की ओर कैसे ध्यान दे सकती है। अधिकांश राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता और नेताओं की आपसी फूट की वजह से प्रशासन कार्य कुशल नहीं बन पाया है।
3. उत्पादन में जहां यंत्र या औजार की महत्ता है, वहां मानव–पूंजी की महत्ता भी किसी तरह कम नहीं। पंजाब के आर्थिक विकास में वहां के निवासियों की साहसी और परिश्रमी प्रवृत्ति का बड़ा हाथ है। दूसरी ओर वे प्रदेश जहां के निवासी अज्ञान या आलस्य के कारण नव–परिवर्तन व नयी तकनीक को ग्रहण करने में झिझकते हैं, पीछे रह जाते हैं।
4. राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी के कारण भी बहुत से विकास कार्यक्रम लागू नहीं किए जा सके हैं। जिन लोगों के हाथ में राजनीतिक सत्ता है, उनके अपने कुछ निहित स्वार्थ हैं जो समाज के एक बड़े हिस्से को उसके अधिकारों से वंचित रखकर ही पूरे हो सकते हैं। इस प्रकार निरंतर शोषण का क्रम चलता रहता है।

क्षेत्रीय विषमताओं के परिणाम

क्षेत्रीय असंतुलन के परिणामों को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है–

1. क्षेत्रीय असंतुलन ने तनाव को जन्म दिया है। उत्तर–पूर्वी भारत के असम, त्रिपुरा, मणिपुर, नागालैण्ड और मिजोरम–काफी लंबे समय तक आंदोलन की गिरफ्त में रहे हैं। मिजोरम में हिंसक घटनाएं भी हुईं। त्रिपुरा में जन मुक्ति संगठन सेना ने स्वतंत्र त्रिपुरा का नारा बुलंद किया। नागालैण्ड में विद्रोह का स्वर अब शांत है, पर नागा जाति को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ना जरूरी है। संथाल परगना और छोटा नागपुर वनवासियों के जुझारू आंदोलन के रणस्थल रहे हैं।
2. क्षेत्रीय असंतुलन से एकीकरण की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है। छोटे और पृथक राज्यों की मांग को हम बुरा नहीं कहेंगे, पर भारतीय संघ से अलग हो जाने की धमकी निश्चय ही एक राष्ट्रविरोधी कृत्य है। ऐसी प्रवृत्तियों पर काबू पाने के लिए यह जरूरी है कि जो प्रदेश पिछड़े हुए हैं वहां संचार सेवाओं, आर्थिक विकास व कृषि–संबंधी कार्यक्रमों में तेजी लाई जाए।
3. क्षेत्रीय असंतुलन से केंद्र और राज्यों के बीच कटुता पैदा हो सकती है। कभी–कभी एक ही राज्य में रहने वाले विभिन्न जनसमुदाओं के बीच विवाद उठ खड़े होते हैं।

4. यह भी हो सकता है कि राष्ट्रीय दलों का दबदबा कम हो जाए और क्षेत्रीय दल सर्वेसर्वा बन बैठे। फिलहाल भारतीय राजनीति में एक बुनियादी परिवर्तन यह आया है कि क्षेत्रीय दलों का दबदबा बढ़ रहा है। अब एक पार्टी के शासन का युग खत्म हो रहा है और साझा सरकारों का वक्त आ गया है। इसमें केंद्र में राजनीतिक अस्थिरता बढ़ती है। खतरा यह है कि क्षेत्रीय दलों की साक्षी सरकारों से कहीं केंद्र इतना अशक्त न बन जाए कि भारत का कोई अखिल भारतीय चेहरा ही बाकी न बचे।
5. देश के जिन भागों में उद्योग और व्यापार की अधिक प्रगति हुई है, वहां पर रोजगार के ज्यादा साधन उपलब्ध हैं। शेष स्थानों में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर ऊंचा नहीं उठ पाता। इसमें विषमताएं बढ़ती हैं। असंतुलन के कारण भारत संतुलित विकास के लाभों से वंचित रहा है।

क्षेत्रीय असंतुलन दूर करने के उपाय

क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने के लिए इन उपायों का सहारा लेना होगा–

1. अविकसित क्षेत्रों के विकास को उच्च प्राथमिकता देनी होगी। लघु उद्योगों के साथ–साथ मध्य उद्योगों पर भी जोर देने की जरूरत है। इन क्षेत्रों के विकास के लिए आधारभूत सुविधाओं (बिजली, सड़क, परिवहन, दूरसंचार और रेलवे) का विस्तार जरूरी है। आधारभूत ढांचे को मजबूत बनाने पर ही अविकसित क्षेत्रों में देशी–विदेशी पूंजी को आकर्षित किया जा सकता है।
2. पर्वतीय क्षेत्रों के संतुलित विकास के लिए निम्नलिखित बातों को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। (1) विद्यमान वनों की प्रभावी ढंग से सुरक्षा की जाए। (2) वन्य भूमि पर किसी भी कार्य के लिए कब्जा करने की अनुमति न दी जाए तथा (3) अन्य भूमि का हस्तांतरण गैरवन्य प्रयोजनों के लिए न किया जाए, चाहे वह प्रयोजन कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो। पर्वतीय क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व कम है, और ग्राम छोटे–छोटे हैं तथा लंबी दूरी तक छितरे हुए हैं। ऐसे स्थानों पर कुली, मजदूरों तथा खच्चरों के लिए पगडंडियां बनाकर उनका समुचित रख–रखाव किया जाना चाहिए।
3. उत्पादन में जहां यंत्र और औजार की महत्ता है, वहां मानव पूंजी का महत्व भी कम नहीं है। इसलिए संचार साधनों के माध्यम से जन जागरण को बढ़ावा देने की जरूरत है। यह जरूरी है कि लोग बिना किसी झिझक के नयी तकनीक और नव परिवर्तन का स्वागत करें।
4. राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी और अधिकारियों की लापरवाही के कारण बहुत से विकास कार्यक्रम प्रभावी ढंग से लागू नहीं किए जा सके हैं। इसलिए प्रशासन को चुस्त करने की जरूरत है।

4.4.4 भाषा

संविधान के अनुच्छेद 343, 344 तथा 345 में भाषा संबंधी निम्न प्रावधान हैं–

1. देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी भाषा संघ की राजभाषा होगी।
2. संविधान के आरंभ में 15 वर्षों तक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग पूर्ववत जारी रहेगा।
3. सन, 1963 में अनुच्छेद 343 (3) के अधीन राजभाषा अधिनियम प्रस्तुत किया गया जिसके अनुसार 1965 के बाद भी अंग्रेजी अनिश्चित काल तक बनी रहेगी।
4. संविधान के प्रारंभ होने पर 5 एवं 10 वर्षों के उपरान्त भाषा आयोग का गठन करेंगे जो हिंदी प्रयोग के क्रमिक वृद्धि में सहयोग करेगा।
5. संविधान के अनुच्छेद 345 में प्रत्येक राज्य को अपने सरकारी कामकाज के लिए एक या अधिक भाषाओं को अंगीकार करने का अधिकार होगा।
6. उच्च एवं उच्चतम न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी ही होगी तथा राज्य को अपनी भाषा में उच्च न्यायालय की कार्यवाही का अधिकार होगा परंतु उनका अंग्रेजी भाषा का पाठ ही अधिकृत समझा जाएगा।
7. अनुच्छेद 29 के अनुसार भारत के संविधान में भाषाई अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने की दृष्टि से संविधान में यह व्यवस्था की गई कि ''भारत के राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग में बसने वाले नागरिकों को जिनकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।''

भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग

1947 के पूर्व पं. नेहरू व उनकी कांग्रेस भाषावाद राज्यों के सिद्धांत के समर्थक थे, लेकिन संविधान सभा में जब यह बात उठी तब भाषावाद के आधार पर राज्यों के गठन का विरोध हुआ। यहां यह याद रहे कि 1947 में धर आयोग की नियुक्ति हुई थी, जिसने अपनी रिपोर्ट में प्रांतों के पुनर्गठन का कड़ा विरोध किया था। इसलिए संविधान में पुनर्गठन की व्यवस्था नहीं की गयी।

भाषावाद प्रांत की मांग सर्वप्रथम मद्रास प्रांत में उठी, तेलुगु भाषी जिलों के निवासियों ने अलग प्रांतों की मांग उठायी। आंध्र प्रदेश की स्थापना को लेकर एक उग्र आंदोलन उठ खड़ा हुआ और इस राज्य की मांग के समर्थक पोहटी श्री रामलल्लू ने आमरण अनशन करके प्राण त्यागे। इस स्थिति में कांग्रेस शासन को झुकना पड़ा और 1953 में तेलुगु भाषी आंध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। इससे अन्य राज्यों में भाषावाद राज्य की मांग जोर पकड़ने लगी। और अन्त में केंद्रीय सरकार द्वारा दिसम्बर 1953 को राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति हुई। उसने 1955 में इस मुद्दे पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और यह सुझाव दिया कि भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के सिद्धांत को लागू किया जाए। 1956 में इसकी सिफारिश के अनुसार प्रांतों का पुनर्गठन किया गया। 1966 में बंबई राज्य को तोड़कर गुजरात व महाराष्ट्र बनाया गया। 1966 में पंजाब का विभाजन करके पंजाब व हरियाणा निर्मित किए गए। इसी आधार पर तेलंगाना आंदोलन

चला और आंध्र प्रदेश के राज्य की अलग मांग प्रबल हुई। इस प्रकार भाषा राज्यों के पुनर्गठन के पीछे जातिवाद, क्षेत्रीयवाद की शक्तियां प्रबल रहीं। उसमें केंद्र को दबाने की क्षमता बढ़ी। भाषा प्रश्न को लेकर सी.डी. देशमुख ने केंद्रीय मंडल सरकार की भाषा की नीति का विरोध किया।

जनवरी 1980 में उर्दू के प्रश्न को लेकर अल्पसंख्यक मुस्लिम नेताओं ने एक मुद्दा उठाया। वस्तुतः यह कांग्रेस को प्रभावित करने की एक नीति थी। कांग्रेस ने अपने घोषणा–पत्र में मुस्लिम मतदाताओं को यह आश्वासन दिया कि कुछ राज्यों में उर्दू को राज्य की भाषा के रूप में काम में लाया जाएगा। उत्तर प्रदेश में उर्दू को अनिवार्य बनाये जाने की मांग आज भी जीवित है। इसी प्रकार दक्षिण भारत में आज भी हिंदी विरोधी भावना अधिक प्रबल दिखाई पड़ती है। वहां हिंदी को पाठयक्रम से निकाला जा रहा है और यहां तक की टी.वी. पर हिंदी कार्यक्रम की रोकथाम की जाती है। संक्षेप में तीन भाषाएं फार्मूला भारत में क्रियांवित नहीं हो सकी हैं। 1970 में नागालैंड ने एक प्रस्ताव पास करके यह मांग की थी कि अंग्रेजी भाषा को संविधान की आठवीं सूची में शामिल किया जाए। इस राज्य में अंग्रेजी को राज्यभाषा माना है।

सही अर्थों में भारत में स्वस्थ व सच्ची राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई ही नहीं है। यह देश सदियों से पृथकतावादी व स्वसंप्रदायवादी तत्वों से घिरा रहा है अन्यथा ब्रिटेन, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड आदि बहुभाषीय देश हैं, लेकिन वहां भाषा की समस्या कभी नहीं रही, क्योंकि वहां राष्ट्रीयता की भावना परिपक्व है। वास्तव में भाषा की समस्या किसी क्षेत्र या समुदाय की पहचान की समस्या है अतः यह बुरी नहीं हैं परंतु जब इसके साथ स्वार्थगत राजनीति जुड़ जाती है तो इसका प्रारूप विकृत हो जाता है। इसी आधार पर दक्षिण में हिंदी भाषा का विरोध हो रहा है।

राज्य भाषा संशोधन विधेयक 1967

इस विधेयक में यह कहा गया है कि हिंदी और अहिंदी राज्यों में हिंदी के साथ अंग्रेजी का प्रयोग भी चलता रहे तथा केंद्रीय सरकार कें विभिन्न विभागों की स्थिति यही बनी रहे। इसमें एक प्रस्ताव में कहा गया है कि केंद्रीय नौकरियों के लिए अंग्रेजी या हिंदी किसी एक भाषा का ज्ञान अनिवार्य होगा। संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के अलावा संविधान द्वारा स्वीकृत अन्य किसी भी भारतीय भाषा में ली जा सकती है। 19 जुलाई, 1967 को भारत सरकार द्वारा यह भी घोषणा की गई कि शिक्षा का माध्यम हटाकर किसी भी क्षेत्रीय भाषा को बनाया जा सकता है एवं इंजीनियरिंग कृषि, चिकित्सा आदि सभी विषय इस भाषा में पढ़ाए जा सकते हैं। घोषणा में कहा गया है कि यह परिवर्तन पांच वर्षों के भीतर लागू किया जा सकता है।

केंद्रीय सरकार ने जो भाषा–संशोधन विधेयक पारित किया उससे दुर्भाग्यवश कोई भी पक्ष संतुष्ट नहीं हुआ। हिंदी भाषा राज्य और अहिंदी भाषी राज्य दोनों ही उग्र हो गए। हिंदी के समर्थन में हिंदी भाषी राज्यों में विशेषतः उत्तर प्रदेश में आंदोलन छिड़ गया। इस आंदोलन ने उत्तर प्रदेश और दिल्ली में 'हिंदी सेना' को जन्म दिया जिसने

अंग्रेजी में लिखे तख्तों, संकेतों, आदि को कोलतार से मिटाने, अंग्रेजी अखबारों के बहिष्कार करने, कांग्रेसी मंत्रियों के घेराव करने आदि की दिशा में एक व्यापक आंदोलन चलाया।

हिंदी भाषी राज्य भी इस दौड़ में पीछे न रहे। हिंदी भाषा राज्य का आंदोलन ज्योंही समाप्त हुआ अहिंदी भाषा राज्यों में हिंदी के विरोध में आंदोलन शुरू हो गया और सरकार द्वारा पारित राज्यभाषा संशोधन विधेयक की भर्त्सना की जाने लगी इस आंदोलन का केंद्र मद्रास राज्य रहा और अन्नादुराई की सरकार का इसे पूरा समर्थन प्राप्त हुआ।

लोकतंत्र में राज्यों का काम–काज जन भाषाओं में चलना चाहिए इसलिए रजनी कोठारी ने भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का स्वागत किया है। प्रो. कोठारी के अनुसार ''पुनर्गठन से राजनीतिक एकीकरण स्थापित हुआ, शासक और शासितों के बीच संपर्क बढ़ा और राष्ट्रीय एकता ज्यादा मजबूत हुई। ग्रामीण इलाकों में बसने वाली जनता शीघ्र ही राजनीतिक मामलों में रुचि रखने लगी। दूसरी और वह लेखक हैं जिनके अनुसार भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से समस्याएं और उलझ गई हैं। इससे पृथकतावादी शक्तियों को बढ़ावा मिला।

भाषा एवं संविधान

भारत में अनेक भाषाएं और बोलियां बोली जाती हैं। इनमें सें 18 भाषाएं संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल की गई हैं। इनमें से अधिसंख्य आर्यभाषाएं हैं, जो संस्कृत के प्रभाव से उत्पन्न हुई हैं। द्रविड़ परिवार की भाषाएं तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम हैं, जिनका क्षेत्र सिमटकर दक्षिण चला गया है। अंग्रेजी द्वारा भारत की शिक्षा पद्धति में अंग्रेजी भाषा लागू की गई जो तीन–चार प्रतिशत लोगों द्वारा समझी व बोली जाती है। देश की लगभग 40 प्रतिशत जनता हिंदी या उससे मिलती जुलती भाषा बोलती है।

भाषा का तात्पर्य है कि किसी राज्य, समुदाय या क्षेत्र की भाषा का प्रश्न उस राज्य समुदाय या क्षेत्र की अस्मिता से जुडा है। चूंकि भारत में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। अतः भाषावाद के समर्थकों का तर्क है कि उनकी भाषा को राजनितिक महत्व प्रदान किया जाए तथा सरकारी कामकाज तथा शिक्षा के माध्यम में उनकी भाषा का प्रयोग किया जाए। इन परिस्थितियों में किसी एक भाषा को भारत की राजभाषा घोषित करना मुश्किल कार्य था क्योंकि जब प्रश्न संपर्क भाषा का आता है तो पुनः समस्या और गंभीर हो जाती है। विशेषकर हिंदी भाषी और अ–हिंदी भाषी प्रदेशों के हित के बीच सरकारी कामकाज की भाषा किसे बनाया जाए। भाषा के प्रश्न पर संविधान सभा में व्यापक विचार–विमर्श हुआ क्योंकि संविधानविदों को इसका अनुमान था कि भाषा का प्रश्न क्षेत्रवाद तथा जातिवाद की तरह भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक सिद्ध होगा।

अपनी प्रगति जांचिए

5. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में किस संविधान संशोधन के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष शब्द को समाहित किया गया?

   (क) 40वें संविधान संशोधन (ख) 41वें संविधान संशोधन

   (ग) 42वें संविधान संशोधन (घ) 44वें संविधान संशोधन

6. भाषावाद प्रांत की मांग सर्वप्रथम किस राज्य से उठी?

   (क) बिहार (ख) असम

   (ग) महाराष्ट्र (घ) मद्रास

4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (ग)
4. (घ)
5. (ग)
6. (घ)

4.6 सारांश

प्रत्येक देश में राजनीतिक दलों का विकास एक विशिष्ट परिस्थितियों में होता है। भारत में राजनीतिक दलों का विकास स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हुआ इसमें सबसे विशिष्ट राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक छत्रनुमा ऐसा दल था, जिसमें सभी क्षेत्रों, समुदायों, वर्गों, जातियों, धर्मों विचारधाराओं आदि को प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

भारत में स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न हुई दलीय व्यवस्था को एक विशिष्ट नाम दिया गया– 'एक दल प्रभावी बहुदलीय व्यवस्था' जिसे कुछ विद्वानों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभावशाली होने के कारण 'कांग्रेस व्यवस्था' का नाम दिया।

भारतीय दल व्यवस्था का एक विशेष लक्षण उसका सांप्रदायिक स्वरूप भी है। कई दल अपने नाम से ही सांप्रदायिक दिखते हैं जैसे– हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग तथा अकालीदल। पर इस समय जो राष्ट्रीय दल कहलाते हैं, वे भी सांप्रदायिकता से एकदम अछूते नहीं है।

भारतीय राजनीतिक दलों में अनुशासन का अभाव है। विभिन्न राजनीतिक दलों का संगठन बहुत लचीला व ढीला है। के. सत्यानम के अनुसार, ''इन तथाकथित

राजनीतिक दलों के मुख्य दोष ये है कि ये दल न तो लोकतांत्रिक है, न संघीय और न ही निष्ठावान और अनुशासन प्रिय'' विभिन्न दलों में स्वतंत्रता पर्याप्त रूप से पायी जाती है।

हित समूह और दबाव समूह वास्तव में एक ही संगठन है। जब कोई व्यक्ति समूह अपने हित के लिए संगठित होता है तो उसे 'हित समूह' कहते हैं। और जब यह अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार या शासन पर दबाव डालता है तो उसे 'दबाव समूह' कहते हैं। दोनों का प्रयोग पर्याय के रूप में किया जाता है। अतः मूलतः एक ही संगठन के दो नाम हैं।

राजनीतिक दलों का संगठन भी दबाव समूहों की तुलना में बहुत बड़ा होता है। राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर पर कार्य करना होता है इसलिए उनका आकार बड़ा होता है। दबाव समूह एक सीमित क्षेत्र में सीमित उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं, इसलिए उनका आकार छोटा एवं सदस्य संख्या भी कम होती है।

भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहां विभिन्न जाति, धर्म सम्प्रदाय के लोग रहते हैं यहां के लोगों के बीच सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि स्तरों पर न्यायिक विषमताएं देखने को मिलती हैं और इन विषमताओं ने भारत में अनेक क्षेत्रीय समस्याओं को जन्म दिया है।

4.7 मुख्य शब्दावली

- **क्षेत्रीय या राजस्तरीय दल** : वे दल जिनका प्रभाव राज्य की सीमा तक हो।
- **तदर्थ दल** : वे दल जो बनते और बिगड़ते रहते हैं।
- **हित समूह** : जब कोई व्यक्ति समूह, अपने हित के लिए संगठित होता है तो उसे हित समूह कहा जाता है।
- **दबाव समूह** : अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार या शासन पर दबाव डालना।
- **जाति** : जाति ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक समाज एक दूसरे से पूर्णतः अलग इकाइयों में विभाजित रहता है।
- **सर्वाधिकारी** : संपूर्ण अधिकार रखने वाला।

4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक दलों की स्थिति को समझाइए।
2. क्षेत्रीय अथवा राजस्तरीय दल से आप क्या समझते हैं?
3. दबाव समूहों को परिभाषित करते हुए उनके प्रमुख लक्षण बताइए।

4. मजदूर संघ से क्या तात्पर्य है?
5. धर्मनिरपेक्षता से आप क्या समझते हैं?
6. क्षेत्रीय असंतुलन से क्या आशय है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय दलीय व्यवस्था की प्रकृति का उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय राजनीतिक दलों के वर्गीकरण एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. भारतीय दलीय व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए।
4. राजनीतिक दल एवं दबाव समूहों का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।
5. जातिवाद ने हमारी राजनीतिक व्यवस्था को किस प्रकार से प्रभावित किया है? वर्णन कीजिए।
6. किस प्रकार से धर्म और राजनीति एक दूसरे को प्रभावित करते हैं? समझाइए।
7. क्षेत्रीय असंतुलन के कारणों का उल्लेख करते हुए इनको दूर करने के उपाय बताइए।

4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जी. ऑस्टीन, *वर्किंग ऑफ ए डेमोक्रेटिक कान्स्टीट्यूशन : द इंडियन एक्सपीरियंस, दिल्ली,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 2000.
2. डी.डी. बसु, *एन इंटरोडक्शन टू द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया,* नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल, 1994.
3. डी.डी बसु एंड बी पारेख (एजूकेशन) *क्राइसिस एंड चेंज इन कन्टेमप्ररेरी इंडिया,* नई दिल्ली, सागा, 1994.
4. सी.पी. भाम्बरी, *द इंडियन स्टेट : फिस्टी इयर्स,* नई दिल्ली, शिप्रा 1997.
5. पी. ब्रास, *पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिन्स इंडिपेंडेंस, हैदराबाद,* ओरियंट लौंगमैन, 1990.
6. एस. कोर्ब्रिज एंड जे. हैरिस, *रिइंवेंटिंग इंडिया : लीबरेलजाइशन, हिंदू नेशनल्जिम एंड पापुलर डेमोक्रेसी,* दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2001.
7. एन.जी. जायल (एजुकेशन) *डेमोक्रेसी इन इंडिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2011.
8. एस. कौशी (एजुकेशन) इंडियन गवर्मेंट एंड पॉलिटिक्स दिल्ली यूनिवर्सिटी, डायरेक्टरेट ऑफ इंप्लिमेंटेशन, 1990.
9. ए. कोहली, *डेमोक्रेसी एंड डिस्कटेट : इंडियाज ग्रोइंग क्राइसिस ऑफ गोवर्नएबिलिटी कैम्ब्रिज,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस 1991.

इकाई 5 राज्य की राजनीति का सैद्धांतिक ढांचा एवं पंचायती राज्य व्यवस्था

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 राज्य की राजनीति के अध्ययन हेतु सैद्धांतिक ढांचा
5.3 पंचायती राज्य व्यवस्था और राज्य की राजनीति पर इसका प्रभाव
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

संघात्मक व्यवस्था में राज्य की राजनीति का विशेष स्थान होता है, जहां राज्य, देश की इकाई के रूप में संचालित होते हैं न कि स्वतंत्र एवं वास्तविक स्वायत्त राजनीतिक संस्थाओं के रूप में। भारत के लिये एक संघीय व्यवस्था का सृजन, देश के लोगों के मध्य क्षेत्रीय, सांस्कृतिक, भाषायी, धार्मिक एवं समाजार्थिक विभिन्नताओं को दर्शाता है। यह इस बात का परिचायक है कि राज्यों के पुनर्गठन में किस प्रकार की विभिन्नतायें थीं। हालांकि यह सत्य है कि राष्ट्रीय नीतियों एवं दलों का राज्यों की व्यवस्था पर गहन प्रभाव होता है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि यह प्रभाव प्रत्येक राज्य पर अलग-अलग तरीके से पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप, राजनीति विज्ञान में राज्यों की राजनीति का अध्ययन एक महत्वपूर्ण क्षेत्र बन जाता है।

भारत की स्वतंत्रता के उपरांत राज्यों की राजनीति का अध्ययन बहुत ही सीमित रहा है तथा इसी वजह से ठोस एवं पद्धतिगत बाध्यतायें, दोनों के लिये विश्लेषण की एक इकाई के रूप में राज्यों की विवेचना एक लंबे समय से उपेक्षा का शिकार रही है।

इस संदर्भ में जो भी अध्ययन किया जाता रहा है, वह सामान्यतया द्वितीयक विषय के रूप में संवैधानिक विधि एवं सांस्थानिक संरचनाओं के रूप में ही रहा है। इसी वजह से, भारतीय राजनीति की विशिष्ट गतिशीलता पर काफी कम प्रकाश डाला गया है।

स्वतंत्रता के पहले दो दशक स्वतंत्रता आंदोलन के राष्ट्रवादी पक्ष की निरंतरता के गवाह रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप, पूरे देश के लिये विकास के लिये राष्ट्रीय स्तर की राजनीति को स्थायी बनाने के प्रयास ही किये जाते रहे हैं। केंद्र के साथ ही राज्यों पर भी कांग्रेस के प्रभुत्व ने राज्यों की राजनीति को व्यापक राष्ट्रीय प्रतिरूप के संदर्भ में परिवर्तित कर दिया था। 1950 एवं 1960 के दशकों में देश के विभिन्न भागों में भाषायी आधार पर राज्यों के गठन हेतु जो जन आंदोलन हुये, उसने राज्यों की राजनीति को थोड़ा आगे बढ़ाया।

टिप्पणी

राज्यों को शक्तियों एवं संसाधनों का संवैधानिक आवंटन काफी हद तक केंद्र सरकार पर निर्भर होता है। इसकी वजह से राज्य सरकारों द्वारा जो कल्याणकारी नीतियां लागू की जाती हैं, उनका विवेकाधीन वित्तीय आवंटन केंद्र सरकार पर निर्भर हो जाता है।

चूंकि कानून एवं व्यवस्था राज्य सूची का विषय है, फिर भी बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं, जहां केंद्र सरकार का ही प्रभुत्व चलता है, जैसे कि केंद्रीय पैरामिलिट्री बलों की तैनाती, आंतरिक अशांति की वजह से होने वाली घटनायें तथा आतंकवादी गतिविधियां इत्यादि।

आंतरिक अशांति की वजह से होने वाली घटनायें तथा आतंकवादी गतिविधियां एवं स्थानीय समूह द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों की वजह से केंद्र सरकार को राज्यों में हस्तक्षेप करने का अवसर काफी सीमा तक मिल जाता है। यह केंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था का परिचायक है।

इसके बावजूद, 1990 के दशक से राजनीति एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था का स्थानांतरण राज्यों की ओर होने लगा था। इससे राज्यों की स्वायत्तता एवं उनकी भूमिका पर काफी प्रभाव पड़ा था। इसके साथ ही इसने सिविल समाजों एवं बाजारू शक्तियों को भी प्रभावित किया था।

स्थानीय लोगों की शासन व्यवस्था को स्थानीय स्वायत्त शासन कहते हैं। इसे 'पंचायती राज' भी कहते हैं। इसका अर्थ है-स्थानीय लोगों की भागीदारी द्वारा स्थानीय शासन की व्यवस्था करना तथा उस व्यवस्था को लोकतांत्रिक बनाना, जिससे समस्या का समाधान भी हो और निचले स्तर तक लोकतांत्रिक ढंग की सरकार की स्थापना हो सके। स्थानीय शासन संविधान की 7वीं अनुसूची में राज्य सूची का विषय है। 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन ने पंचायती राज तथा नगरपालिकाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया है।

इस इकाई में हम भारत में राज्य की राजनीति के उद्‌भव और विकास का अध्ययन करेंगे। इसके अलावा हम भारत में राज्य की राजनीति के सैद्धांतिक ढांचे एवं उससे संबंधित अन्य विभिन्न पहलुओं तथा पंचायती राज्य व्यवस्था का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारत की राजनीति के विभिन्न सैद्धांतिक उपागमों की चर्चा कर पाएंगे;
- भारत में राज्य की राजनीति के अध्ययन से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों की व्याख्या कर पाएंगे;
- भारत में पंचायती राज व्यवस्था की अवधारणा से अवगत हो पाएंगे;
- पंचायती राज व्यवस्था के विभिन्न संस्थानों के बारे में जान पाएंगे;
- पंचायती राज व्यवस्था से संबंधित विभिन्न दृष्टिकोणों से परिचित हो पाएंगे।

टिप्पणी

5.2 राज्य की राजनीति के अध्ययन हेतु सैद्धांतिक ढांचा

यह देखा गया है कि देश के राजनीतिक लोकतंत्र को मुख्य रूप से राज्यों में ही आकार मिला है। इससे भी अधिक, भारत में राज्य अपने राजीनीतिक विश्वास, संरचना, सामाजिक मान्यताओं एवं संपर्क प्रतिरूपों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होते हैं। हालांकि, भारतीय राजनीति के प्रारंभ से ही राज्यों की राजनीति का विषय एक विवाद का मुद्दा रहा है। इसका कारण है कि इसके गठन में विभिन्न राजनीतिक संस्कृतियों का सम्मिश्रण होता है, जिसमें से प्रत्येक के अपने नियम, शैलियां एवं उद्देश्य होते हैं। ये सभी राजनीति को अगल-अलग रूप से प्रभावित करते हैं। प्रायोगिक स्तर पर, भारत के राज्यों ने 1947 में अपने उद्भव के समय से ही यह सिद्ध कर दिया था कि देश की राजनीति में उनकी प्रभावी भूमिका रहेगी।

भारतीय राजनीति के अध्ययन में कोई निश्चित सीमागत उपागम नहीं है। इसके अलावा परिमाण के संबंध में ब्रिटिश एवं अमेरिकी शोधकर्ताओं ने इस पर ज्यादा कार्य किया है। रुचि के दोनों क्षेत्रों के संबंध में तथा प्राविधियों के संबंध में भारतीय राजनीति के बारे में ब्रिटिश एवं अमेरिकी शोधकर्ताओं में काफी अंतर देखा गया है। एक ओर जहां ब्रिटिश या अंग्रेजी लेखकों का सांस्थानिक ऐतिहासिक अध्ययनों के प्रति विशेष जोर रहा है तथा वे काफी हद तक ऐतिहासिक स्रोतों पर निर्भर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर, अमेरिकी अध्ययन समूहों के अध्ययन एवं उनके राजनीतिक व्यवहार, उनके अध्ययन तथा उनके द्वारा अपनाये गये अनुभवजन्य एवं सामाजिक उपागमों से प्रभावित रहा है। इस संबंध में ज्यादा संदेह नहीं है कि विदेशी शोधकर्ताओं या अनुसंधानकर्ताओं का झुकाव भारतीय राजनीति के उन क्षेत्रों की ओर ज्यादा रहा है, जिनके बारे में उन्हें ज्ञान था तथा इसके कारण वे भारतीय राजनीति के उन अनछुये पहलुओं पर भी प्रकाश डाल सके हैं, जिनके बारे में यह माना जाता रहा है कि ये क्षेत्र कम से कम विदेशी अनुसंधानकर्ताओं के लिये अछूते रहे हैं। इसकी वजह से भारतीय राजनीति के अध्ययन का कार्य भेदभावपूर्ण होने का खतरा रहता है। विदित है कि भारतीय राजनीति के अध्ययन के संबंध में सबसे पहला संगठित प्रयास 1961 में अमेरिका के शिकागो में आयोजित एक सेमिनार में किया गया था।

अमेरिकी शोधकर्ताओं की भारतीय राजनीति के संबंध में जागृत होने वाली रुचि स्वयमेव थी। उनकी रुचि के क्षेत्र विशेष रूप से राजनीतिक आधुनिकीकरण की स्थिति एवं तुलनात्मक अध्ययन, राजनीतिक विकास, राजनीतिक समाजीकरण तथा राजनीतिक संस्कृति इत्यादि थे। प्रमुख अमेरिकी शोधकर्ताओं में जैसे कि डब्ल्यू. डब्ल्यू. रोस्टोव, एंड्रयू गंडर फ्रैंक एवं सैमुअल हनिंगटन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी बीच, कुछ ब्रिटिश शिक्षाविदों का झुकाव भी भारतीय राजनीति की ओर हुआ तथा उन्होंने ब्रिटिश शासन के समय लोगों पर भारतीय राजनीति के सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थागत प्रभावों का अध्ययन किया।

माइरोन वेइनर ने भारतीय राज्यों का मामला लिया एवं 1965 में दक्षिण एशिया में औपचारिक वृहद समूहों के गठन का मामला उठाया।

उनकी रुचि भारतीय दलीय व्यवस्था के इतिहास एवं विकास में थी तथा वे यह भी जानना चाहते थे कि पश्चिमी मॉडल से इसमें क्या समानताएं और असमानताएं हैं। विशेष रूप से, उन्होंने अपना ध्यान भारतीय राजनीति के विशिष्ट प्रतिरूप को समझने के लिये इसमें पायी जाने वाली असमानताओं पर लगाया। इस संदर्भ में, यह पुस्तक भारतीय राजनीति के साम्राज्यवादी अध्ययन के संबंध में एक काफी महत्वपूर्ण पुस्तक है क्योंकि यह मुख्यतया साक्षात्कारों एवं क्षेत्रकार्य पर आधारित है। 1966 में, इकबाल नारायन ने यह सुझाव दिया कि भारत के राज्यों की राजनीति को समझने के लिये उसके बारे में आधारभूत ज्ञान, बुद्धिमत्ता, भावपूर्णता एवं भारतीय राजनीति को पूर्णता में समझने की क्षमता होनी चाहिये। उन्होंने यह अनुमान लगाया कि राज्यों की राजनीति का विश्लेषण करने के लिये उन क्षेत्रों पर ध्यान दिया जाना आवश्वयक है, जो सामान्य हैं या जिन क्षेत्रों से आम जनता प्रभावित होती है। परिणामस्वरूप, भारतीय राजनीति का अध्ययन एक बड़े तंत्र या बड़ी इकाई के रूप में किया जाने लगा। ये सभी पुस्तकें सामान्यतया शोधप्रकृति हैं तथा इनमें लिखी बातें सावधानीपूर्वक अवलोकित तथ्यों पर आधारित हैं। इसके साथ ही ये पुस्तकें विशेष संस्थानों के विकास पर केंद्रित हैं।

सैद्धांतिक ढांचा

सामान्यतया भारत में किसी राज्य की राजनीति का सैद्धांतिक अध्ययन का संबंध स्वयं से होना चाहिये तथा इसमें समाज, राजनीति तथा दोनों के गहन संपर्क जैसे मुद्दे शामिल होने चाहिये। हालांकि, भारत के राज्यों को भाषायी आधार पर चिह्नित किया गया है तथापि इसके बावजूद वे निश्चित भाषायी एकरूपता प्रदर्शित नहीं करते हैं। समाज के स्तर पर उनकी विविध और असमान विशेषताओं की पहचान की गयी है। जहां तक उनकी राजनीतिक संरचना का प्रश्न है, यह संविधान में उल्लिखित है कि राज्यों का गठन केंद्र के पक्ष में किया गया है तथा यह अर्द्ध-न्यायिक प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में सहायक होगा।

इसके साथ ही भारत के राज्य, सरकारी मशीनरी के रूप में एक दुविधा की अवस्था में भी पाये जाते हैं क्योंकि एक राज्य में ही विविध प्रकार की भाषायें, संस्कृति, धर्म आदि होते हैं। निर्णयन की अंतर-वैयक्तिक प्रक्रिया में, राज्यों में मतगत तथा राजनीतिक गठबंधन के दर्शन होते हैं तथा यहां राजनीतिक नियमों में विरूपण दिखाई देता है।

जब हम भारत में राज्यों की राजनीति एवं प्रशासन के संबंध में अध्ययन करते हैं तो हमें विभिन्न अवधारणाओं (approache) का पालन करना पड़ता है। इनमें से कुछ की चर्चा नीचे की गयी है-

1. औपचारिक सांस्थानिक अवधारणा

भारत के राज्यों में राजनीति एवं प्रशासन की व्याख्या करने के क्रम में, यह अवधारणा राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीतिक प्रतिमानों का विश्लेषण करती है। इसमें अध्ययन किये जाने वाले राज्य विशेष की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं विकास का उल्लेख पाया जाता है। संवैधानिक ढांचे के अंतर्गत राजनीतिक एवं कार्यात्मक प्रक्रिया को समझने के लिये यह आवश्यक होता है। इसकी सहायता से हम राजनीतिक गतिकी (political dynamics), नीतियों एवं प्रशासनिक व्यवस्था के साथ ही समाज का एक पर्याप्त वर्णन प्राप्त कर सकते

हैं। इसमें उपनिवेशवाद की नौकरशाही गाथा का विवरण भी प्राप्त होता है। इससे हम यह जान पाते हैं कि उस दौर में राजनीति एवं नौकरशाही का स्वरूप कैसा था तथा राजनीति में किस प्रकार का व्यवहार सर्वाधिक उपयुक्त होता है। इसके साथ ही यह तत्कालीन सामंती प्रतिरूप पर भी प्रकाश डालता है, जो कि भारत के कुछ भागों में काफी प्रचलित था। इसके साथ ही यह इस बात को भी बताता है कि पूरे भारत में किस प्रकार जातिगत राजनीति का प्रसार हुआ तथा यह दिन-प्रतिदिन सुदृढ़ होती गयी।

यह अवधारणा या दृष्टिकोण राज्यों के औपचारिक, संवैधानिक एवं विधिक प्रतिरूप पर बल देता है। पूरे देश के लिये एक एकल एवं लिखित संविधान, देश के सभी राज्यों को एक शरीर के अंगों की तरह व्यवहृत करता है तथा केंद्र के साथ ही राज्यों के स्तर पर भी एकरूपता स्थापित करता है।

राज्य सरकारें संघ की संसदीय शासन व्यवस्था के मॉडल की प्रतिकृति होती हैं। यह संस्थाओं की संरचनात्मक एवं प्रक्रियागत विशेषताओं को संतुलित रूप से व्यवहृत करता है तथा भारत की राजनीतिक व्यवस्था में भी व्यावहारिक समानता को प्रदर्शित करता है।

फिर भी, राष्ट्रीय राजनीतिक संस्थानों और प्रक्रिया के एक एकीकृत प्रतिबिंब के उपरांत भी, भारत की राजनीति बहुरंगी है तथा काफी हद तक राज्य एवं स्थानीय मुद्दों से प्रभावित होती है। इस संबंध में कोई भी तार्किक ढंग से तमिलनाडु का उदाहरण दे सकता है। उदाहरण के लिये, यहां राजनीति की कई विचारधाराओं वाले दल हैं। इसी प्रकार यदि हम उत्तरप्रदेश की चर्चा करें तो हम देखते हैं कि राज्य की राजनीति काफी हद तक जातिगत मुद्दों पर आधारित होती है तथा यहां के राजनीतिक दल भी जातिगत आधार पर राजनीति करते नजर आते हैं। लेकिन जब भारतीय राजनीति पर गहनता से विचार किया जाता है तो हम देखते हैं कि इसमें कई गंभीर खामियां हैं तथा इसका विधिक-औपचारिक विश्लेषण भी यह दर्शाता है कि भारत की राजनीति काफी हद तक जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद, भाषावाद आदि से प्रभावित रहती है। यह अत्यंत औपचारिक एवं आदर्शवादी भी है, इसी वजह से अक्सर यह केवल उस बात की जानकारी देती है, जो वास्तव में बहुत अच्छे रूप में हुआ है। यह स्थिर है तथा यह ऊर्जावान एवं विकासात्मक स्थिति की समझ में सहायक नहीं होती है। यह मात्र विधिक संरचना पर ही अपना ध्यान केंद्रित करती है, जो कि अक्सर ऐसी राजनीतिक गतिविधियों से काफी पृथक होती है, जो उसके मूल में संपन्न होती है। यह एकात्मक रूप से असंबद्ध तुलनात्मक विधि को प्रोत्साहित करती है, जो कि उन समानताओं एवं असमानताओं पर अपना ध्यान केंद्रित करती है, जो कि कई बार भाषायी समानताओं एवं असमानताओं से ज्यादा होते हैं।

विधिक उपागत की प्रक्रिया बिल्कुल स्पष्ट होती है। इससे संबंधित आंकड़े आसानी से उपलब्ध हैं। सामान्यतया ये स्पष्ट होते हैं तथा इसकी प्राविधि काफी ज्ञात होती है।

एक व्यापक विश्लेषण में केंद्र एवं राज्यों, दोनों के स्तर पर संगठनात्मक और विविध वैचारिक शक्तियों के अध्ययन शामिल होते हैं।

उदाहरण के लिये, देश के कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जहां कि अधिकांश शांत राजनीतिक परिवर्तन, संक्रमण एवं विकास हुआ (जैसे कि तमिलनाडु)। लेकिन दूसरी

ओर कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जहां का राजनीतिक विकास तीव्र हिंसा का गवाह रहा है (जैसे कि पंजाब, असम इत्यादि)। कुछ राज्य ऐसे हैं, जहां दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों ने शासन किया (जैसे-गुजरात एवं मध्यप्रदेश), दूसरी ओर कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जहां वामपंथी राजनीतिक दलों ने शासन किया (जैसे केरल एवं पश्चिम बंगाल)।

शोधकर्ताओं का कहना है कि राज्यों के स्तर पर आंदोलनों एवं विचारधाराओं का राजनीतिक इतिहास, संस्थाओं एवं संगठनों की तुलना में ज्यादा स्थायी रहा है।

2. संरचनात्मक कार्यात्मक विश्लेषण

इस अवधारणा के अनुसार, समाज एक जटिल तंत्र है, जिसके सभी अंग सुदृढ़ता एवं स्थायित्व को प्रोत्साहित करने के लिये आपस में मिलकर कार्य करते हैं। यह उस मार्ग या तरीके को समझने का प्रयास करता है, जिसके अंतर्गत कोई राजनीतिक समूह एक जटिल राजनीतिक व्यवस्था के भीतर कार्य करता है। भारत में राज्य की राजनीति के अध्ययन में संरचनात्मक कार्यात्मक विश्लेषण उनके इरादे से अलग-अलग तरीकों से पृथक राजनीतिक गतिविधि के वास्तविक प्रभावों का अध्ययन का सुंअवसर प्रदान करता है।

इसीलिये, उपनिवेशवाद के कई सदियों के लंबे शासन के उपरांत भी भारत के संविधान निर्माताओं का यह प्रयास रहा है कि भारत को एक अच्छे लोकतंत्र के रूप में स्थापित किया जाये।

यह अवधारणा, औसत राजनीतिक हित एवं ऐसी नीतियों के निर्माण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती है, जो सभी के लिये स्वीकार्य हो। मॉरिस जोंस के अनुसार, ''भारतीय राजनीतिक व्यवहार का केवल एक प्रतिरूप है तथा इसमें कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ कुछ विशिष्ट पश्चिमी प्रतिरूपों का सम्मिलन भी आवश्यक है। ये प्रतिरूप इतिहास एवं सामाजिक जीवन से संबंधित हैं। यद्यपि, इसके अलावा भारतीय राजनीतिक व्यवहार के कुछ धार्मिक परिप्रेक्ष्य भी हैं, जिनका दर्शन गांधीजी की विचारधारा में दिखाई पड़ता है।''

वे यह भी कहते हैं कि ऐतिहासिक-संस्थागत अवधारणा के सिद्धांतों को स्वीकार करने में कुछ असुविधायें भी होती हैं लेकिन, किसी भी अवस्था में बाह्य कारकों को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इनमें कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य वांछनीय होते हैं।

यह दृष्टिकोण सिद्धांत के विस्तार पर बहुत अधिक बल देता है। यह विकासशील प्रणालियों की गतिशीलता की समझ के लिये एक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है तथा और औपचारिक तथा पश्चिमी मॉडलों को आरोपित करने से बचता है। इसका कारण यह है कि इन दोनों की विभिन्न विधिक एवं ऐतिहासिक-संस्थागत कमियों को हम पहले ही देख चुके हैं।

हालांकि, यह बात निष्पक्ष है कि व्यवहारवाद के बावजूद भी यह राजनीतिक विकास, आधुनिकीकरण या पश्चिमीकरण के सिद्धांतों को मानता है। ये सभी वे कारक हैं, जो कुछ न कुछ कमियों के साथ समाप्त होते हैं। साथ ही इनमें परंपरागत दृष्टिकोणों की तुलना में स्थिरता कम पायी जाती है।

भारतीय राजनीति विज्ञान के छात्र, माइरोन वेइनर के व्यवहारवादी दृष्टिकोण से काफी प्रभावित होते हैं। इसकी झलक उनकी पुस्तकों 'द पालिटिक्स आफ द डवलपिंग एरियाज एंड पालिटिकल पार्टीज एंड पालिटिकल डवलपमेंट' (1966), 'द पालिटिक्स ऑफ स्केयरसिटी' (1962) एवं 'पालिटिकल चेंजेंज इन साउथ एशिया' (1963) आदि में देखी जा सकती है।

लोकतंत्रीकरण का अभिप्राय है-सामान्य रूप में जनसामान्य की राजनीति में बढ़ती सहभागिता एवं जनसामान्य की राजनीतिक गतिविधयों में बढ़ती भागीदारी एवं रुचि।

लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया की इस शुरुआत ने 1960 के दशक में समाज के निचले तबके को गहराई से प्रभावित किया तथा तब से आज तक यह अनवरत रूप से जारी है। इस प्रक्रिया के प्रभावस्वरूप, भारत का परंपरागत एवं अर्द्ध-सामंती समाज स्वतंत्रता एवं समानता की ओर उन्मुख हुआ।

राष्ट्रीय स्तर की राजनीति के नेता अब इस बात को महसूस करने लगे हैं कि आज धार्मिक, जातीय एवं सामुदायिक समूहों के समर्थन के बिना चुनावों में विजय प्राप्त करना असंभव है।

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार व्यवस्था, जो कि भारतीय लोकतंत्र की एक प्रमुख पहचान है, कार्यकारी एवं विधायी दोनों शक्तियों को प्रभावित करने में गहरी भूमिका निभाती है।

लोकतंत्रिक राजनीति का यह स्वभाव रहा है कि वह जाति एवं वर्ग के अंतरों को उजागर करे तथा चुनावों में राजनीतिक सहभागिता को बढ़ाये। यह सभी सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार पर ही निर्भर होता है। प्रशासन की प्रक्रिया में जनता की सहभागिता लोकतंत्र का एक आभूषण माना जाता है। लोकतंत्र में ही इस विशेष संस्कृति का प्रसार होता है तथा यह राजनीतिक दलों को राज्योन्मुख बनाता है। यह व्यवस्था व्यावहारिकता को इस प्रकार स्थापित करती है, जिससे कि इसमें जनसामान्य की सहभागिता और बढ़े तथा निर्णयन के सभी स्तरों पर उनका सहयोग एवं समर्थन हो।

इसके बावजूद, राज्यों के स्तर पर उच्च एवं सघन राजनीतिक सहभागिता के लिये लोकतंत्रीकरण का होना आवश्यक है तथा यही लोकतंत्र के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक होती है। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार तथा राज्य नीति के निर्देशक तत्व स्वतंत्र एवं समतामूलक समाज की स्थापना के लक्ष्यों को सुनिश्चित करते हैं तथा राज्यों के स्तर पर इसी प्रकार के प्रावधान करते हैं।

संविधान में उल्लिखत राष्ट्रीय, राज्य एवं स्थानीय स्तर पर शासन की प्रकृति, स्वरूप में संसदीय एवं संघीय होनी चाहिये। संविधान की छठवीं अनुसूची में असम, मेघालय, त्रिपुरा एवं मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों के लिये स्वायत्त जिलों एवं क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना का प्रावधान किया गया है। इसी प्रकार, संविधान की पांचवीं अनुसूची में भारत के अन्य जनजातीय क्षेत्रों के लिये प्रशासन एवं परामर्शदात्री परिषदों की स्थापना का प्रावधान है। ये परामर्शदात्री परिषदें इस प्रकार गठित की जाती हैं, कि इसके तीन-चौथाई (लेकिन 20 से अधिक नहीं) सदस्य राज्य विधानसभा के जनजातीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हों।

टिप्पणी

लैंगिक समानता के क्रम में संविधान का 73वां एवं 74वां संशोधन (1992-93) पंचायतों एवं नगर निकायों में महिलाओं के लिये 33 प्रतिशत कार्यकारी पदों का प्रावधान करता है।

भारत में राज्यों की राजनीति की जटिलता एवं विविधता की वजह से ही इसमें युक्तियुक्त एवं संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता परिलक्षित होती है। भारत में राज्यों की राजनीति के विस्तृत विश्लेषण के लिये, संरचनात्मक इकाई एवं कार्ययात्मक आवश्यकता के लिये भी यह जरूरी है।

राजनीति वैज्ञानिकों के बीच इस बात पर आम सहमति रही है कि कल्पनाशील राजनीतिक समुदायों के रूप में राज्यों के उदय ने राजनीतिक क्षेत्रीयता को तीव्र कर दिया है तथा इस कार्य के लिये इसे बड़ी राष्ट्रीय इकाइयों या उप-क्षेत्रीय समुदायों के उदय की प्रक्रिया को बाधित करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती है।

3. मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण या उपागम

मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण की एक मुख्य विशेषता यह है कि यह औपचारिक विधिक या सांस्थानिक संरचनाओं के विवरण या राजनीतिक व्यवहार की तुलना में विवरण या विश्लेषण से ज्यादा संबंधित होता है तथा इस प्रकार यह कभी-कभी विधिक एवं ऐतिहासिक-संस्थागत दृष्टिकोणों में संतुलन भी स्थापित करता है। वास्तव में यह, फील्ड वर्क एवं धैर्यपूर्ण निरीक्षणों पर आधारित होता है तथा इसी वजह से यह लोकतांत्रिक स्रोतों की कमियों के साथ ही नयी जटिल अवधारणाओं से भी मुक्त होता है।

यह जानना महत्वपूर्ण है कि राजनीति के सबसे निचले स्तर पर क्या हो रहा है। मानवशास्त्री हमें इसके बारे में विस्तृत जानकारी देते हैं। हालांकि उनके कार्य पूर्णतया सीमित होते हैं क्योंकि वे कुछ निश्चित एवं छोटे समुदायों के बीच ही कार्य करते हैं। वे औपचारिकतावाद का अत्यंत समर्थन करते हैं तथा राष्ट्रीय राजनीति के कई अध्ययनों की विविधता का भी अनुसरण करते हैं।

मानवशास्त्री हमें इस बात को अच्छी तरह से बता सकते हैं कि स्थानीय स्तर पर राजनीतिक आधुनिकीकरण की दिशा में तनाव के क्या कारण हैं। वैसे अभी तक किसी भी मानवशास्त्री ने इस संबंध में यह नहीं बताया है कि राष्ट्रीय राजनीति में स्थानीय कारकों की भूमिका किस प्रकार की होती है तथा इस स्तर पर इनकी गतिकी की क्या सीमायें हैं।

अकेले मध्यस्थता वाले स्तर को यदि छोड़ दिया जाये, जहां छोटे समुदायों की राजनीति और राष्ट्रीय समुदाय, पारंपरिक और आधुनिक, सब निरंतर एवं अंतरंग संपर्क में आते हैं।

भारतीय राजनीतिक मानवशास्त्रियों के लिये वास्तविक आवश्यकता यह है कि वे राष्ट्रीय से लेकर स्थानीय तक सभी स्तरों पर राजनीतिक व्यवहार एवं संस्थाओं का परीक्षण करें। यह परीक्षण गांवों से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक का होना चाहिये, जो कि समाज के सभी वर्गों से संबंधित हो तथा उसे समाजार्थिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया गया हो।

मानवशास्त्री एफ.जी. बैलरी ने भारतीय राजनीति को समझने में अपना प्रमुख योगदान दिया है, उनकी तीन पुस्तकों-'कास्ट एंड इकोनामिक फ्रंटियर' (1957), 'ट्राइब्स, कास्ट एंड नेशन' (1960) एवं 'पालिटिकल एंड सोशल चेंज-ओडिशा'

(1963) ने इस संबंध में कई महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला है। उनकी ये पुस्तकें एक गांव से लेकर एक राज्य तक राजनीतिक विषयों के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं तथा राजनीति के विभिन्न अनछुये पहलुओं को उजागर करती हैं।

उनके कार्य भारतीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न कारकों की जानकारी के लिये अत्यंत उपयोगी हैं। भारत में राज्यों की राजनीति के अध्ययन के लिये कई सिद्धांतों का भी उपयोग किया गया है। यहां हम इनसे संबंधित सामंतवादी सिद्धांत एवं राज्य सक्षमता सिद्धांत की चर्चा करेंगे।

(क) संघीय सिद्धांत

संघीय सिद्धांत, राजनीतिक व्यवस्था की प्रत्येक इकाई में स्वायत्त राजनीतिक इकाई की कम या ज्यादा रूप में व्यवहार्यता को स्वीकार करता है। इसका मानना है कि राज्य इकाइयों की राजनीतिक क्षमता प्रशासन के स्तर पर केंद्र के समान होनी चाहिये, जिससे कि वे भी अपने मामलों का निस्तारण उसी प्रकार कर सकें, जिस प्रकार केंद्र करता है।

भारत का संविधान, देश में सरकार के लिये संसदीय के साथ ही संघीय विशेषताओं वाली व्यवस्था का उपबंध करता है। हालांकि, संसदीय विशेषताओं वाले संविधान के लागू होने के इतने वर्षों बाद भी केंद्र में निरंतर कांग्रेस की एकदलीय सरकार रहने के कारण प्रायोगिक रूप में संघीय शक्तियां ही प्रभावी रही हैं।

भारत में संघवाद की दिशा में थोड़ा परिवर्तन 1990 के दशक के बाद से आना प्रारंभ हुआ, जब एक-एक करके विभिन्न राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें सत्ता में आने लगीं। इसके अलावा कुछ और भी घटनायें ऐसी हुई, जब राज्यों के स्तर पर स्थानीय दलों का प्रभाव बढ़ने लगा। इन घटनाओं में प्रमुख हैं-पंजाब के अकाली दल के साथ राजीव गांधी-लोंगोवाल समझौता, असम में असम गण परिषद से समझौता, मिजोरम में मिजो नेशनल फ्रंट से समझौता एवं त्रिपुरा में त्रिपुरा नेशनल वालेंटियर्स के साथ समझौता इत्यादि।

गठबंधन व्यवस्था में, राष्ट्रीय दलों की तुलना में क्षेत्रीय दलों की शक्ति ज्यादा होती है, क्योंकि उनके समर्थन के बिना राष्ट्रीय दल सत्ता में आने और बने रहने की बात सोच भी नहीं सकते। यह भी हो सकता है कि देश के विभिन्न राज्यों में संघीय स्वायत्तता की उपलब्धता में अंतर भी हो सकता है।

देश का संघवादी चरण, अप्रत्याशित स्वायत्तता एवं राज्यों की शक्ति में हो रही वृद्धि का गवाह रहा है। राजनीतिक अनुभव यह सुझाव देता है कि राज्यों की राजनीति में आत्म-मुखरता की भावना में धीरे-धीरे वृद्धि होनी चाहिये। इसके अनुसार, राज्यों को कई क्षेत्रों, जैसे कि कृषि विकास, शिक्षा एवं ग्रामीण कराधान आदि में पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिये लेकिन इसके साथ ही उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में केंद्र द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता या अनुदान निरंतर मिलते भी रहना चाहिये। इस परिप्रेक्ष्य में कई राज्यों को 'विशेष सहायता प्राप्त राज्य' का दर्जा दिया जाना भी एक अच्छा कदम है।

(ख) राज्य सक्षमता सिद्धांत

राज्य सक्षमता सिद्धांत को सरकार की उस क्षमता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें वह अपने द्वारा प्राप्त किये जाने वाले उद्देश्यों या लक्ष्यों का निर्धारण स्वयं करें। उन उद्देश्यों का निर्धारण सामाजिक संपर्क को बढ़ाने के लिये लिखित संविधान के

टिप्पणी

प्रावधानों (भारत के मामले में) के अनुरूप किया जाना चाहिये। इसके द्वारा ही समतामूलक समाज की स्थापना की जा सकती है। राज्य जीवन की रक्षा, स्वतंत्रता, युक्तियुक्त रूप में संपत्ति का आवंटन इत्यादि के संबंध में उचित नियम-कानून बना सकते हैं। ये सभी तत्व सुशासन (good governance) के महत्वपूर्ण संकेतक हैं।

राज्य सरकारों द्वारा अन्य लक्ष्यों का निर्धारण संविधान के प्रावधानों एवं नियमों, पंचवर्षीय योजनाओं, राष्ट्रीय नीति प्राक्कथनों, लोक नीतियों, चुनावी घोषणा-पत्रों, बजट, व्यवस्थापिका में विचार-विमर्श, राष्ट्रीय विकास परिषद की मीटिंग में भागीदारी इत्यादि के आधार पर किया जा सकता है।

1991 में आर्थिक सुधार लागू किये जाने के उपरांत, राज्य के मुख्यमंत्रियों एवं उनकी सरकारों को राज्य स्तरीय सुधारों को लागू किये जाने की दिशा में काफी स्वतंत्रता मिली है। यह भी कहा जाता है कि वैश्वीकरण ने जहां एक ओर केंद्र की स्थिति को कमजोर किया है, वहीं दूसरी ओर इसने राष्ट्रीय स्तर पर राज्यों की स्वायत्त भूमिका को बढ़ाया भी है।

यह राज्य सरकारों का भी दायित्व है कि वे सतत आर्थिक विकास को सुनिश्चित करने के लिये निजी पूंजी निवेश को आकर्षित एवं प्रोत्साहित करें। वे राज्य जो हस्तक्षेपकर्ता के रूप में कार्य करते हैं, उन्हें चाहिये कि वे स्वयं को विकास के नियामक सुविधाकर्ता के रूप में परिवर्तित करें।

आर्थिक सुधारों के उपरांत भी, यह बात भी सत्य है कि इससे कुछ राज्यों को तो ज्यादा लाभ हुआ है तो कुछ को कम। वास्तव में, उदारीकरण के परिणामस्वरूप, कुछ विशेषज्ञ यह महसूस करते हैं कि इससे राज्यों के बीच असमानता में वृद्धि हुई है। इससे कुछ राज्य ज्यादा उन्नत हो गये हैं तथा कुछ पिछड़ गये हैं।

सुशासन की जांच के लिये हम कुछ मानकों का प्रयोग कर सकते हैं, जैसे कि विधायिका के प्रति सरकार की जबावदेही, लोगों के प्रति प्रशासन की जबावदेही, मानव विकास, निर्धनता उन्मूलन, अर्थव्यवस्था के लिये नियामक कार्यों की गुणवत्ता, विधि का शासन एवं सरकार की स्थिरता। इन मानकों के प्रति राज्यों के प्रदर्शन को मात्रात्मक सांख्यिकी या गुणात्मक साक्ष्यों द्वारा सहयोग प्रदान किया जाना चाहिये।

राज्य समर्थता सिद्धांत, राज्यों के विभिन्न मामलों की व्याख्या करने से कहीं आगे जाकर उनके विभिन्न कारकों का वर्णन करता है तथा उनकी प्रेरकता को स्पष्ट करता है। इसकी सहायता से हम आसानी से यह समझ सकते हैं कि किस प्रकार बिहार, गुजरात, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश जैसे राज्यों ने सकल घरेलू उत्पादों के विकास में महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल की, जबकि अन्य राज्य जैसे कि पंजाब एवं हरियाणा किस प्रकार इस मामले में पीछे रह गये।

राज्य लंबे समय तक उपेक्षित रहे तथा देश की राजनीतिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग होने के बावजूद लंबे समय तक इस दिशा में प्रयास नहीं किये गये थे। राज्य भारत में लोकतंत्र के आधार हैं तथा देश की निर्माण की अभिन्न इकाइयां हैं। भारत में राज्यों की राजनीति के अध्ययन के लिये इनके सैद्धांतिक ढांचे को समझना अत्यंत आवश्यक है। इस संबंध में इकबाल नारायण द्वारा व्यवस्थित रूप में राज्यों की राजनीति को समझाना तथा माइरोन वेइनर द्वारा राज्यों को देश की संवैधानिक इकाइयों के रूप में व्यवहृत करने के प्रयास इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण रहे हैं।

इस संबंध में औपचारिक सांस्थानिक अवधारणा, संरचनात्मक कार्यात्मक विश्लेषण तथा मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने लाया गया है। इसके साथ ही संबंध में सांस्थानिक दृष्टिकोण एवं राज्य समर्थता सिद्धांत भी प्रस्तुत किया गया है। ये सभी दृष्टिकोण एवं सिद्धांत छात्रों के साथ ही शोधकर्ताओं के लिये उपयोगी हैं, विशेष रूप से जो भारत में राज्यों की राजनीति का अध्ययन करना चाहते हैं या इस संबंध में रुचि रखते हैं। यह विकासशील भारतीय राजनीति की समझ में सहायता पहुंचाते हैं।

विश्लेषण के प्राथमिक स्तर पर, राज्यों को प्रमुख इकाई के रूप में मान्यता दिया जाना, राज्यों की स्वायत्त इकाई के रूप में उन्नयन की मंशा को परिलक्षित करता है। अब यह माना जाने लगा है कि यदि भारतीय राजनीति को समझना है तो उसके लिये राज्यों की राजनीति को समझना आवश्यक है।

इस संदर्भ में, राय एवं पांडे के अनुसार, "राजनीति विज्ञान के छात्रों को यदि भारतीय राजनीति का संपूर्णता में अध्ययन करना है तो वे इस विषय की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इनके अनुसार, छात्र जब तक भारत के राज्यों की राजनीति का अवलोकन नहीं करेंगे, वे भारत की राजनीतिक व्यवस्था को संपूर्णता में समझने में असफल रहेंगे। ऐसा करके ही इस विषय को व्यवहारगत एवं तुलनात्मक रूप में समझा जा सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. लैंगिक समानता के क्रम में संविधान का 73वां एवं 74वां संशोधन पंचायतों एवं नगर निकायों में महिलाओं के लिए कितने प्रतिशत कार्यकारी पदों का प्रावधान करता है

   (क) 30 प्रतिशत (ख) 33 प्रतिशत

   (ग) 37 प्रतिशत (घ) 40 प्रतिशत

2. भारतीय राजनीति को समझने में अपना प्रमुख योगदान निम्न में से किसने दिया?

   (क) एफ.जी. बैलरी (ख) माइरोन वेइनर

   (ग) राय एवं पांडे (घ) इकबाल नारायण

5.3 पंचायती राज्य व्यवस्था और राज्य की राजनीति पर इसका प्रभाव

संविधान के अनुच्छेद 40 के अंतर्गत पंचायती राज व्यवस्था को राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में रखा गया है। 1952 में भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम शुरू किया गया लेकिन आम जनता को इस कार्यक्रम का ज्यादा लाभ नहीं मिल पाया।

पंचायतें वे महत्वपूर्ण संस्थान हैं, जिनके माध्यम से भारत जैसे विशाल और विविधताओं वाले देश में प्रशासन आम लोगों तक पहुंचता है तथा स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय लोगों के स्थानीय अधिकार द्वारा ही की जाती है। यही सच्चे लोकतंत्र और पंचायती राज का सारतत्व है। शाब्दिक दृष्टि से पंचायती राज शब्द हिन्दी भाषा के

टिप्पणी

दो शब्दों पंचायत और राज से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है- पांच जनप्रतिनिधियों के समूह का शासन।

किसी पंचायत का मूल अर्थ पंचों की एक ऐसी संस्था है, जिसके सदस्य गांव के लोंगो द्वारा निर्वाचित होते हैं या चुने जाते हैं और जिन्हें उस गांव की सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों के निर्देश को और ग्रामीण समुदाय से सम्बन्धित विवादों पर निर्णय देने वाले न्याय कलाओं के रूप में स्वीकार किया जाता है। पंचायत गांव की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों में अपनी अनिवार्य भूमिका के कारण हमारी प्रजातांत्रिक संस्थाओं की मेरुदण्ड हैं।

परिभाषा

स्थानीय स्वशासन का आशय स्थानीय स्तर की उन संस्थाओं से हैं जो जनता द्वारा चुनी जाती हैं तथा जिन्हें राष्ट्रीय व प्रांतीय शासन के नियंत्रण में रहते हुए नागरिकों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकार और दायित्व प्राप्त होते हैं।

स्थानीय स्वशासन की इकाइयां सीमित क्षेत्र में प्रदत्त अधिकारों का उपयोग करती हैं। वे सम्प्रभु की तरह नहीं होतीं। भारत में ये संस्थाएं राज्य विधान मण्डल द्वारा बनाई गयी विधि की सीमा में काम करती हैं और विधि द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उपयोग करती हैं।

महत्व

निचले स्तर की शक्ति सम्पन्न इकाइयों को स्थानीय संस्थाएं कहा जाता है, जबकि स्थानीय लोगों द्वारा स्वशासन की व्यवस्था को स्थानीय स्वायत्त शासन कहते हैं। स्थानीय स्वायत्त शासन के दो मूलभूत आधार हैं-

(1) यह व्यवस्था शासन को निचले स्तर तक लोकतांत्रिक बनाती है और

(2) स्थानीय लोगों को सत्ता में भागीदार बनाकर उन्हें शासन की कला का ज्ञान कराती हैं और उनकी राजनीतिक समझ को परिपक्व बनाती हैं।

पंचायती राज संस्थायें केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को स्थानीय समस्याओं के भार से मुक्त करती हैं।

पंचायतें प्रजातन्त्र की प्रयोगशाला हैं। ये नागरिकों को अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग की शिक्षा देती हैं।

इन संस्थाओं के माध्यम से जनता तथा शासन के बीच की दूरी कम हो जाती है। इसीलिए जयप्रकाश नरायण ने पंचायती राज को देशी और प्राचीन 'सामुदायिक लोकतन्त्र' के समान बताया और साथ ही इसे पश्चिम के ''जनता को हाथ बंटाने का अवसर लोकतंत्र" से भी आधुनिक बताया।

पंचायती राज संस्थाओं का ऐतिहसिक विकास

पंचायती राज संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास को निम्न प्रकार से समझ सकते हैं–

वैदिक काल

वैदिक काल के आरंभ में ग्राम का प्रबंध गांव के मुखिया द्वारा होता था, जिसे ग्रामिणी कहा जाता था। गांव की चौपाल पर इससे सभी सदस्य बैठकर चर्चा करते थे। वैदिक

टिप्पणी

काल में सभा होती थी, जिसमें प्रत्येक नागरिक भाग लेता था, जहां राजा भी डरता हुआ जाता था कि कहीं उसे पदच्युत या मुअत्तिल न कर दिया जाए।

महाकाव्य काल

उत्तर वैदिक काल में, रामायण एवं महाभारत में भी पंचायतों की महत्वपूर्ण स्थिति देखने को मिलती है। ग्राम के शासक को ग्रामिणी की जगह ग्रामिक कहा जाने लगा।

बौद्ध काल में पंचायतों के बारे में जातक कथाओं से पता चलता है कि ग्राम के शासक को ग्राम भोजक कहा जाता था। सभा ग्राम संगठन का एक मनोरंजक और महत्वपूर्ण अंग थी, जिसमें ग्राम के वृद्ध बैठते थे, जो कुटुम्ब के सबसे बड़े-बूढ़े हुआ करते थे। उस समय ग्राम सभा के मुख्य कार्य थे- न्याय करना, गांव की आंतरिक सुरक्षा, सरकारी मकान, घाट, मंदिर तालाब, कुएं बनवाना, कर वसूल करना तथा शिक्षा आदि।

मौर्यकाल व गुप्तकाल

कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र में ग्राम पंचायतों की स्थानीय शासन एवं न्याय व्यवस्था में भूमिका का उल्लेख करते हुए लिखा है कि स्थानीय विवादों का निर्णय ग्राम वृद्धों एवं सामंतों द्वारा किया जाता है। यदि ग्राम वृद्ध या सामन्त किसी विवादास्पद विषय पर निर्णय लेने में मतभेद रखते हैं तो उस स्थान की जनता की अनुमति से वहां के धार्मिक पुरुष उस विषय पर निर्णय लेते हैं अथवा मध्यस्थ को नियत कराकर उससे निर्णय करवाया जा सकता है।

गुप्तकालीन व्यवस्था में भी ग्राम पंचायत का अत्यधिक महत्व था। उस समय यद्यपि राजवंशी प्रणाली थी, लेकिन शासन का विकेन्द्रीकरण विभिन्न स्तरों पर किया गया था। ग्रामीण मामलों के प्रबंध हेतु एक पदसोपानिक पंचायती व्यवस्था विद्यमान थी।

पंचायती व्यवस्था का सर्वथा परिष्कृत स्वरूप दक्षिण भारत में विशेषतया चोल शासन में दिखाई देता है। चोल अभिलेखों में स्थानीय स्वशासन की मौलिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णन मिलता है। कोट्म (गांव) से लेकर मण्डल (प्रांत) तक स्वशासन की संस्थाएं थीं जो प्रशासन का कार्य देखती थीं वलनाड़ (बड़े प्रदेश) की सभा नगस्तार और नाडु (जिले) में कार्यरत संस्था नाट्र कहलाती थी।

मेगस्थनीज के अनुसार 'भारतीय ग्राम छोटे-छोटे आत्मनिर्भर गणराज्य थे।' मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगर स्वशासन का विवरण अपनी पुस्तक ''इण्डिका'' में दिया है।

उल्लेखनीय है कि सिकंदर के भारत पर आक्रमण के समय (326 बी सी) उसके यूनानी लेखकों ने पंजाब में नगरीय शासन का उल्लेख किया है। नगर प्रमुख ''सर्वथा चिंतन'' नामक अधिकारी होता है।

चाणक्य ने अर्थशास्त्र में पाटलिपुत्र में नगरीय शासन की संस्था ''पौरा जनपद'' का उल्लेख किया है। इसका प्रमुख ''नागरिक'' था।

मुगलकालीन व्यवस्था

मुस्लिम काल में मुस्लिम राजाओं ने पंचायत व्यवस्था में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। संपूर्ण मुगल प्रांत अनेक सरकारों तथा जिलों में बंटा हुआ था।

टिप्पणी

आधुनिक काल (आजादी से पहले)

प्रथम चरण (1687-1881)

आधुनिक भारत में स्वाधीनता से पूर्व ही ब्रिटिश शासन के समय में ही पंचायतें स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में आयी थीं परन्तु उन्हें उस समय सरकार के नियंत्रण में कार्य करना पड़ता था।

- 1687 में मद्रास में एक नगर निगम की स्थापना की गयी। ब्रिटेन में प्रचलित संस्था के अनुसार इसे कुछ कर लगाने का अधिकार दिया गया।
- 1726 में नगर निगम के स्थान पर नगराध्यक्ष के न्यायालय की स्थापना की गयी। उसका स्वरूप प्रशासनिक न होकर न्यायिक अधिक था।
- 1793 के अधिकार पत्र के द्वारा मद्रास, बम्बई और कोलकता के तीन महाप्रान्तीय नगरों में नगर प्रशासन की स्थापना की गयी।
- 1842 में बंगाल अधिकार द्वारा बंगाल के सभी जनपदीय नगरों में भी नगर प्रशासन का विस्तार कर दिया गया
- 1870 में लार्ड मेयो ने भारत में स्थानीय स्वशासन लागू करने की अनुशंसा की, जिसके अनुसार पश्चिमी बंगाल में लागू किया गया था।

द्वितीय चरण (1882-1919)

- वर्ष 1821 में एल्फिन स्टोन ने ग्राम पंचायतों के महत्व को स्वीकार करते हुए उनकी शक्तियों को सीमित करने को अनुचित ठहराया। वर्ष 1857 में ग्रामीण स्वायत्तशासी निकायों को कुछ महत्व प्रदान करते हुए कुछ राज्यों में जिला कोषों की स्थापना की गई तथा ग्रामीण प्रशासन को भू-राजस्व, शिक्षा एवं पथ कर लगाने के अधिकार प्रदान किए गए। वर्ष 1882 में लॉर्ड रिपन ने ग्रामीण क्षेत्रों में बोर्ड अथवा मण्डलों की स्थापना का सुझाव दिया। वर्ष 1884 में चेन्नई एवं बंगाल में यूनियन पंचायतों के संबंध में कार्रवाई एक उल्लेखनीय प्रयास था।
- 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि नेताओं ने ग्रामीण जनता को उसकी प्राचीन ग्राम पंचायतों तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण समाज व्यवस्था की याद दिलाई। वर्ष 1907 में अंग्रेजों ने विक्रेन्द्रीकरण के लिए शाही आयोग गठित किया। वह देशभर में घूमा और उसने पंचायतों की स्थापना का सुझाव दिया। 1910 में इलाहाबाद में आयोजित अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के दौरान ब्रिटिश सरकार के समक्ष ग्राम पंचायतों की स्थापना की मांग रखी गई।
- वर्ष 1915 की शासकीय रिपोर्ट में पंचायतों के विषय में कहा गया कि पंचायतों को निश्चित कर लगाने की अनुमति दी जानी चाहिए। लेकिन इस पर प्रांतीय सरकार का नियंत्रण रहना चाहिए।
- 1882 में लार्ड रिपन के कार्य काल में पहली बार स्थानीय शासन बोर्ड की स्थापना हुई जो स्थानीय शासन के विकास में एक महत्वपूर्ण संरचनात्मक उपलब्धि मानी

गयी। 1907 में गठित राजकीय विकेन्द्रीकरण आयोग की रिपोर्ट 1909 में प्रकाशित।

रिपन प्रस्ताव, 1882: लार्ड रिपन ने 1882 में स्वशासन अधिनियम पारित करवाया जिसके प्रमुख प्रावधान थे:

- स्थानीय प्रशासन के सदस्य तथा अध्यक्ष गैर-सरकारी तथा निर्वाचित होंगे।
- स्थानीय प्रशासन इकाइयों पर राज्य का नियंत्रण प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होगा (अर्थात् भीतर की अपेक्षा बाहर से होगा)।
- अपने कार्यों को करने के लिये स्थानीय प्रशासन इकाइयों को आय के कुछ स्थानीय साधन तथा प्रांतीय सरकार द्वारा अनुदान देने की व्यवस्था होनी चाहिए।
- स्थानीय प्रशासन के अधीन कार्य करने वाले अधिकारियों तथा उनको दिये गये राज्य कर्मचारियों पर स्थानीय प्रशासन का नियंत्रण होगा।
- अपने-अपने क्षेत्रों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रांतीय सरकारें उचित विधेयक पारित करेंगी।

तृतीय चरण (1919-1937)

- वर्ष 1920 में मद्रास प्रांत में पंचायत कानून बना। इसमें स्थानीय संस्थाओं और पंचायतों के अधिकार दिए गए। 1922 में गया में हुए कांग्रेस के सम्मेलन में देशबंधु चितरंजन दास ने अपनी पांच सूत्रीय योजना प्रस्तुत की थी। इसमें पंचायतों को भारतीय शासन के पुनर्निर्माण का आधार बनाया गया।
- 1919 के अधिकार द्वारा स्थानीय शासन में अनेक सुधार किये गये।
- नेहरू, पटेल, पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे व्यक्तियों ने नगर पालिकाओं में प्रवेश किया।

राजकीय आयोग, 1907

- 1907 में ''विकेन्द्रीयकरण'' की दशा पर विचारार्थ राजकीय आयोग का गठन हुआ जिसका उद्देश्य केन्द्र, प्रांत और स्थानीय संस्थाओं के परस्पर प्रशासनिक, वित्तीय संबंधो की जांच कर सुझाव देना था।
- 1911 में पंजाब ने आयोग की सिफारिश के आधार पर नया म्यूनिसिपल एक्ट पारित किया।

केन्द्रीय प्रस्ताव, 1918

उक्त घोषणा को क्रियाविंत करने की दिशा में केन्द्रीय सरकार ने एक प्रस्ताव 16 मई, 1918 को पारित किया जिसके प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित थे:

- नगरीय निकायों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होगा।
- मताधिकार की योग्यता में कमी की जाएगी।
- जिला बोर्ड का अध्यक्ष गैर सरकारी होगा।
- बोर्डों को सीमा के भीतर रहते हुऐ स्थानीय कर लगाने की शक्ति होगी।

टिप्पणी

- बाहरी नियंत्रण कम होगा।
- बोर्डों में वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति के पूर्व सरकारी स्वीकृति जरूरी होगी लेकिन ये सुधार पर्याप्त रूप से लागू नहीं हो पाये।

चतुर्थ चरण (1937-1949)

वर्ष 1935 में प्रान्तों को स्वायत्तता मिली। ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायतों का निर्माण होने लगा। वर्ष 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट में जनता के शासन की कई मांगें मान ली गईं थीं। परन्तु पंचायतों की दशा में कोई खास सुधार नहीं हुआ।

- 1942 के विद्रोही दौर में सारे अधिकार व्यवहार्यत: शासकीय विभागीय अधिकारियों को सौंप दिये गए। यद्यपि 1941 में ही पंचायतों के लिए अलग से विधान बनाने का एक दस्तावेज तैयार हुआ था। 1946 में जाकर ग्राम पंचायत अधिनियम बना।
- भारत शासन अधिकार द्वारा द्वैध शासन के स्थान पर 1935 में प्रान्तीय स्वायत शासन स्थापित किया गया।
- 1935 में संयुक्त प्रान्त में जांच समिति बनी जो नगरीय व्यवस्था के सुधार से संबंधित थी।

मध्य भारत की जनपद योजना, 1948

- 1937 में निर्मित इस योजना को कतिपय संशोधन के साथ 1948 में मध्य भारत (सेंट्रल प्राविन्स) में लागू किया गया जिसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं-
- जिला स्तर पर दोहरी प्रशासनिक व्यवस्था की समाप्ति। जिला प्रशासन और स्थानीय प्रशासन की दोहरी व्यवस्था को समाप्त कर ''जिला बोर्ड'' को जिला स्तर पर प्रमुख एजेंसी बनाया गया।
- जिला बोर्ड को जिलों के समस्त नगरीय और ग्रामीण स्वशासन के लिये उत्तरदायी बनाया गया।
- कलेक्टर बोर्ड का मुख्य कार्यपालन अधिकारी बना और अन्य जिला कार्मिक बोर्ड के कार्मिक बना दिये गये।
- प्रशासन का केन्द्र जिला के स्थान पर जनपद (जो तहसील को दिया गया नया नाम था) को बनाया गया। यह वस्तुत: गांवों का समूह था। इसकी निर्वाचित परिषद् ''जनपद सभा'' कहलाती थी। जनपद सभा ग्रामीण और नगरीय दोनों के स्थानीय प्रशासन पर नियंत्रण रखती थी।
- जिलास्तर के विषयों को 3 भागों में विभक्त किया गया:
- प्रथम वे विषय जिन पर मात्र जिला बोर्ड ही विचार और निर्णय कर सकता था। द्वितीय वे विषय जिन पर मात्र जिला कलेक्टर विचार कर सकता था और तृतीय वे जिन पर बोर्ड और कलेक्टर संयुक्त रूप से निर्णय कर सकते थे।

आधुनिक काल (आजादी से बाद)

भारतीय संविधान में पंचायती राज

- भारतीय संवधिान के भाग (4)के अन्तर्गत अनुच्छेद 40 में ''राज्य के नीति निर्देशक तत्वों'' में ग्राम शासन अर्थात् पंचायती राजव्यवस्था को रखा गया है जो

टिप्पणी

इस प्रकार वर्णित है ''राज्य ग्राम पंचायती राज का संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियां एवं अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।''

- स्थानीय शासन के विषय को संविधान की सातवीं अनुसूची के राज्य सूची में दर्शाया गया है।
- 2 अक्टूबर 1952 को सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा 2 अक्टूबर 1953 को राष्ट्रीय प्रसार सेवा प्रारम्भ किया गया। परन्तु दोनों कार्यक्रमों में अपेक्षित सफलता नहीं मिली।
- सामुदायिक विकास कार्यक्रम की जांच के लिए केन्द्र सरकार ने 1957 में बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल का गठन किया। इस दल ने 1957 के अन्त में अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि लोकतांत्रिक विक्रेन्द्रीयकरण और सामुदायिक कार्यक्रम को सफल बनाने हेतु पंचायती राज्य संस्थाओं को अविलंब शुरुआत की जानी चाहिए। अध्ययन दल ने इसे लोकतांत्रिक विक्रेन्द्रीयकरण का नाम दिया।
- प्रारम्भ में पंचायती राज्य संस्थाओं की संरचना भिन्न-भिन्न राज्यों में अलग-अलग रही। देश के 14 राज्यों - संघ शासित प्रदेशों में त्रिस्तरीय प्रणाली तथा 4 राज्यों/संघ शासित प्रदेश में द्विस्तरीय प्रणाली और 9 राज्यों/संघ शासित प्रदेशों में एक स्तरीय प्रणाली विद्यमान थी।
- पंचायत राज्य संस्थाएं ठीक तरह से कार्य नहीं कर रही थीं, अत: केन्द्र सरकार ने 13 सदस्यीय अशोक मेहता समिति का गठन किया। इस समिति ने सिफारिश की कि विकेन्द्रीयकरण का प्रथम स्तर जिला हो, उसके नीचे मंडल पंचायत का गठन किया जाये जिसमें लगभग 10-15 गांव शामिल हों।
- ग्राम पंचायत या पंचायत समिति की जरूरत नहीं है, पंचायतों का कार्यकाल केवल 4 साल का हो और विकास कार्यक्रम जिला परिषद द्वारा तैयार किया जाये तथा उनका क्रियान्वयन मंडल पंचायत द्वारा हो। इन सिफारिशों को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

संवैधानीकरण

राजीव गांधी की सरकार

- एम. एल. सिंघवी समिति की सिफारिशों के आधार पर राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में 1989 में पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत बनाने के लिये 64वां संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। लोकसभा में यह विधेयक पारित हो गया लेकिन राज्यसभा में यह पारित नहीं हो सका।

वी. पी. सिंह की सरकार

- वी. पी. सिंह के प्रधानमंत्रित्व काल में 1990 में पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत बनाने के लिये एक नया संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया लेकिन सरकार के गिर जाने के कारण यह विधेयक भी पारित नहीं हो सका।

पी. वी. नरसिम्हाराव की सरकार

- पी. वी. नरसिम्हाराव के प्रधानमंत्रित्व काल में सितंबर 1991 में पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत बनाने के लिये एक नया संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया। अंततः यह विधेयक 73वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में पारित हो गया।

73वां संविधान संशोधन

- 1992 में 73वां संविधान संशोधन किया गया, जो 25 अप्रैल, 1993 से लागू हुआ। स्थानीय स्वशासन (शहर तथा ग्रामीण दोनों) राज्यों का विषय है, जिसका उल्लेख 7वीं अनुसूची में है। इसलिए केंद्र इन विषयों पर कानून नहीं बना सकता है। इन संशोधनों को लागू होने की तिथि के एक वर्ष के भीतर राज्यों को नये कानून बनाकर लागू करना था, जिसका सभी राज्यों ने पालन किया। ये संशोधन जम्मू-कश्मीर, मेघालय, मिजोरम तथा नागालैण्ड राज्य में लागू नहीं होते हैं।

पंचायती राज से संबंधित प्रमुख समितियां एवं आयोग

बलवंत राय मेहता समिति

- गठन वर्ष : जनवरी 1957
- उद्देश्य : सामुदायिक विकास कार्यक्रम था राष्ट्रीय विस्तार सेवा द्वारा किए कार्यो की जांच तथा अधिक प्रभावकारी होने के लिए तथ्यों को प्रस्तावित करना।
- अध्यक्षः बलवंत राय मेहता
- रिपोर्ट सौंपी : नवंबर 1957
- सिफारिश का केन्द्रीय विषय : लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (स्वायत्तता) की योजना।

सिफारिश तीन स्तरीय प्रणाली

(i) गांव स्तर पर - ग्राम पंचायत

(ii) ब्लॉक स्तर पर - पंचायत समिति

(iii) जिला स्तर पर - जिला परिषद होगी। इनका चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा होगा

- ग्राम पंचायत के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जबकि पंचायत समिति व जिला परिषद का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होगा तथा सभी योजना व विकास कार्य उन नियमों को सौंपे जाएंगे
- पंचायत समिति को कार्यकारी निकाय तथा जिला परिषद को सलाहकारी, समन्वयकारी और पर्यवेक्षकारी निकाय होना चाहिए
- जिला परिषद का अध्यक्ष जिलाधिकारी होगा।

तत्कालीन प्रवृत्तियांः

- समिति की सिफारिशों को राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा जनवरी 1958 में स्वीकार कर लिया गया।

- 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में इस व्यवस्था की शुरुआत हो गयी।
- आंध्र प्रदेश ने राजस्थान का अनुसरण करते हुए 1959 में इस प्रणाली को अपनाया।
- तमिलनाडु ने द्विस्तरीय पंचायती राज प्रणाली को अपनाया।

अशोक मेहता समिति

- गठन वर्ष : दिसम्बर 1977 जनता पार्टी
- उद्देश्य : पंचायती राज संस्याओं के सुधार हेतु
- अध्यक्ष : अशोक मेहता
- रिपोर्ट सौंपी : अगस्त 1978 में 132 सिफारिशें दीं
- सिफारिश का केन्द्रीय विषय : द्विस्तरीय पद्धति के साथ राजनीतिक पार्टियों की अधिकारिक भागीदारी

प्रमुख सिफारिशें

1. अशोक मेहता समिति ने सबसे ज्यादा महत्व जिला स्तर को दिया जो कार्यकारी निकाय होगा और जनपद स्तर पर योजनाओं के निर्माण के लिए उत्तरदायी होगा।
2. पंचायत स्तर पर चुनाव के सभी स्तरों पर राजनीति दलों की भागीदारी को औपचारिक मंजूरी दे दी गयी।
3. समिति ने पंचायतों को करारोपण का अधिकार एवं अपने संसाधन उगाहने की शक्ति दी।
4. विकास पंचायत से अलग एक न्याय पंचायत की स्थापना होनी चाहिए जिसकी अध्यक्षता एक योग्य न्यायाधीश करें।
5. मेहता समिति ने पंचायतों में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों को उनके जनसंख्या के अनुपात में सीटें आरक्षित करने का समर्थन किया।
6. इस समिति ने पंचायती राज वित्त निगम की स्थापना का भी सुझाव दिया था।
7. द्विस्तरीय पंचायती राज पद्धति जिले स्तर पर जिला परिषद और निचले स्तर पर मंडल पंचायत होना चाहिए।
8. विकेन्द्रीकरण का जिला प्रयास बिन्दु होना चाहिए जिसमें जिला परिषद कार्यकारी अंग होना चाहिए वह राज्य स्तर पर योजना व विकास के लिए जिम्मेदार हो।
9. पंचायत संस्था के पास कर निर्धारण की शक्ति हो।
10. जिला स्तर के अभिकर्ता और कानून बिंदों से बनी समिति द्वारा संस्था का नियमित निरीक्षण होना चाहिए एवं आर्थिक समूहों पर खर्च की जांच हो।
11. पंचायती राज संस्थाओं के मामलों की देखरेख के लिए राज्य मंत्रिपरिषद से एक मंत्री की नियुक्ति हो तथा जनसंख्या के आधार पर अनुसूचित जाति व जनजाति के लिए स्थान आरक्षित होना चाहिए।

तत्कालीन प्रवृत्तियां

1. जनता सरकार के पतन के कारण केन्द्रीय स्तर पर अशोक मेहता समिति की अनुशंसाओं पर कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी।
2. कर्नाटक, पश्चिम बंगाल और आन्ध्र प्रदेश ने अशोक मेहता समिति की सिफारिशों में कुछ को ध्यान में रखकर पंचायती राज को नव पोषण देने का प्रयत्न किया।

जी.वी.के. राव समिति

- गठन वर्ष : 1985
- उद्देश्य : प्रशासनिक व्यवस्था सुधार हेतु
- अध्यक्ष: जी.वी.के.राव
- रिपोर्ट सौंपी: 1986
- सिफारिश का केन्द्रीय विषय : विकेन्द्रीकरण/जिला परिषद की प्रभावी भूमिका।

प्रमुख सिफारिशें

- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना में जिला स्तर निकाय यानी जिला परिषद की अग्रणी भूमिका होनी चाहिए।
- प्रभावी विकेन्द्रीकरण जिला स्तरीय आयोजन हेतु कुछ राज्य स्तरीय योजनात्मक कार्यों को जिला स्तरीय इकाइयों को हस्तांतरित कर दिया जाना चाहिए।
- जिला विकास कमिश्नर (डी.डी.सी.) नामक एक पद का सृजन किया जाना चाहिए।
- उसे जिला परिषद के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में कार्य करना चाहिए तथा जिला स्तरीय सभी विकासात्मक विभागों का प्रभारी होना चाहिए।

तत्कालीन प्रवृत्तियां

1 जी.वी.के.राव समिति रिपोर्ट 1986 प्रखण्डीय स्तरीय आयोजन पर दांत वाला समिति की रिपोर्ट 1978 तथा जिला स्तरीय आयोजन पर हतुमंत राव समिति की रिपोर्ट 1984 से भिन्न थी।

2 हनुमंत राय समिति भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग के विषय पर बलवंत राय मेहता समिति तथा अशोक मेहता समिति से भिन्नता रखती थी जबकि जी.वी.के. राव समिति ने जिला कलक्टर की विकासात्मक भूमिका में कटौती करने तथा विकास प्रशासन में पंचायती राज्य को महत्वपूर्ण भूमिका सौंपने की सिफारिश की।

एम.एल.सिंघवी समिति

- गठन वर्ष : 1986
- उद्देश्य : लोकतंत्र के विकास हेतु पंचायती राज्य संस्थाओं को नवजीवन प्रदान किया जा सके।
- अध्यक्ष : एम.एल. सिंघवी

टिप्पणी

- सिफारिश का केन्द्रीय विषय : पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक तौर पर मान्यता

प्रमुख सिफारिशें

1 पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक तौर पर मान्यता, सुरक्षा व संरक्षा प्रदान की जानी चाहिए।

2 संविधान में एक नया अध्याय जोड़ा जाना चाहिए। इसने कुछ संवैधानिक प्रावधानों का सुझाव भी दिया जिससे पंचायती राज निकायों के चुनाव की नियमितता निष्पक्षता तथा स्वतंत्रता सुनिश्चित की जा सके।

3 कई ग्रामों के समूह के लिए न्याय पंचायतों का गठन किया जाना चाहिए तथा ग्राम पंचायत के पास अधिक वित्तीय स्रोत होने के चाहिए

4 पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचन, विघटन, कार्य पद्धति के विवाद के लिए राज्य में न्यायाधिकरण गठित किया जाना चाहिए।

तत्कालीन प्रवृत्तियां

1 एम.एल. सिंघवी समिति द्वारा दी गई अनुशंसाओं के मद्देनजर राजीव गांधी सरकार ने पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देने और मजबूत व उदार बनाने हेतु जुलाई 1989 में 64 वां संविधान संशोधन बिल लोक सभा में पेश किया गया परन्तु लोक सभा के बाद राज्य सभा में पास न हो सका

2 राज्य सभा में पास न होने का कारण इस बिल में वर्णित संघीय व्यवस्था में केन्द्र को मजबूत बनाने का अप्रत्यक्ष प्रावधान था।

3 1989 में वी.पी.सिंह की नेशनल फ्रंट सरकार ने पंचायती राज संस्थाओं को मजबूती प्रदान करने के लिए 1990 में मुख्य मंत्रियों का 2 दिन का सम्मेलन आयोजित किया।

सरकारिया आयोग

मूलत: केन्द्र-राज्य संबंधों पर 1983 में नियुक्त सरकारिया आयोग की प्रस्तुत रिपोर्ट, 1987 में पंचायतों के संबंध में भी एक-दो सिफारिशें आईं-

यद्यपि पंचायत (स्थानीय स्वशासन) राज्य सूची का विषय है तथापि, पूरे देश में इनसे संबंधित एक समान कानून होना चाहिए। इसके लिये दो रास्ते सुझाए:

- अंतर्राज्यीय परिषद द्वारा पारित मॉडल बिल का अनुसरण समस्त राज्य करे।
- सभी राज्यों की प्रार्थना या सहमति से संसद एक कानून बनाये।

64वां संविधान संशोधन विधेयक, 1989

15 मई, 1989 में संसद में संविधान संशोधन (चौंसठवां) लाया गया। इस विधेयक के प्रमुख प्रावधान निम्न थे- पंचायती राज संस्थाओं का ढांचा त्रिस्तरीय होगा। ग्राम स्तर, ब्लॉक स्तर तथा जिला स्तर: छोटे राज्य, जिनकी जनसंख्या 20 लाख के कम हैं, वे द्वि-स्तरीय ढांचा भी अपना सकते हैं- पंचायतों में महिलाओं को 30 प्रतिशत आरक्षण

टिप्पणी

प्राप्त होगा। यह आरक्षण अनुसूचित जाति एवं जनजाति को प्राप्त आरक्षण के अतिरिक्त होगा। पंचायतों का कार्यकाल पांच वर्ष होगा, यदि किसी पंचायत का निर्धारित अवधि से पूर्व विघटन हो जाता है तो अधिकतम 6 माह के भीतर उसका चुनाव कराया जाएगा।

अन्य प्रमुख समितियां

कुछ अन्य प्रमुख समितियां इस प्रकार से हैं-

दांतवाला समिति, 1978

दांतवाला समिति ने ब्लॉक स्तरीय नियोजन पर अपने प्रतिवेदन में नियोजन की जवाबदारी पंचायतों के स्थान पर कलेक्टर के नेतृत्व में एक पृथक जिला निकाय को सौंपने की बात कही।

थुंगण समिति, 1988

- संसद की कार्मिक पेंशन से जुड़ी समिति की एक उपसमिति के रूप में थुंगण समिति का गठन 1988 में किया गया। इसे जिला स्तर पर नियोजन हेतु वहां राजनीतिक-प्रशासनिक संचार पर विचार करना था।

इसकी सिफारिशें थीं:

- पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा दिया जाए।
- जिला में विकास तथा नियोजन का केन्द्र जिला परिषद् को बनाया जाए और इस प्रकार पंचातयी राज व्यवस्था में यह सर्वाधिक प्रभावी स्तर होना चाहिए। जिला कलेक्टर को जिला परिषद् का सर्वोच्च कार्यकारी होना चाहिए।
- पंचायती राज्य संस्थानों की अवधि 5 वर्ष होनी चाहिए और छः महीने से अधिक इनको स्थगित नहीं रखा जाना चाहिए।
- इसने उन विषयों की एक लंबी सूची दी जो पंचायती राज संस्थनों को सौंपे जाने चाहिए और जिन्हें संविधान में सम्मिलित किया जाना चाहिए।
- इसने राज्यों में राज्य वित्त आयोग स्थापित करने की भी सिफारिश की जो पंजायती राज संस्थानों को वित्तीय संसाधन विकेंद्रित करने का आधार निर्धारित कर सके।

1988- बी. एन. गाडगिल समिति

- इसकी स्थापना कांग्रेस कमेटी ने की। समिति ने एस सी/एस टी तथा महिलाओं हेतु आरक्षण की बात की।

पंचायती राजव्यवस्था का संवैधानिक आधार

पंचायती राज संस्थाओं को सांविधानिकता प्रदान करते हुए नरसिंहा राव सरकार ने सितम्बर 1991 में लोक सभा में एक संविधान संशोधन विधयेक प्रस्तुत किया, जिसे 22 दिसम्बर 1992 में लोक सभा तथा 23 दिसम्बर 1992 को राज्य सभा द्वारा परित कर दिया गया। 17 राज्यों की विधान सभाओं के अनुमोदन के बाद 20 अप्रैल 1993 को राष्ट्रपति ने इस ऐतिहासिक अधिनियम की स्वीकृति प्रदान की।

टिप्पणी

73वां संविधान संशोधन अधिनियम 1992

- 20 अप्रैल 1993 को राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद 24 अप्रैल 93 में पंचायती राज व्यवस्था पूरे देश में लागू हो गयी।
- संविधान के भाग 10 के अनुछेद 243 से 243 'ण' तक प्राविधान किया गया अधिनियम द्वारा संविधान में ग्यारहवी अनुसूची भी जोड़ी गई है।
- पंचायतों की कार्य पद्धति से संबद्ध 29 तत्व वर्णित हैं तथा अनुच्छेद 243 का उल्लेख है।

"इसके द्वारा प्रतिनिधियात्मक (Representative) लोकतंत्र को सहभागी लोककंत्र (Participatory Democracy) में परिवर्तित कर दिया गया है।"

प्रमुख आवश्यक तत्व/प्राविधान

- इस अधिनियम द्वारा ..... प्रणाली यानी ग्राम पंचायत स्तर पर ग्रामीण प्रखण्ड स्तर पंचायत समिति जबकि जिला स्तर पर जिला स्तिर पर जिला परिषद् के गठन का प्रावधान है।
- अधिनियम द्वारा पंचायती राज को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है -

पंचायत राज - ग्रामीण क्षेत्रों के स्थानीय स्वशासन

ग्राम - राज्यपाल द्वारा जन-अधिसूचना के माध्यम से पंचायती राज के उद्देश्य से विनिर्दिष्ट ग्रामों के समूह से है।

मध्यवती स्तर - ग्राम/जिला के मध्य के उस स्तर से हैं जिसको राज्यपाल ने जन-अधिसूचना के द्वारा उस उद्देश्य से विनिर्दिष्ट किया हो।

''यह अधिसूचना सारे देश में पंचायती राज के ढांचे में समरूपता उत्पन्न करती है जिन राज्यों की जनसंख्या 20 लाख से अधिक नहीं हो, वे मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों का गहन कर सकते हैं यानी उनके मामले में यह स्वैच्छिक है।''

- पंचायती राज प्रणाली के आधार पर ''ग्राम सभा'' का प्रावधान है।
- यह निकाय ग्रामीण स्तर पर पंचायती क्षेत्र में किसी ग्राम की निर्वाचन सूची में पंजीकृत सभी वयस्कों से मिलकर बनता है।
- यह एक प्रकार से ग्राम-परिषद् है जो पंचायत के क्षेत्र के सभी पंजीकृत मतदाताओं से मिलकर गठित होती है।
- यह ग्राम स्तर पर उन्हीं शक्तियों का प्रयोग तथा दायित्वों का निर्वाह करती है जो राज्य विधायिका निर्धारित करती है।

पंचायतों की अवधि

- पांच वर्ष की अवधि या विघटन के मामले में, विघटन की तिथि से 6 माह के अंदर चुनाव करा लेना चाहिए।

स्थानों का आरक्षण

पंचायत के तीनों स्तरों पर अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति को पंचायत क्षेत्र में उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण का प्रावधान है।

टिप्पणी

- राज्य विधायिका को यह अधिकार है कि वह ग्राम या किसी स्तर पर अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति हेतु प्रधान के पद के लिए आरक्षण का उपबंध करें।
- कुल सीटों की संख्या के कम से कम 1/3 स्थान पर महिलाओं के आरक्षण का प्रावधान है।
- पंचायतों के प्रत्येक स्तर पर अध्यक्ष के पद की कुल संख्या का कम से कम 1/3 महिलाओं के लिए आरक्षित हैं।

सदस्यों व अध्यक्ष का चुनाव

- पंचायत के तीनों स्तरों पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से किया जाता है।
- मध्यवर्ती व जिला स्तर पर अध्यक्ष का चयन इस स्तर के लिए चयनित सदस्यों में से ही अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा किया जाता है।
- ग्राम स्तर पर अध्यक्ष का निर्वाचन राज्य विधायिका जो भी निश्चित करें उसी के अनुसार होगा।

शक्तियां व कार्य

आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय हेतु योजनाओं का निर्माण करना तथा आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की ऐसी योजनाओं को लागू करना, जो उन्हें सौंपी गई हों तथा जिनमें ग्यारहवीं अनुसूची में शामिल 29 मामलों से संबद्ध विषय भी निहित हों। इसके साथ ही निम्न कार्य भी सौंपे गये हैं–

1. नगरीय कार्य

- लोक स्वास्थ्य,
- सुरक्षा,
- निर्माण एवं
- शिक्षा।

2. गांवों का भौतिक नियोजन

- आम भूमि पर नियंत्रण, तथा
- अन्य भूमियों पर नियंत्रण।

3. विकास एवं उत्पादन नियोजन

- जन सुविधाओं का निर्माण,
- गांव हेतु योजना निर्माण,
- पशुपालन,
- कृषि का विकास,
- घरेलू उद्योग,
- सामाजिक संस्कृति एवं
- लोक सुरक्षा।

टिप्पणी

4. गृह व्यवस्था

- सरपंच का चुनाव,
- गांव हेतु योजना निर्माण, पशुपालन, एवं रिकार्डों की बजटिंग करना।

सरपंच का कार्यालय सरपंच, प्रतिनिधियों (पंच), कार्यपालकों एवं मुख्य न्यायाधीश (गांव का) का संयुक्त कार्यालय होता है। सरपंच पंचायत की सभाओं की अध्यक्षता करता है तथा पंचायत के प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है। वह पंचायत की ओर से सभी प्रकार के निर्णय लेता है तथा उस पर पंचायत की सुरक्षा का दायित्व होता है। वह पंचायत की सभी प्राप्तियों एवं व्यय पर नियंत्रण रखता है तथा उनका रिकार्ड बनवाता है। वह पंचायत में कार्य कर रहे लोगों के कार्यों का निरीक्षण करता है तथा वे अन्य सभी कार्य करता है, जो राज्य शासन द्वारा समय-समय पर उसे सौंपे जाते हैं।

पंचायतों को होने वाली आय के स्रोत

1. कर

- गृहकर,
- भूमि उपकर,
- स्वच्छता उपकर,
- विद्युत,
- वाहन कर,
- धार्मिक यात्रा कर,
- पशुओं की चराई कर,
- चुंगी,
- श्रम कर,
- जल कर,
- विवाह कर, एवं
- वाणिज्यिक कृषि कर।

2. शुल्क और जुर्माने

- पशुओं का पंजीकरण, एवं
- पशु जलाशयों का पंजीकरण।

3. अन्य स्रोत

- आम भूमि का प्रबंधन,
- पंचायत की संपत्ति का निस्तारण,
- फल,
- मत्स्यन, एवं
- पंचायत के तालाब।

राज्य चुनाव आयोग

- पंचायत के सभी चुनावों के लिए मतदाता सूची का निर्माण तथा चुनाव कराने संबंधी सभी नियंत्रणात्मक, निर्देशात्मक तथा पर्यवेक्षणात्मक शक्तियां राज्य चुनाव आयोग को सौंपी गई हैं।
- यह आयोग एक 'राज्य चुनाव आयुक्त' के द्वारा गठित होता है, (यानी एक सदस्यीय है) जिसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है।
- उसकी सेवाशर्तों तथा कार्यविधि का निर्धारण भी राज्यपाल करता है।
- उसे राज्य के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को पदच्युत करने के लिए विहित प्रक्रिया व आधारों से भिन्न किसी भी तरह या आधार पर नहीं हटाया जा सकता।
- नियुक्ति के बाद उसकी सेवा शर्तों में कोई नकारात्मक परिवर्तन/कटौती नहीं की जा सकती।

वित्त प्रबंधन

- राज्य विधायिका को यह अधिकार है कि वह-
- पंचायत को करों, चुंगियों, सड़क/राह कर तथा शुल्कों के आरोपण व वसूली के लिए प्राधिकृत कर सकती है।
- पंचायतों को राज्य द्वारा आरोपित व वसूले जाने वाले करों, चुंगियों, सड़क कर तथा शुल्कों में हिस्सा दे सकती है।
- राज्य की संचित निधि में से पंचायतों को अनुदान का प्रावधान कर सकती है।
- पंचायतों की सभी वित्तीय आवश्यकताओं के लिए निधि के निर्माण का प्रावधान कर सकती है।

राज्य वित्त आयोग

राज्यपाल प्रत्येक 5 वर्ष के अंतराल पर पंचायतों की वित्तीय दशा के पुनर्विलोकन हेतु राज्य वित्त आयोग का गठन करेगा।

यह निम्नलिखित विषयों पर राज्यपाल को अनुशंसाएं करेगा-

- उन सिद्धांतों के संबंध में, जो राज्यों व पंचायतों के बीच करों, चुंगियों, सड़क कर तथा शुल्कों से प्राप्त शुद्ध आय के वितरण को निर्देशित करता है।
- उन सिद्धांतों के संबंध में, जो उन करों, चुंगियों, सड़क करों तथा शुल्कों के निर्धारण से संबद्ध है, जिनमें पंचायतों को हिस्सा दिया जाता है।
- उन सिद्धांतों के संबंध में, जो राज्य की संचित निधि में से पंचायतों को दिए जाने वाले अनुदान से संबंद्ध है।
- पंचायतों की वित्तीय दशा सुधारने संबंधी कदमों के बारे में।
- पंचायतों की सुदृढ़ वित्तीय दशा से हितबद्ध कोई भी ऐसा मामला, जो राज्यपाल द्वारा वित्त आयोग को सौंपा गया हो।
- राज्य-विधायिका वित्त आयोग के संघटन, उसके सदस्यों के लिए अपेक्षित योग्यता तथा उनके चयन के तरीके के संबंद्ध में प्रावधान कर सकती है।

- राज्यपाल वित्त आयोग द्वारा दिए गए सुझावों और इस पर की गई कार्रवाइयों के संबंध में रिपोर्ट राज्य विधायिका के सम्मुख प्रस्तुत करेगा।
- केन्द्रीय वित्त आयोग भी उन उपायों के संबंध में सुझाव दे सकता है, जिससे राज्य की संचित निधि में अभिवृद्धि हो, ताकि राज्यों में (राज्य वित्त आयोग की अनुशंसा पर) पंचायतों के वित्तीय स्रोतों की अनुपूर्ति की जा सके।
- यह अधिनियम जम्मू-कश्मीर, नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम तथा कुछ अन्य क्षेत्रों पर लागू नहीं होता, जिनमें अनुच्छेद 244 में वर्णित अनुसूचित क्षेत्र व जनजातीय क्षेत्र (मणिपुर जैसे वैसे पहाड़ी क्षेत्र, जिनके लिए जिला परिषद् गठित है तथा पश्चिम बंगाल का दार्जिलिंग जिला, जहां दार्जिलिंग-गोरखा पर्वतीय परिषद् विद्यमान है) शामिल हैं।
- राज्य विधायिका पंचायतों के द्वारा लेखा रखे जाने और लेखा परीक्षण के संबंध में प्रावधान कर सकती है।
- इस अधिनियम के प्रभावी होने की तिथि 24 अप्रैल 1993 है।
- वह क्षेत्र जहां 73वां संविधान संशोधन लागू नहीं होगा
- अनुच्छेद 243(1) के अनुसार इस भाग की कोई बात अनुच्छेद 244 के खण्ड(1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और खण्ड(2) के अनुसार जनजाति क्षेत्र में लागू नहीं होगी।
- नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम के राज्य।
- मणिपुर राज्य में पर्वतीय क्षेत्र, जिनके लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन जिला परिषद् है। इसी खण्ड के भाग (3) में पश्चिम बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों में लागू नहीं होगा जहां विधिवत् गोरखा पर्वतीय परिषद् विद्यमान है। किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह ऐसी विधि के अधीन गठित दार्जिलिंग पर्वतीय परिषद् के कृत्यों और शक्तियों पर प्रभाव डालती है।

ग्यारहवीं अनुसूची

- इसमें 29 ऐसे कार्यकारी विषय निहित हैं, जिनको पंचायतों के कार्यक्षेत्र में रखा गया है।
- कृषि, जिसमें कृषि विस्तार भी शामिल है।
- भूमि सुधार चकबंदी भू-सुधार कार्यक्रमों को लागू करना तथा भूमि अनुरक्षण।
- लघु सिंचाई, जल प्रबंधन, जल आच्छादन (जल विभाजकों का विकास)।
- पशुपालन, दुग्ध उद्योग व मुर्गी पालन
- मत्स्य उद्योग
- सामाजिक वानिकी तथा फॉर्म वानिकी
- लघु वन उत्पाद
- लघु उद्योग, जिसमें खाद्य प्रसंस्करण उद्योग भी शामिल हैं।
- खादी ग्राम एवं कुटीर उद्योग

टिप्पणी

- ग्रामीण आवासन
- पेय जल
- ईधन एवं चारा
- सड़कें, पुलिया, पुल, नौघाट, जलमार्ग तथा संचार के अन्य साधन
- ग्रामीण विद्युतीकरण
- गैर पारंपरिक ऊर्जा स्त्रोत
- गरीबी उपशमन कार्यक्रम
- शिक्षा, जिसमें प्राथमिक व माध्यमिक विद्यालय भी शामिल है।
- तकनीकी प्रशिक्षण एवं व्यावयायिक शिक्षा
- प्रौढ़ एवं अनौपचारिक शिक्षा
- पुस्तकालय
- सांस्कृतिक क्रियाकलाप
- बाजार एवं मेले
- स्वास्थ्य और स्वच्छता जिसमें अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, औषधालय भी शामिल हैं।
- परिवार कल्याण
- महिला एवं बाल विकास
- समाज कल्याण, जिसमें विकलांग व मानसिक रूप से अविकसित भी शामिल हैं।
- जनता के कमजोर वर्गों विशेषत: अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति का कल्याण
- जन वितरण प्रणाली
- सामुदायिक परिसंपत्तियों का अनुरक्षण

पंचायती राज की उपलब्धियां

- पंचायती राज की उपलब्धियों का जिक्र करते हुए पं. जवाहर लाल नेहरू ने कहा था– ''मैं पंचायती राज के प्रति पूर्णत: आशान्वित हूं। मैं महसूस करता हूं कि भारत के सन्दर्भ में यह बहुत कुछ मौलिक एवं क्रान्तिकारी है''।
- पंचायती राज की देश के राजनीतिकरण, आधुनिकीकरण तथा समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।
- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया में समाजीकरण के दौर से गुजरते व्यक्तियों के बीच जनतात्रिक मूल्य के विकास से अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ी है।
- गांव के व्यक्तियों के विचारों व मूल्यों में परिर्वतन से राजनीतिक चेतना बढ़ी है।
- पंचायती राज के लागू होने से गांवों में सामाजिक बुराईयों, बाल विवाह, महिला अत्याचार में कमी आयी है।

पंचायती राज की समस्याएं

- पहली समस्या सत्ता के विकेन्द्रीकरण की है। और इसके लिए नौकरशाही की मनोवृत्ति में परिवर्तन करने तथा उसे उदार बनाने की आवश्यकता है।
- पंचायती राज को पूर्णतः अपनाने में अशिक्षा तथा निर्धनता की समस्यायें आ रही हैं।
- पंचायती राज की सफलता के लिए सबसे बड़ी बाधा दलगत राजनीति है।
- स्वतन्त्र आर्थिक स्रोत उपलब्ध न होने के कारण वित्तीय समस्या बनी रहती है।
- इसके अतिरिक्त राजनीतिक जागरूकता की कमी, विकास कार्यों की अपेक्षा, शासकीय अधिकारियों तथा निर्वाचित प्रतिनिधियों के सहयोग का अभाव आदि समस्यायें हैं।

पंचायती राज की सफलता के लिए सुझाव

- पंचायती राज संस्थाओं में व्याप्त गुटबन्दी को समाप्त करना होगा।
- पंचायतों के चुनावों में मतदान को अनिवार्य करना होगा।
- पंचायतों की वित्तीय हालात सुधारनी होगी तथा उन्हें और वित्तीय अधिकार मिलने चाहिए।
- अधिकारियों को पंचायतों के मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करना चाहिए।
- पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

ग्रामीण विकास कार्यक्रम

1952 सामुदायिक विकास कार्यक्रम

1953 राष्ट्रीय विस्तार सेवा

1960 पर्वतीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम

1962 आदिवासी क्षेत्र विकास कार्यक्रम

1965 उच्च उत्पादकता (वाले बीजों की) वाली किस्मों से संबद्ध कार्यक्रम

1969 लघु कृषक विकास एजेंसी

1969 सीमांत कृषकों व कृषि मजदूरों के विकास हेतु एजेंसी

1972 त्वरित ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रम

1973 सूखा आशंकित क्षेत्र कार्यक्रम

1973 कमान क्षेत्र विकास कार्यक्रम

1974 न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम

1975 बीस सूत्रीय कार्यक्रम

1975 समेकित शिशु विकास कार्यक्रम

1977 अन्त्योदय

1977 मरुभूमि विकास कार्यक्रम

1978	समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम
1978	जिला उद्योग केन्द्र
1978	समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम
1980	राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम
1982	ग्रामीण क्षेत्रीय महिलाओं व बच्चों का विकास
1983	शिक्षित बेरोजगार युवा हेतु स्वरोजगार कार्यक्रम
1983	ग्रामीण भूमिहीन हेतु रोजगार गारंटी कार्यक्रम
1986	इन्दिरा आवास योजना
1989	जवाहर रोजगार योजना
1993	रोजगार आश्वासन योजना
1994	निवेश बढ़ोतरी योजना
1995	समेकित बंजरभूमि विकास कार्यक्रम
1997	गंगा कल्याण योजना
1999	स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना
1999	जवाहर ग्राम समृद्धि योजना
2000	प्रधानमंत्री ग्राम समृद्धि योजना
2000	अन्नपूर्णा योजना
2001	अन्त्योदय अन्न योजना
2001	महावीर ग्राम कल्याण योजना
2001	संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना
2002	स्वजलधारा कार्यक्रम
2002	जय प्रकाश नारायण रोजगार गारण्टी योजना
2005	भारत निर्माण योजना
2004	एम के गांधी ग्रामीण विद्युतीकरण योजना
2005	राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना
2005	जननी सुरक्षा योजना
2007	राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना

न्याय पंचायत

प्राचीन भारत में न्याय पंचायत वास्तव में स्थानीय सरकार का एक निकाय होती थी। इसका निर्माण अत्यावश्यक मामलों के समाधान हेतु किया जाता था। न्याय पंचायत गांव के लोगों की आर्थिक पहुंच के भीतर ही न्याय उपलब्ध कराने का कार्य करती थी। यह स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप न्याय प्रदान करने का कार्य करती थी। वैसे यह द्यूत क्रीड़ा पर रोक लगाने का भी कार्य करती थी।

देश के ग्रामीण इलाकों में पंचायती राज व्यवस्था न्यायिक कार्य एवं न्यायिक प्रक्रिया को संपन्न करने वाली एक प्रमुख व्यवस्था बन गयी है। वास्तव में पंचायतों को ग्रामीण क्षेत्रों के छोटे न्यायालयों की संज्ञा दी जा सकती है। अपनी नयी भूमिका में पंचायतों का न्यायिक चरित्र आज काफी महत्वपूर्ण हो गया है।

न्याय पंचायत के भीतर गांव के पांच से लेकर सात क्षेत्र तक आते हैं। जिलाधीश को यह अधिकार होता है कि वह न्याय पंचायतों के लिये कार्यपालक अधिकारी के रूप में कार्य करे। उसे अपने दायित्वों के निवर्हन में तहसीलदार एवं विकास अधिकारी सहायता करते हैं। प्रत्येक पंचायत अपने क्षेत्राधिकार में न्याय पंचायत के सदस्यों का चयन करती है। न्याय पंचायत का सदस्य चुने जाने के लिये यह भी आवश्यक है कि वह विकास पंचायत का सदस्य हो। इसके साथ ही उसे उस पंचायत का पंजीकृत मतदाता भी होना चाहिये। सदस्य की आयु तीस वर्ष से कम नहीं होनी चाहिये तथा उसमें यह योग्यता होनी चाहिये कि वह राज्य की भाषा को कुशलतापूर्वक पढ़ एवं लिख सके। उसे किसी निर्योग्यता का शिकार नहीं होना चाहिये।

कोई भी अयोग्य पंच, सरपंच का पद धारण नहीं कर सकता है तथा वह किसी समिति, परिषद, राज्य विधानमंडल या संघीय संसद का सदस्य भी नहीं हो सकता है।

न्याय पंचायत के निर्वाचन एवं संचालन के लिये बिल्कुल उसी प्रकार की प्रक्रिया एवं नियमों का पालन किया जाता है, जिस प्रकार की विकास पंचायत के लिये होती है। न्याय पंचायत के सदस्य चुने जाने के बाद विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार भारत के संविधान की शपथ लेते हैं। सदस्य अपने बीच से ही अध्यक्ष का चुनाव करते हैं। अध्यक्ष अपना पद ग्रहण करने के उपरांत, सदस्यों से तीन समितियों का गठन करता है, जो ऐसे दीवानी एवं फौजदारी मामलों का निस्तारण करती हैं, जो न्याय पंचायत के सम्मुख लाये जाते हैं।

शक्तियां : दीवानी एवं फौजदारी क्षेत्राधिकार

न्याय पंचायत का फौजदारी क्षेत्राधिकार केवल भारतीय दंड संहिता (IPC) के छोटे मामलों तक ही सीमित होता है। यह एक लोक अधिकारी के आदेशाधीन कार्य करती है। न्याय पंचायत 25 से लेकर 100 रुपये तक जुर्माना लगा सकती है। दीवानी मामलों में, उसके जुर्माना लगाने की शक्ति 100 रुपये से लेकर 500 रुपये तक होती है।

पंचायत समिति

स्थानीय प्रशासन के द्विस्तरीय अंतराल को भरने के लिये जिला बोर्डो एवं ग्राम पंचायतों की आवश्यकता महसूस की गयी। 1882 में इसे पुनगर्ठित किया गया। पंचायत समिति के सदस्य अपने अध्यक्ष का चयन स्वयं करते हैं। उन्हें अपने क्षेत्राधिकार के भीतर निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त होती है तथा वे विधिक आधार पर अपने संसाधनों को स्वयं जुटा सकते हैं।

आकार

पंचायत का क्षेत्र मुख्यतया तहसील एवं तालुका होता है, जिसमें प्रत्येक गांव में 112 गांव आते हैं। महाराष्ट्र में, पंचायतों का आकार सामान्यता दो या तीन प्रखंडों (block) तक होता है। प्रत्येक राज्य में प्रखंडों के सदस्यों की संख्या अलग-अलग पायी जाती है। जैसे कि

टिप्पणी

केरल में यह संख्या आठ एवं उ.प्र. में भी आठ होती है। इसमें 1951 की जनगणना के आधार पर 35 हजार से 94 हजार लोग तक निवास करते हैं।

प्रखंड एक इकाई के रूप में

स्थानीय स्वायत्त शासन की एक इकाई के रूप में प्रखंड (blocks) के कई कार्य होते हैं, जैसे कि बीजों का वितरण या स्टाक ब्रीडिंग फार्म, स्वास्थ्य सेवायें तथा प्राथमिक शिक्षा का निरीक्षण करना। प्रखंड के लिये उच्च गुणवत्ता का नेतृत्व, स्थानीय दबाव से स्वतंत्रता, ब्याज को संतुलन करना तथा त्वरित विकास जैसी चीजें आवश्यक होती हैं।

गठन

पंचायतों का गठन अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग प्रकार का है। इसमें कई सामुदायिक सोसाइटियों एवं बैंकों की भी सहभागिता होती है। हालांकि, इनमें कुछ आमंत्रित सदस्यों को भी कार्यवाही में भाग लेने की स्वतंत्रता होती है लेकिन बिना ज्ञान किसी को भी स्थायी समिति का अध्यक्ष या प्रधान नहीं चुना जा सकता है।

पंचायत समितियों की शक्तियां एवं कार्य

कार्य संचालन संबंधी विभिन्न नियम विकास अधिकारी द्वारा बनाये जाते हैं, जिसके लिये वह अध्यक्ष से मंत्रणा करता है। यह अधिकारी पत्राचार के प्रपत्रों का पहले से ही वितरण कर देता है। निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं तथा अध्यक्ष का मत निर्णायक होता है। विकास अधिकारी या वरिष्ठ अधिकारी को भी इसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होता है लेकिन वह मत नहीं दे सकता है।

एक कार्यकारी निकाय के रूप में समिति के निम्न कार्य होते हैं-

- प्रत्येक पखवाड़े या माह में इसकी बैठक होती है।
- यह विभिन्न प्रकार के निर्णय लेने में सहायता करती है।
- यह सभी कार्यों में समन्वय में सहयोग करती है।

वित्त के स्रोत निम्नानुसार होते हैं-

1. बजट के रूप में उपलब्ध कोष,
2. स्वनिर्मित संसाधन,
3. पंचायतों के लिये चल रही विभागीय योजनाओं एवं हस्तांतरण योजनाओं द्वारा उपलब्ध संसाधन।
4. राज्य एवं अन्य निकायों से प्राप्त सहायता।

जिला परिषद्

विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया से पूर्व जिला परिषदों का अस्तित्व जिला विकास समीतियों एवं अन्य जिला स्कूल बोर्डों के रूप में होता था। राजस्थान, असम, ओडिशा एवं बिहार में जिला परिषद एवं पंचायतों की संरचना इस प्रकार की गयी है कि वे परामर्शदात्री एवं समन्वयकारी निकायों की भूमिका निभा सकें तथा कोष वितरण एवं निरीक्षण का कार्य कर सकें। इस संबंध में ये राज्य आंध्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र तथा पंजाब से अलग हैं, जहां सामाजिक कल्याण का कार्य जिला परिषदों द्वारा किया जाता है।

उत्तरप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र तथा पंजाब में एक नया प्रतिरूप सामने आया, जिसमें कुछ निर्वाचित सदस्य को भी सदस्य के रूप में निकाय में शामिल किया जाता है। उत्तरप्रदेश, गुजरात तथा महाराष्ट्र में इनका चुनाव सीधे मतदान के माध्यम से चुनाव क्षेत्रों द्वारा किया जाता है, जो कि लगभग 35 हजार जनसंख्या से बना होता है।

गठन एवं कार्यकाल

'अप्रत्यक्ष व्यवस्था' के अंतर्गत राजस्थान, आंध्रप्रदेश, असम, म.प्र., ओडिशा एवं बिहार में जिला पंचायतों का गठन, जिले की सभी पंचायतों के प्रधानों को मिलाकर किया जाता है। जिले के अंतर्गत आने वाली सभी राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य, जिला परिषद के आमंत्रित सदस्य होते हैं। सामान्यतया कलेक्टर या जिलाधीश जिला पंचायत का पदेन सदस्य होता है।

जिला परिषद के सदस्य अपने बीच से ही अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का चुनाव करते हैं। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष को कुछ सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से हटाया जा सकता है।

जिला पंचायतों का कार्यकाल सामान्यतया पांच वर्ष होता है।

जिला पंचायतों के सदस्य दो ध्रुवीय हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ध्रुव या धड़े का प्रतिनिधित्व अध्यक्ष के माध्यम से पंचायतों एवं सहकारी संस्थाओं के हितों का करता है, जबकि दूसरे ध्रुव या धड़े का प्रतिनिधित्व राज्य के विधायकों एवं सांसदों द्वारा राज्य के हितों का करता है। गुजरात, महाराष्ट्र एवं उ.प्र. में जिला पंचायतें कार्यपालिक निकाय की तरह कार्य करती हैं, जिनमें प्रत्यक्षतया निर्वाचित लोकप्रिय एवं स्वतंत्र कारक होते हैं।

अप्रत्यक्ष व्यवस्था के अंतर्गत जिला पंचायतें जहां एक ओर पंचायतों से समन्वय करती हैं, वहीं दूसरी ओर वे राज्य विधानमंडल एवं संसद से समन्वय स्थापित करती हैं।

जिला पंचायतों की शक्तियां एवं कार्य

जिला पंचायतों की शक्तियां एवं कार्य इस प्रकार होते हैं-

- आंध्रप्रदेश, उत्तरप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र तथा पंजाब में जिला पंचायतें कार्यकारी कार्य (executive functions) करती हैं। ये कार्य पहले जिला किसान समिति, स्थानीय स्कूल बोर्डों एवं जिला विकास समीतियों द्वारा किये जाते थे।
- ये ग्राम पंचायतों में समन्वय स्थापित करने में सहायता करती हैं।
- ये निरीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण में सहायता करती हैं।
- ये ग्राम पंचायतों के लिये सलाहकारी सदस्य के रूप में कार्य करती हैं।
- ये घोषणात्मक एवं वर्गीकृत होती हैं।

पंचायतों में महिलाओं की भूमिका

सशक्तीकरण एक बहुआयामी सामाजिक प्रक्रिया है, जो कि लोगों को अपने स्वयं के जीवन में नियंत्रण स्थापित करने में सहायता करती है। यह वह प्रक्रिया है, जो लोगों को उनके स्वयं के जीवन, उनके समुदाय एवं उनके समाज में विभिन्न रूपों में कार्य करने

टिप्पणी

को प्रोत्साहित करती है। इन सभी के साथ यह कहा जा सकता है कि सशक्तीकरण निर्णयन के कार्य में सहभागिता है।

महिला सशक्तीकरण का अभिप्राय, उस प्रक्रिया से है, जिसमें महिलाओं को समाज में पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त होता है तथा वे विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के माध्यम से विकास की प्रक्रिया में अपना योगदान दे सकती हैं। महिला विकास (1985) से संबंधित दस्तावेज में कहा गया है कि राजनीतिक प्रक्रिया में महिलाओं की भूमिका स्वतंत्रता के उपरांत से ही अपरिवर्तित रही है। महिलाओं की वृहद आधारित राजनीतिक सहभागिता विभिन्न परंपरागत कारकों, जैसे-जाति, धर्म, सामंती मनोवृत्ति एवं पारिवारिक स्थिति की वजह से काफी सीमित रही है। इसके परिणामस्वरूप, राजनीतिक जीवन में महिलायें हाशिये पर रही हैं। इस अंधकारमय तस्वीर को देखते हुये 73वें संविधान संशोधन विधेयक ने उन्हें यह अधिकार प्रदान किया है कि वे राजनीतिक सहभागिता की ओर बढ़ें तथा स्थानीय स्तर पर निर्णयन की प्रक्रिया में प्रभावी भूमिका निभायें।

73वें संविधान संशोधन विधेयक, 1992 के परिप्रेक्ष्य में भारत में पंचायती राज संस्थानों की संरचना में गहन परिवर्तन हुए हैं। इसने देश की ग्रामीण स्थानीय स्वायत्तता को नया रूप प्रदान किया है। यह देखा गया है कि जब लोग निर्णय लेने की प्रक्रिया में सहभागी होते हैं तो कार्यान्वयन एवं आपूर्ति व्यवस्था काफी दुरस्त हो जाती है। राज्य सरकारों के पंचायती राज अधिनियमों में केंद्रीय अधिनियम के समान स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप प्रदर्शन किये गये हैं तथा पूरे देश के लगभग सभी राज्यों में आज स्थानीय स्वायत्त शासन काफी फल-फूल रहा है।

नीति विश्लेषण

73वें संविधान संशोधन विधेयक, 1992 द्वारा पंचायतों में महिलाओं के लिये एक-तिहाई स्थान आरक्षित करके सबसे निचले स्तर की राजनीतिक प्रक्रिया एवं निर्णयन में भाग लेने के नये अवसर उत्पन्न हुये हैं। 73वें संविधान संशोधन विधेयक, 1992 द्वारा पंचायतों में महिलाओं के लिये दो तरीकों से स्थान आरक्षित किये गये हैं-पहला, सदस्यों के रूप में तथा दूसरा, अध्यक्ष पद हेतु। अनुच्छेद 243(डी) की धारा (2) एवं (3) के अनुसार, पंचायतों के किसी भी स्तर पर प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रक्रिया में महिलाओं के लिये एक-तिहाई स्थानों से कम आरक्षित नहीं किये जायेंगे। इसके उपरांत अब तो देश के कई राज्यों ने पंचायतों में महिलाओं के लिये 50 प्रतिशत तक स्थान आरक्षित कर दिये हैं।

विभिन्न विद्वानों के मत

ओ.पी. बोहरा (1997) के अनुसार, 73वां संविधान संशोधन अधिनियम का लक्ष्य मुख्यतया शक्तियों का विकेंद्रीकरण करना है तथा इसके साथ ही यह लैंगिक असंतुलन को दूर करता है एवं स्थानीय स्तर पर भेदभाव को मिटाता है। वह महिलाओं को दिये गये आरक्षण को न्यायोचित सिद्ध करती है, जो कि नीति-निर्माताओं की वास्तविक मंशा है। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम का उद्देश्य मुख्यतया इस प्रकार है-

- न्याय, अभाव एवं उत्पीड़न के लिये साझा धारणा।
- सीमांतीकरण के लिये साझा धारणा, जैसा कि शक्ति संरचना में है।

- प्रतिनिधित्व एवं लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के माध्यम से सामूहिक सशक्तीरण, जिससे कि उन्हें अपनी आवाज उठाने, अपनी भावनाओं को व्यक्त करने तथा लोकतांत्रिक राजनीति में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है।

देवकी जैन (1994) ने अपने विश्लेषण में यह पाया कि 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में नीति निर्माताओं ने द्विस्तरीय आरक्षण की व्यवस्था की है। इनमें से पहला लोकतांत्रिक न्याय एवं दूसरा, संसाधन उपयोगीकरण (मानव) है। आगे वे कहती हैं कि जब देश में आधी जनसंख्या महिलाओं की है, तो ऐसी दशा में महिलाओं की पर्याप्त सहभागिता के बिना देश का विकास नहीं हो सकता है।

सिरिन राय (2000) यह तर्क देते हैं कि 73वें संविधान संशोधन अधिनियम ने लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया के द्वार खोल दिये हैं, जिनमें इन सभी संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होगी तथा यही हमारे देश के नीति निर्माताओं की वास्तविक मंशा थी।

इस संबंध में विद्युत मोहंती (2000) का मानना है कि यहां सशक्तीकरण से अभिप्राय आत्म-सहभागिता में परिवर्तन से है, जो कि ज्ञान के माध्यम से हो रहा है। वह स्पष्ट करती हैं कि आरक्षण मिलने से हमारे नीति निर्माताओं की यह मंशा जाहिर होती है कि वे न केवल यह चाहते थे कि चुने हुये सदस्यों की ज्यादा संख्या महिलाओं की हो, बल्कि वे यह भी चाहते थे कि उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता मिले तथा संसाधनों तक उनकी पहुंच ज्यादा हो। इसके साथ वे चाहते थे कि हमारे देश की महिलाओं की समाजार्थिक दशा में सुधार भी हो। हालांकि, डॉ. मोहंती ने सुझाव दिया है कि सशक्तीकरण के क्षेत्र में जो चरण उठाये गये हैं, वे सही दिशा में होने चाहिये।

पी. मनीकांबा (1989) का मानना है कि पंचायती राज व्यवस्था के निर्माताओं की इच्छा थी कि ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं न केवल विकास कार्यक्रमों का लाभधारक होना चाहिये बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि वे इसमें सहयोग भी करें। बलवंतराय मेहता समिति की सिफारिशों का विश्लेषण करते हुए वे कहती हैं कि मेहता समिति ने गहनतापूर्वक ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं पर विचार किया तथा यह माना कि उनकी आय में वृद्धि होनी चाहिये, जिससे कि वे अपने बच्चों का भरण-पोषण ज्यादा बेहतर ढंग से कर सकें। समिति ने विशेष रूप से यह माना कि महिलाओं को ग्रामीण राजनीतिक संस्थाओं में अवश्य आरक्षण मिलना चाहिये।

पंचायती राज्य व्यवस्था के प्रभाव

भारत में पंचायती राज की अवधारणा के निर्माण एवं अध्ययन को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, जिनके नाम हैं-सामान्य एवं अनुभवजन्य दृष्टिकोण। सामान्य दृष्टिकोण के समर्थक पंचायती राज की अवधारणा को अपने मत के अनुसार अपनी दृष्टि एवं आकांक्षाओं से देखते हैं। दूसरी ओर, अनुभवजन्य दृष्टिकोण के समर्थक पंचायती राज की अवधारणा के अध्ययन को अपनी रुचि के अनुसार देखते हैं तथा यह मानते हैं कि इसमें वास्तविक एवं आभासी में एक बड़ा अंतराल है।

वास्तव में, एक ऐसी अवस्था आ सकती है, जिसमें अनुभववादी पंचायती राज व्यवस्था के नये अवधारणात्मक मॉडल की अनुशंसा कर सकते हैं या किसी भी कीमत पर, यह याचना कर सकते हैं कि उभरती परिचालन प्रवृत्तियों के प्रकाश में आदर्श निर्माण के लिये फिर से उन्मुख हुआ जाये। यहां पर जो विचार किया गया है, वह भारतीय

परिदृश्य में अभी तक सामने नहीं आया है। हालांकि, इस दिशा में नवजात प्रवृत्तियों को पहले से ही ढूंढा जा सकता है तथा वह भी संभवत: सामान्य एवं अनुभवजन्य दृष्टिकोण रखने वाले दोनों प्रकार के विद्वानों के लिये लाभकारी होगा।

टिप्पणी

यहां तक कि पंचायती राज की सामान्य अवधारणात्मक छवि अभी भी निर्माण की प्रक्रिया में ही है। इन दोनों ही दृष्टिकोणों ने पंचायती राज की अवधारणा के क्रिस्टलीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हालांकि, उनका उपयोग आपसी सहमति पर निर्भर करता है, न कि उनकी अनन्यता (exclusiveness) पर। यह दोनों दृष्टिकोणों के समर्थकों द्वारा ईमानदारीपूर्वक किया गया प्रयास है, जो पंचायती राज व्यवस्था के लिये लाभदायक है। इन दोनों ही दृष्टिकोणों का सह-अस्तित्व है। इसी वजह से दोनों की एक साथ विद्यमानता भी है। इसका कारण यह है कि दोनों की चिंता का विषय भी समान है तथा दोनों ही एक-दूसरे को लाभ पहुंचाते हुये अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं।

पंचायती राज व्यवस्था के लिये आदर्श निर्माण, संस्थाओं एवं कार्यकर्ताओं दोनों के लिये एक आकांक्षात्मक स्तर की वकालत करता है। यह अपने प्रदर्शनों हेतु एक मूल्यांकनात्मक सुविधा उपलब्ध कराता है तथा साथ ही यह अपने कार्य के स्तर को सुधारने के लिये निरंतर योगदान देते हैं। वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि वे कितने आदर्श हैं। इस प्रकार, सामान्य दृष्टिकोण के समर्थक अनुभवजन्य समर्थकों को इस बात के लिये चेताते हैं कि अवास्तविक को वास्तविक बनाने के प्रलोभनों से दूर रहें, जबकि अनुभववादी, सामान्य दृष्टिकोण के समर्थकों से कहते हैं कि वे आदर्शवाद के धरातल पर रहें।

वैसे इसे प्रारंभ में ही पहचाना जाना चाहिये था। इसी वजह से, पंचायती राज व्यवस्था से संबंधित परियोजनाओं के लिये महत्वपूर्ण प्रयास किये जाने चाहिये। इसका कारण यह है कि ये प्रकृति में संश्लेषणात्मक होते हैं तथा इनका प्रयास सामान्य एवं अनुभवजन्य दृष्टिकोण दोनों के समर्थकों का संश्लेषण करना होता है। दूसरे शब्दों में, पंचायती राज की अवधारणा एक अलग परिचालन पूर्वाग्रह के साथ विकसित होनी चाहिये थी तथा इसकी जड़ें सामान्य एवं अनुभवजन्य दृष्टिकोण दोनों में निहित होनी चाहिये।

यहां कई महत्वपूर्ण अंतर भी हैं, विशेष रूप से प्रकृति की तुलना में ज्यादा महत्व दिये जाने को लेकर। यहां तक कि पंचायती राज की प्रमाणिक अवधारणा को लेकर भी। संभवत: इस दृष्टिकोण से सबसे ज्यादा प्रचलित पहलू यह है कि जो सर्वोदय प्रकार की है या संभवत: यह जयप्रकाश नारायण की अवधारणा के ज्यादा निकट है। वास्तव में भारत में जो पंचायती राज व्यवस्था है, वह गांधीवादी आदर्शों पर आधारित है तथा काफी हद तक यह आचार्य विनोवा भावे के दृष्टिकोण से भी साम्यता रखती है। इस दृष्टिकोण में जयप्रकाश नारायण सबसे उत्साहित, सुसंगत और व्यवस्थित प्रवक्ता हैं, जो पूर्व समाजवादी नेता भी हैं।

यहां इस दृष्टिकोण से संबंधित कुछ विचार भी हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है-

- पहला, यह इस अनुमान पर आधारित है कि भारत के लिये सरकार की संसदीय व्यवस्था अनुपयुक्त है।

टिप्पणी

- दूसरा, जयप्रकाश नारायण के दृष्टिकोण में विशुद्ध रूप से स्पष्ट रूप से पुनरुद्धारवादी तनाव पाया जाता है, जिसमें कहा गया है कि भारतीय राजनीति का पुनर्निमाण किया जाना चाहिये।
- तीसरा, वर्तमान के संसदीय मॉडल के विकल्प के रूप में सांप्रदायिक लोकतंत्र का जो मॉडल प्रस्तावित किया गया है, वह स्थानीय स्वशासन का मात्र संरचनात्मक मॉडल नहीं है। वास्तव में यह संपूर्णता में भारतीय राजनीति के लिये संरचनात्मक मॉडल है, जो कि अपने आधार से ऊपर की ओर तब तक उठता है, जब तक कि एक राजनीति उल्टे पिरामिड के आकार में नया रूप धारण नहीं कर लेती है।
- चौथा, उल्टे पिरामिड के आकार में पंचायतों की नयी लोकप्रिय संरचना होती है। यह इन अर्थों में कि यह प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों का निकाय है तथा यह पिरामिड की अन्य संस्थाओं के लिये आधार का काम करती है, जो कि विभिन्न मतदातागणों की अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति पर आधारित होते हैं।
- पांचवां, पंचायतें ग्राम सभा के प्रति उत्तरदायी होती हैं, जो कि निचले स्तर पर गांवों की एक सार्वभौम सभा है। यहां पहले, जिस प्रकार के सांप्रदायिक लोकतंत्र की चर्चा की गयी थी, वह दलविहीन लोकतंत्र का उदाहरण है तथा जिसका जोर मुख्यतया सर्वसम्मति एवं आम सहमति पर होता है।
- इस संदर्भ में पंचायती राज का संबंध पुनर्गठित भारतीय राजनीति से है, जिसका विश्लेषण निम्न बिंदुओं के अंतर्गत किया जा सकता है
  - ग्रामसभा की सार्वभौम प्रकृति।
  - पंचायती राज व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह भारतीय राजनीति के पिरामिड आकार की संरचना का सबसे संवेदनशील आधार है।
  - पंचायतों का स्वायत्त, आत्म-पर्यन्त तथा स्वालंबन चरित्र।
  - पंचायतों की ग्रामसभा के प्रति उत्तरदायित्वता।
  - पंचायत के चुनावों का दलविहीन एवं राजनीतिविहीन चरित्र।

पंचायती राज व्यवस्था के दूसरे सामान्य दृष्टिकोण को स्थानीय सरकार की मान्यता दी जा सकती है, वह इन अर्थों में कि पंचायती राज संस्थायें, ग्रामीण स्थानीय शासन का सबसे प्रमुख आधार हैं। यह दृष्टिकोण प्राकृतिक रूप से इस बात पर बल देता है कि गांव के लोगों को स्थानीय कार्यों का संचालन एवं निरीक्षण स्वयं करना चाहिये। यह प्रमुखतया नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्माण, उनके क्रियान्वयन, स्वायत्तता, नियंत्रण, संसाधनों के आवंटन एवं निरीक्षण के रूप में होता है। हालांकि, पंचायतें इन शक्तियों का प्रयोग सीमित रूप से कर सकती हैं क्योंकि इनके संबंध में विधान बनाने की शक्तियां मुख्यतया राज्य सरकारों के हाथों में होती हैं।

इस दृष्टिकोण के समर्थकों के पक्ष में निम्न बिंदुओं की चर्चा की गयी है-

- पंचायती राज संस्थाओं के स्वायत्त चरित्र को बनाये रखने पर अत्यधिक जोर दिया गया है। इसी वजह से ग्राम स्तर पर प्रशासन के संचालन हेतु कई प्रकार की शक्तियां प्रदान की गयी हैं लेकिन इस संबंध में ऊपर के प्रभावी नियंत्रण से भी इंकार नहीं किया जा सकता है।

टिप्पणी

- पंचायती राज संस्थाओं का कार्यपालक क्षेत्राधिकार केवल परंपरागत लोक कार्यों तथा नये विकास कार्यक्रमों तक ही सीमित नहीं है। कुछ लोग इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि राजस्व प्रशासन पर अधिकार तथा संभवतः कानून एवं व्यवस्था के संचालन का अधिकार होने की वजह से इन संस्थाओं का क्षेत्राधिकार काफी विस्तृत हो जाता है।

दूसरे दृष्टिकोण के विपरीत, जिसे नौकरशाही दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है, जो कि कुल मिलाकर मुख्यतया लोक सेवकों के हाथों में होता है। ये लोकसेवक स्थायिक एवं नियम-निर्माण स्तर पर काफी प्रभावी होते हैं। इस दृष्टिकोण के पीछे यह भ्रांतिपूर्ण अवधारणा निहित होती है कि गांव के लोग मुख्यतया अशिक्षित होते हैं तथा उनमें इन संस्थाओं की समझ कम होती है। इसी वजह से ये लोग इनका संचालन अच्छे से नहीं कर पाते हैं।

इस प्रकार, पंचायती राज संस्थाओं के स्व-प्रबंधकीय पहलू पर थोड़ा बल दिया जाता है तथा प्रतिनिधिमंडल की भावना में लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया से संपर्क किया जाता है। जहां तक पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका का संबंध है, इस संदर्भ में दो चरों का विश्लेषण किया गया है-इनमें से एक अतिवादी प्रकृति का तथा दूसरा मध्यम प्रकृति का। अतिवादी चाहते हैं कि पंचायती राज संस्थाओं को आवश्यक रूप से एक अधिकरण की भूमिका निभानी चाहिये, जबकि दूसरी ओर मध्यम पक्ष के लोग यह चाहते हैं कि पंचायती राज संस्थाओं को आवश्यक शक्तियां एवं उत्तरदायित्व दिये जाएं लेकिन इनके लिये पर्याप्त सुरक्षा उपाय भी होने चाहिये।

अंततः प्रासंगिक एवं विकास का दृष्टिकोण यह कहता है कि पंचायती राज का प्रासंगिक पूववर्ती दृष्टिकोण यह निर्धारित करता है कि इसकी अवधारणात्मक तस्वीर, प्रकृति एवं भूमिका में काफी व्यापकता है।

बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों में इसके पूर्ववर्ती दृष्टिकोण की व्याख्या इस प्रकार की गयी थी-

- इसमें कहा गया है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम लोगों को आत्म-निर्भर बनाने की दिशा में असफल रहा है तथा ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों में लोगों की सहभागिता स्वैच्छिक एवं सीमित रही है।
- इसने सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता में भी योगदान दिया है। इसने यह आाभास कराया कि यह कार्यक्रम अपने मूल उद्देश्य को पूरा करने में असफल रहा है।
- इन कमियों को तभी पूरा किया जा सकता है, जब सामुदायिक विकास कार्यक्रम को उसके प्रशासन का दायित्व सौंप दिया जाये। इसे यह छूट होनी चाहिये कि स्थानीय स्तर के शासन का संचालन वह स्वयं करे तथा तथा इसमें प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुये प्रतिनिधि होने चाहिये। वास्तव में, यह दृष्टिकोण स्थानीय शासन के अनुरूप होना चाहिये लेकिन इसे विशिष्ट विकास अभिविन्यासयुक्त भी होना चाहिये।
- यह एक विस्तृत अवधारणा है, जिसमें लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के सिद्धांत का विकास बलवंतराय मेहता समिति ने विशिष्ट रूप से ग्रामीण विकास के संदर्भ में

किया। जब इसकी पृष्ठभूमि पर नजर डाली जाती है तो पंचायती राज की अवधारणात्मक छवि को हम दो अवधारणाओं पर आधारित पाते हैं:

- पंचायती राज की व्यवस्था अपने उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों दोनों में सामुदायिक विकास का विस्तार प्रतीत होता है।
- पंचायती राज संस्थानों को एक शक्ति कार्यप्रणाली (power mechanism) के स्थान पर विकास कार्यप्रणाली (development mechanism) के रूप में कार्य करना चाहिये।

इन दृष्टिकोणों के आधार पर यह देखा गया है कि ये दृष्टिकोण स्वतंत्र और वैचारिक रूप से स्थानीय स्तर के शासन का स्थानीय लोगों द्वारा ही संचालित किये जाने का समर्थन करते हैं।

अब हम यहां पर पंचायती राज की अवधारणा को अनुभवजन्य दृष्टिकोण से देखते हैं। प्रारंभ में, यह आवश्यक है कि इसे मान्यता दी जाये। पहले स्थान पर, इस विषय पर अनुभवजन्य आंकड़ों की कमी है। सामान्यतया पंचायती राज के संबंध में केवल कुछ ही क्षेत्र शोध (field researches) किये गये हैं। इसके आगे, कई राज्यों में पंचायती राज संस्थायें मात्र पांच या छह वर्ष पुरानी हैं तथा कुछ अन्य राज्यों में बिल्कुल नयी हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि ऐसे राज्यों मे इनकी संकल्पनात्मक रूप को परिचालित करने की अवधि बहुत कम रही है।

अंतत: पंचायती राज के सांस्थानिक प्रतिरूप में जो भिन्नता है, वह या तो क्षेत्रीय स्तर की है या राष्ट्रीय स्तर की। इसके कार्य का सांस्थानीकरण हो जाता है। इसके साथ ही इन दृष्टिकोणों का परीक्षण किया जाना भी आवश्यक है। इस प्रकार, अनुभवजन्य आंकड़ों के आधार पर इन संस्थाओं का सामान्यीकरण करना काफी घातक हो जाता है।

इन सीमाओं के उपरांत भी कुछ निश्चित रुझान (trends) ऐसे होते हैं, जो कि पंचायती राज की अवधारणा के लिये प्रासंगिक हैं तथा इनकी पहचान संकल्पनात्मक आधार पर की जा सकती है।

यहां पंचायती राज के तीन प्रकार के रूपों को देखा जा सकता है, जिनकी व्याख्या संभवत: बेहतर नामांकन के लिये राजनीतिक, सार्वजनिक एवं स्थैतिक रूपों के तौर पर की जा सकती है। राजनीतिक रूप में इसमें जिम्मेदार नेता एवं अधिकारी होते हैं, जो कि प्रभावी भाषण, कथन एवं लेखन करने में सक्षम होते हैं। इस रूप का सबसे प्रमुख बिंदु यह है कि स्थानीय मामलों का प्रबंधन आवश्यक रूप से ग्रामीण स्थानीय शासन द्वारा किया जाना चाहिये। इनकी सार्वजनिक छवि में ग्रामीण जन समुदाय (जो शिक्षित न होने तथा नरम मनोविज्ञानी होने के उपरांत भी अपनी आवश्यकताओं तथा अपेक्षाओं से भली-भांति परिचित होता है) स्वयं के लिये झिझककर एवं अनिश्चितता के साथ नीतियां बनाता है लेकिन युवा समुदाय के लिये सकारात्मक अगवर्ती सोच रखता है। इनके लिये पंचायती राज न केवल समस्याओं के समाधान का तरीका है बल्कि यह स्थानीय शासन के प्रभावी संचालन एवं राजस्व के माध्यम से विकास करने वाला एक सशक्त उपकरण भी है। इसी वजह से, वे पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास के संबंधों से भली-भांति परिचित होते हैं। इसके साथ ही वे पंचायती राज को विकास कार्यप्रणाली का प्रमुख आधार भी मानते हैं।

अंततः नौकरशाहों के दृष्टिकोण में पंचायती राज स्थानीय स्तर मंत्रीस्तरीय नेतृत्व है, जो नियम बनाने वाले लोगों के समूह से मिलकर बना होता है। अंततः यह नियम एवं कानून बनाने वाले खेतिहर समुदाय के लोगों से मिलकर बना होता है। कुल मिलाकर, इस छवि में मुख्तया तीन बिंदु होते हैं- पंचायती राज संस्थाओं का प्रभावी निर्देशन, अधिकरण के रूप में उनकी भूमिका तथा स्वयं की आवश्यकतायें तथा स्थानीय ग्रामीण समुदाय के लोगों के हितों की रक्षा, जिससे कि लोगों के प्रतिनिधि ग्रामीण स्तर पर अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करें। यहां मुख्य जोर ताकत के प्रयोग की जगह सेवा प्रदान करने एवं विकास पर होता है।

पंचायती राज के संदर्भ में इन तीनों संचालनात्मक छवियों के विवरण पंचायती राज के कार्यपालन संदर्भ के रूप में अपवर्तीय अवरोध के रूप में नहीं देखा जाना चाहिये।

पंचायती राज का सांस्थानिक मॉडल

पंचायती राज के सांस्थानिक मॉडल में एक वैचारिक छवि को व्यवस्थित करने के लिये संभव बताया गया है। इसके अनुसार, कम से कम भाग में अलग-अलग दृष्टिकोणों को मिलाकर काम किया जा सकता है तथा अनुभवजन्य दृष्टिकोण, जिसका इस विश्लेषण के दौरान अनुभव किया गया है। पंचायती राज को त्रिआयामी घटना के रूप में देखा जा सकता है-

- आधुनिकीकरण,
- लोकतंत्रीकरण, एवं
- राजनीतिकरण।

वास्तव में पंचायती राज व्यवस्था का मूल उद्देश्य इन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करना है। वैसे तो इनको पृथक-पृथक रूप से पाया जाता है लेकिन सम्मिलित रूप से भी इनकी प्राप्ति असंभव नहीं है। हालांकि, जहां इन तीनों लक्ष्यों को एक संपूर्ण अवधारणा के रूप में देखा जाता है, थोड़े संतुलित संश्लेषणात्मक उभार में ये तीनों एक तंत्र में एक-दूसरे से आबद्ध होते हैं तथा आपस में निरंतर इनका संपर्क बना रहता है। इसी वजह से, एक उचित उपागम में, पंचायती राज की एक समन्वित संकल्पनात्मक छवि को विकसित करने में इसका उपयोग होता है तथा इसका मूल अभिप्राय विकासात्मक आभासीकरण है। जब इसे इस तरीके से देखा जाता है तो पंचायती राज की अवधारणा एक संदर्भ के रूप में सामने उभरकर आती है। इसी समय यह स्थानीय प्रशासन का एक तंत्र है तथा ग्रामीण कार्यप्रणाली का एक तरीका होने के साथ ही ग्रामीण विकास का सबसे सशक्त माध्यम भी है। इसी के साथ यह व्यवस्था राज्य सरकार की विशिष्ट गतिविधियों का एक अवकरण भी है, जिसमें प्रत्येक आयाम न केवल साधारण आपूर्तिकता है बल्कि एक एकीकृत तंत्र का अभिन्न अंग भी है। यह तंत्र संपूर्णता की एकता का संचालन एवं सशक्तीकारक भी है।

निष्कर्षतया, कुछ अति महत्वपूर्ण मुद्दों पर कुछ ज्यादा संदर्भ दिये गये हैं, जो कि पंचायती राज व्यवस्था के सांस्थानिक मॉडल का निर्माण करने में सहायता पहुंचाते हैं। एक आधारभूत प्रश्न जो अक्सर पूछा जाता है वह यह है कि क्या पंचायती राज के सांस्थानिक मॉडल को पूरे देश में एक जैसा लागू किया जा सकता है या फिर अलग-अलग राज्यों में इसमें कुछ परिवर्तन करना होगा?

यहां यह भी आवश्यक है कि पंचायती राज को उसकी संपूर्णता में लागू किया जाये तथा इसे एक एकीकृत अवधारणा के रूप में देखा, या फिर इसका क्रिस्टलीकरण किया जाये।

अपनी प्रगति जांचिए

3. संविधान के किस अनुच्छेद के अंतर्गत पंचायती राज व्यवस्था को राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों में रखा गया है?

   (क) अनुच्छेद 35 (ख) अनुच्छेद 40

   (ग) अनुच्छेद 45 (घ) अनुच्छेद 50

4. पंचायती राज व्यवस्था पूरे देश में कब लागू की गई?

   (क) 24 अप्रैल 1991 (ख) 20 अप्रैल 1992

   (ग) 24 अप्रैल 1993 (घ) 26 अप्रैल 1994

5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ख)
4. (ग)

5.5 सारांश

भारतीय राजनीति के अध्ययन में कोई निश्चित सीमागत उपागम नहीं है। इसके अलावा परिमाण के संबंध में ब्रिटिश एवं अमेरिकी शोधकर्ताओं ने इस पर ज्यादा कार्य किया है। रुचि के दोनों क्षेत्रों के संबंध में तथा प्राविधियों के संबंध में भारतीय राजनीति के बारे में ब्रिटिश एवं अमेरिकी शोधकर्ताओं में काफी अंतर देखा गया है।

अमेरिकी शोधकर्ताओं की भारतीय राजनीति के संबंध में जागृत होने वाली रुचि स्वयंमेव थी। उनकी रुचि के क्षेत्र विशेष रूप से राजनीतिक आधुनिकीकरण की स्थिति एवं तुलनात्मक अध्ययन, राजनीतिक विकास, राजनीतिक समाजीकरण तथा राजनीतिक संस्कृति इत्यादि थे। प्रमुख अमेरिकी शोधकर्ताओं में जैसे कि डब्ल्यू. डब्ल्यू. रोस्टोव, एंड्रयू गंडर फ्रैंक एवं सैमुअल हनिंगटन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी बीच, कुछ ब्रिटिश शिक्षाविदों का झुकाव भी भारतीय राजनीति की ओर हुआ तथा उन्होंने ब्रिटिश शासन के समय लोगों पर भारतीय राजनीति के सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थागत प्रभावों का अध्ययन किया।

यह अवधारणा या दृष्टिकोण राज्यों के औपचारिक, संवैधानिक एवं विधिक प्रतिरूप पर बल देता है। पूरे देश के लिये एक एकल एवं लिखित संविधान, देश के सभी राज्यों को एक शरीर के अंगों की तरह व्यवहृत करता है तथा केंद्र के साथ ही राज्यों के स्तर पर भी एकरूपता स्थापित करता है।

टिप्पणी

लोकतंत्रिक राजनीति का यह स्वभाव रहा है कि वह जाति एवं वर्ग के अंतरों को उजागर करे तथा चुनावों में राजनीतिक सहभागिता को बढ़ाये। यह सभी सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार पर ही निर्भर होता है। प्रशासन की प्रक्रिया में जनता की सहभागिता लोकतंत्र का एक आभूषण माना जाता है।

लोकतंत्रिक राजनीति का यह स्वभाव रहा है कि वह जाति एवं वर्ग के अंतरों को उजागर करे तथा चुनावों में राजनीतिक सहभागिता को बढ़ाये। यह सभी सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार पर ही निर्भर होता है। प्रशासन की प्रक्रिया में जनता की सहभागिता लोकतंत्र का एक आभूषण माना जाता है।

भारत का संविधान, देश में सरकार के लिये संसदीय के साथ ही संघीय विशेषताओं वाली व्यवस्था का उपबंध करता है। हालांकि, संसदीय विशेषताओं वाले संविधान के लागू होने के इतने वर्षों बाद भी केंद्र में निरंतर कांग्रेस की एकदलीय सरकार रहने के कारण प्रायोगिक रूप में संघीय शक्तियां ही प्रभावी रही हैं।

पंचायतें वे महत्वपूर्ण संस्थान हैं, जिनके माध्यम से भारत जैसे विशाल और विविधताओं वाले देश में प्रशासन आम लोगों तक पहुंचता है तथा स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय लोगों के स्थानीय अधिकार द्वारा ही की जाती है। यही सच्चे लोकतंत्र और पंचायती राज का सारतत्व है। शाब्दिक दृष्टि से पंचायती राज शब्द हिन्दी भाषा के दो शब्दों पंचायत और राज से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है- पांच जनप्रतिनिधियों के समूह का शासन।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की जांच के लिए केन्द्र सरकार ने 1957 में बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल का गठन किया। इस दल ने 1957 के अन्त में अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि लोकतांत्रिक विक्रेन्द्रीयकरण और सामुदायिक कार्यक्रम को सफल बनाने हेतु पंचायती राज्य संस्थाओं को अविलंब शुरुआत की जानी चाहिए। अध्ययन दल ने इसे लोकतांत्रिक विक्रेन्द्रीयकरण का नाम दिया।

पंचायती राज व्यवस्था के लिये आदर्श निर्माण, संस्थाओं एवं कार्यकर्ताओं दोनों के लिये एक आकांक्षात्मक स्तर की वकालत करता है। यह अपने प्रदर्शनों हेतु एक मूल्यांकनात्मक सुविधा उपलब्ध कराता है तथा साथ ही यह अपने कार्य के स्तर को सुधारने के लिये निरंतर योगदान देते हैं।

पंचायती राज संस्थाओं के स्वायत्त चरित्र को बनाये रखने पर अत्यधिक जोर दिया गया है। इसी वजह से ग्राम स्तर पर प्रशासन के संचालन हेतु कई प्रकार की शक्तियां प्रदान की गयी हैं लेकिन इस संबंध में ऊपर के प्रभावी नियंत्रण से भी इंकार नहीं किया जा सकता है।

पंचायती राज व्यवस्था का मूल उद्देश्य इन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करना है। वैसे तो इनको पृथक-पृथक रूप से पाया जाता है लेकिन सम्मिलित रूप से भी इनकी प्राप्ति असंभव नहीं है। हालांकि, जहां इन तीनों लक्ष्यों को एक संपूर्ण अवधारणा के रूप में देखा जाता है, थोड़े संतुलित संश्लेषणात्मक उभार में ये तीनों एक तंत्र में एक-दूसरे से आबद्ध होते हैं तथा आपस में निरंतर इनका संपर्क बना रहता है।

5.6 मुख्य शब्दावली

- **राजनीति :** शासन की एक इकाई। यह लोगों का एक समूह है, जो कि सामूहिक रूप से आत्म-प्रतिबिंबित शक्तियों, जैसे-पहचान, जिसके पास संसाधनों को पहचानने की क्षमता हो आदि के द्वारा एकजुट होते हैं तथा वे सांस्थानिक पदानुक्रम के कुछ प्रकारों के आधार पर संगठित होते हैं।
- **गठबंधन :** एक प्रकार का समझौता या संधि, जो लोग, लोगों के समूह के बीच संपन्न होता है। इस अवधि में वे संयुक्त प्रयासों द्वारा एक-दूसरे को सहयोग करते हैं। इसमें सभी के अपने-अपने हित होते हैं तथा विभिन्न बलों द्वारा वे आपस में एक सामान्य उद्देश्य या लक्ष्य के लिये एक हो जाते हैं। गठबंधन अस्थायी या स्थायी किसी भी प्रकृति का हो सकता है।
- **सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार :** मानसिक रूप से सभी स्वस्थ्य लोगों को मत देने का अधिकार। इसमें जाति, लिंग, धर्म, स्थान, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता है।
- **अधिकार क्षेत्र :** इसे उस आधिकारिक शक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसकी सहायता से विधिक निर्णय लिये जाते हैं।
- **विकेंद्रीकरण :** यह एक प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें जनसंख्या एवं उद्योगों का प्रसार शहरी क्षेत्रों से छोटे जिलों या क्षेत्रों की ओर होता है।
- **मांग :** इसे उस आधिकारिक आदेश के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें किसी संपत्ति या पदार्थ का उपयोग करने का तथ्य निहित होता है।

5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राजनीति के अध्ययन के संबंध में सबसे पहला संगठित प्रयास कब और कहां किया गया?
2. लोकतंत्रीकरण से क्या अभिप्राय है?
3. राज्य सक्षमता सिद्धांत से आप क्या समझते हैं?
4. न्याय पंचायत के महत्व को संक्षेप में बताइए।
5. जिला पंचायत के प्रमुख कार्य बताइए।
6. सामान्य दृष्टिकोण एवं अनुभवजन्य दृष्टिकोण में अंतर स्पष्ट कीजिए।
7. पंचायती राज अवधारणा से संबंधित विभिन्न पहलू कौन से हैं?

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में राज्य की राजनीति के अध्ययन में अमेरिकी एवं ब्रिटिश शोधकर्ताओं का क्या योगदान रहा है?

2. भारत में राज्य की राजनीति के अध्ययन में उपयोग लायी जाने वाली प्रमुख अवधारणाएं कौन–सी हैं?
3. भारत में राज्यों की राजनीति के अध्ययन में उपयोग में लायी जाने वाले प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा कीजिए।
4. पंचायतों में महिलाओं की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
5. भारत में पंचायती राज व्यवस्था से संबंधित विभिन्न उपागमों का उल्लेख कीजिए।
6. पंचायती राज व्यवस्था के संदर्भ में जयप्रकाश नारायण की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।

5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जी. ऑस्टीन, *वर्किंग ऑफ ए डेमोक्रेटिक कान्स्टीट्यूशन : द इंडियन एक्सपीरियंस, दिल्ली,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 2000.
2. डी.डी. बसु, *एन इंटरोडक्शन टू द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया,* नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल, 1994.
3. डी.डी बसु एंड बी पारेख (एजूकेशन) *क्राइसिस एंड चेंज इन कन्टेमप्ररेरी इंडिया,* नई दिल्ली, सागा, 1994.
4. सी.पी. भाम्बरी, *द इंडियन स्टेट : फिस्टी इयर्स,* नई दिल्ली, शिप्रा 1997.
5. पी. ब्रास, *पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिन्स इंडिपेंडेंस, हैदराबाद,* ओरियंट लौंगमैन, 1990.
6. एस. कोर्ब्रिज एंड जे. हैरिस, *रिइंवेंटिंग इंडिया : लीबरेलजाइशन, हिंदू नेशनल्जिम एंड पापुलर डेमोक्रेसी,* दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2001.
7. एन.जी. जायल (एजुकेशन) *डेमोक्रेसी इन इंडिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस 2011.
8. एस. कौशी (एजुकेशन) इंडियन गवर्मेंट एंड पॉलिटिक्स दिल्ली यूनिवर्सिटी, डायरेक्टरेट ऑफ इंप्लिमेंटेशन, 1990.
9. ए. कोहली, *डेमोक्रेसी एंड डिस्कटेंट : इंडियाज ग्रोइंग क्राइसिस ऑफ गोवर्नएबिलिटी कैम्ब्रिज,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस 1991.